हिन्दू भारत

रतिभानु सिंह नाहर

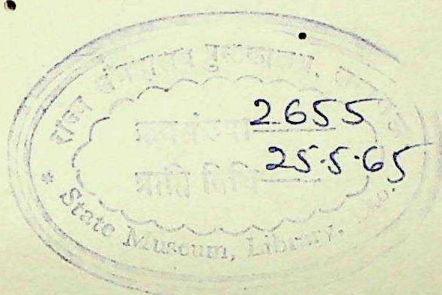


किताब महल प्रकाशन

मूल्य ३·५०

हिन्दू भारत

रतिभानु सिंह 'नाहर', एम० ए०



किताब महल, इलाहाबाद
१९६०

मूल्य ३'००

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद ।
मुद्रक—महावीर प्रसाद, प्रेम प्रेस, कटरा, प्रयाग ।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'हिन्दू भारत' हम एक नूतन आवरण में प्रकट कर रहे हैं। पुस्तक में यथास्थान संशोधन एवं परिवर्धन कर हमने ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि करने का प्रयास किया है। छात्रों की अनिवार्यताओं का पग-पग पर ध्यान रखा गया है। आशा है कि छात्रों की ओर से भी हमारे इस साहसिक पग का स्वागत किया जायगा।

लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

भारत भूमि और उसके निवासी

इतिहास और भूगोल के घनिष्ट सम्बन्ध को आज सभी विद्वान् मानते हैं। इतिहास से हमें मानव की विगत कृतियों का ज्ञान प्राप्त होता है। मानव की कृतियाँ उसके प्राकृतिक वातावरण की प्रतिक्रिया स्वरूप ही उत्पन्न होती हैं। प्राकृतिक परिस्थिति के अनुसार ही किसी देश के निवासियों का रहन-सहन, विचारधारा, सामाजिक संगठन तथा राजनीतिक संगठन का विकास होता है। भारतवर्ष के इतिहास पर भी यहाँ की प्राकृतिक परिस्थिति की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

भौगोलिक परिस्थिति

भौगोलिक दृष्टिकोण से भारत एक विचित्र देश है। यहाँ हर प्रकार की जलवायु तथा भूभाग मिलता है। एशिया के दक्षिण में स्थित यह एक महान देश है जिसे यदि हम महाद्वीप भी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस विशाल देश का क्षेत्रफल लगभग १८ लाख वर्गमील है और यूरोप से रूस का भाग निकाल देने से भारत उसके क्षेत्रफल के समान होता है। उत्तर से दक्षिण तक यह २००० मील और पूरब से पश्चिम २५०० मील फैला है। इस देश को हम प्राकृतिक दृष्टिकोण से तीन मुख्य भागों में बाँट सकते हैं। वे भाग इस प्रकार हैं: (१) उत्तर की पर्वतमाला, (२) उत्तर का समतल मैदान, (३) दक्षिण का पठार।

(१) **उत्तर की पर्वतमाला**—भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पर्वतमाला स्थित है जो भारत को तिब्बत से पृथक करती है। स पर्वतमाला में पृथ्वी के सबसे ऊँचे पर्वत-शिखर स्थित हैं। मुख्य शिखर इस प्रकार है। गौरीशंकर (एवरेस्ट), कंचनजंघा, धौलागिरि, नांगापर्वत तथा नन्दादेवी। हिमालय पर्वत के पश्चिम में, पामीर पठार से दक्षिण-पश्चिम की ओर हिन्दूकुश पर्वत फैला है जिसके दक्षिण में स्थित अफगानिस्तान आदि काल में भारत का ही एक अंग था। हिन्दूकुश के दक्षिण की ओर सफेदकोह, सुलेमान तथा किरथर पर्वत हैं जो भारत को इरानी पठार से पृथक करते हैं।

हिमालय की पूर्वी शाखायें पटकोई, नागापहाड़ी, खासी, गारो जैयन्ती तथा लूशाई यद्यपि बहुत ऊँचे नहीं हैं परन्तु घने वन तथा गहरे खड्ड के कारण मनुष्य के यातायात के लिये बाधक सिद्ध हो चुके हैं। इस प्रदेश की कठिनाइयों को द्वितीय विश्व युद्ध के विमान चालकों ने भी मान लिया है और इसे पार करने में कितने ही वायुयान तथा प्राण नष्ट हो चुके हैं।

यद्यपि हिमालय पर्वत तथा इसकी पूर्वी और पश्चिमी शाखायें भारत के उत्तर में एक दीवार-सी खड़ी है, परन्तु पश्चिमी शाखा में कुछ ऐसी घाटियाँ हैं जो मनुष्य के यातायात को सम्पूर्ण रूप से रोकने में असमर्थ सिद्ध हुई हैं। इन घाटियों में खैबर, गोमल, कर्रम, बोलन, टोची आदि प्रसिद्ध हैं। ये घाटियाँ भारत के एक प्रकार

से प्रवेश-द्वार हैं और इन्हीं में से होकर आर्य, यूनानी, ईरानी, कुशाण, हूण, पठान, तुर्क तथा मंगोल आदि जातियों ने भारत पर आक्रमण किये हैं।

हिमालय पर्वत की गोद में काश्मीर की घाटी झेलम के आसपास भारत का एक अनुपम सुन्दर अंग है। इस देश की प्राकृतिक सुन्दरता से ही प्रभावित होकर सम्राट् जहाँगीर ने इसे पृथ्वी पर स्वर्ग कहा था। काश्मीर के पश्चात् नैपाल की समतल घाटी भी अपना प्रतीक भारत के इतिहास तथा विश्व के इतिहास में सदा के लिये छोड़ गया है। इसी देश के गणराज्यों के शाक्य कुल में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था जिन्होंने आने वाली मानव जाति को शान्ति तथा प्रेम का संदेश सदा के लिये दिया।

हिमालय पर्वत केवल एक सचेत प्रहरी का ही कार्य नहीं करता वरन् बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर से उठी हुई मेघ-राशि को रोक कर भारत के उत्तरी भू-भाग में जलवर्षा भी कराता है। इसके सदैव हिमवत गिरि-शिखरों से ही उत्तरी भारत की नदियाँ अपना जल ग्रहण करती हैं। इस प्रकार हिमालय पर्वत भारत को प्राणदान भी करता है। जिस गिरि-मेखला से भारत भूमि को इतना लाभ हो उसके गुण-गान में जितने भी काव्य रचे जायें थोड़े हैं।

(२) **उत्तर के समतल मैदान**—विश्व की सबसे उर्वर समतल भूमियों में से एक भारत के उत्तर का समतल मैदान भी एक है। यह मैदान सिन्ध, गंगा तथा ब्रह्म-पुत्र नदियों की सम्मिलित घाटी हैं। यह तीनों नदियाँ हिमालय पर्वत से निकलने के कारण सदैव जल से परिपूर्ण रहती हैं और सिचाई के काम में अत्यन्त सहायक हैं। नदियों की लाई हुई मिट्टी की सतह बहुत ही उपजाऊ है। यही कारण है कि भारत का यह भाग इतिहास में सोने की चिड़िया के नाम से प्रसिद्ध है। यह मैदान एक त्रिभुजाकार है जो पूरब में संकीर्ण होता चला गया है। इसका पश्चिमी भाग सिन्धु नदी तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा सींचा जाता है। आर्य इस प्रदेश में ही आये और इसे सप्तसिन्ध के नाम से सम्बोधित किया। ऋगवैदिक काल यें आर्य सप्तसिन्धु से आगे नहीं बढ़े थे।

गंगा और यमुना की उर्वर भूमि को आर्यावर्त के नाम से सम्बोधित किया गया है। भारत में राज्यसत्ता का विकास इसी भूभाग में हुआ था। नदियाँ समतल भूमि में धीमी चाल से बहती हैं और ये नदियाँ यातायात के जल-मार्ग सुगमता से बन जाती हैं। इन नदियों के किनारे प्राचीन काल में व्यापारिक केन्द्र तथा मुख्य-मुख्य नगर बस गये और ये नगर अपने राज्य के राजधानी भी बन गये। पाटलिपुत्र जो भारत साम्राज्य की प्रथम राजधानी है गंगा के किनारे ही बसा हुआ है। काशी सदा से पवित्र स्थान तथा विद्या का केन्द्र रहा है, प्रयाग गंगा और यमुना के संगम पर स्थित राजनैतिक तथा धार्मिक केन्द्र रहा है।

मथुरा तथा दिल्ली यमुना पर पूर्व मध्य काल से ही अपना महत्व स्थापित किये हुए हैं। दिल्ली के पास इन्द्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर महाभारत काल से विख्यात है। उत्तर के इस मैदान में ही कुरुक्षेत्र तथा पानीपत और तरावड़ी का तराइन का प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र है जहाँ भारत के ऐतिहासिक प्रवाह को मोड़ने वाले भयानक युद्ध लड़े गए। भारत का सबसे समृद्धशाली भाग होने के कारण इसी भाग पर सदैव आक्रमण होते रहे हैं। महान राजनैतिक क्रांतियाँ, राज्यों का उत्थान और पतन, बौद्ध, जैन, तथा ब्राह्मण धर्मों का जन्म तथा प्रचार, साहित्य, दर्शन, काव्य तथा कला इत्यादि का उत्कर्ष भारत के इसी भाग में हुआ।

उत्तरी मैदान के पश्चिमी भाग का प्रदेश यद्यपि स्वास्थ्यकर है परन्तु भूमि उपजाऊ होते हुए भी लोगों को उदरपूर्ति के लिये काफी परिश्रम करना पड़ता रहा है। वीर और साहसी तो ये प्रकृति से संघर्ष करते रहने के कारण ही बन गये। परन्तु उत्तर-पश्चिम से सदा आक्रमण होते रहने के कारण ये कभी भी शान्तिपूर्वक नहीं रह सके। यह भूभाग भारत का जाग्रत प्रहरी-सा सदा ही सचेत रहा है। यद्यपि यहीं पर सिन्धुघाटी की सभ्यता का विकास हुआ था परन्तु आर्यों के आने के पश्चात् से सदा आतंक तथा राजनैतिक उथल-पुथल के कारण यहाँ सांस्कृतिक वृद्धि अधिक न हो सकी।

उत्तरी मैदान के दक्षिण-पश्चिम से राजपूताना का मरुस्थल है जो दो भागों में अरावली की पहाड़ी द्वारा विभाजित है। पूर्वी भाग कुछ उपजाऊ है और यहाँ के राजपूतों को दिल्ली के सम्राटों से सदैव संघर्ष करना पड़ा। पश्चिमी भाग अधिक मरुस्थल है। यहाँ के लोग स्वाभाविक ही वीर और कठिनाइयों का सामना करने में अभ्यस्त हो जाते हैं।

उत्तरी मैदान के पूर्वी भाग में बंगाल तथा आसाम स्थित है। प्रकृति ने इन प्रदेशों को अत्यन्त समृद्धिशाली बनाया है। यद्यपि जलवायु अधिक स्वास्थ्यकर नहीं है परन्तु शारीरिक दुर्बलता को यहाँ के निवासी मानसिक शक्ति से सदा ही पूरा करते रहे हैं। आक्रमणकारियों से दूर होने के कारण यहाँ के निवासी युद्ध-कला से अधिक परिचित नहीं थे। कोई भी आक्रमणकारी इस देश को जीतने के पश्चात् यहाँ के वातावरण से प्रभावित हुए बिना न रह सका। तथा अपने को भारत के अन्य भागों से पृथक समझने लगा। यही कारण है कि यहाँ सर्वदा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना होती रही है।

(३) **दक्षिण के पठार**—आर्यावर्त के दक्षिण के देश को दक्षिण का पठार या दक्षिणपथ कहते हैं। यह भूभाग सिन्ध, सत्पूड़ा तथा अमरकंटक पर्वतमाला द्वारा आर्यावर्त से विभाजित है। दक्षिण के पठार भी दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। इसके उत्तर का भाग का प्रोफेसर परमात्माशरण ने सिन्ध्य मेखला कहा है। इस प्रदेश में बुन्देलखंड, बघेलखंड तथा मालवा के प्रदेश आते हैं जो सदैव अपनी स्वतंत्रता की मर्यादा स्थापित करते रहे हैं। ताप्ती नदी के दक्षिण पठार को हम वास्तविक दक्षिण पठार कह सकते हैं। इस पठार की शृंखला आधुनिक मैसूर राज्य तक फैली है। विन्ध्य तथा सत्पुड़ा पर्वत ने इस भूभाग को उत्तरपथ से इस प्रकार पृथक कर रखा है कि उत्तर की घटनाओं का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। भूमि पथरीली होने के कारण यहाँ के निवासी परिश्रमी तथा परिश्रम की मर्यादा को समझते रहे हैं।

दक्षिणी पठार के दोनों किनारों पर समुद्र है और इस पठार के पश्चिम तथा पूर्व में पहाड़ियाँ हैं जो एकाएक समुद्र की तरफ ढलान से समतल हो जाती हैं। पश्चिमी किनारे की समतल भूमि चौड़ाई से कम है और पहाड़ियाँ कुछ सीधी अधिक हैं। इसी पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश के अंक में महाराष्ट्र का देश स्थित है।

पूर्वी किनारा चौड़ाई में अधिक है। नदियाँ भी इतनी हैं कि पठार का इनके साथ अधिक सम्बन्ध रह सकता है। इसी देश में तामिलनाड, तेलिंगाना द्वारसमुद्र इत्यादि स्थित है।

यद्यपि समुद्र का किनारा अधिक कटा नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि हाँ सुन्दर तथा सुरक्षित बन्दरगाह बन सकते हैं।

पश्चिमी किनारे पर सोरठ (सूरत), पोरबन्दर, बम्बई तथा गोआ मुख्य हैं। पूर्वी किनारे पर विशाखापटनम, मसुलीपटनम प्राचीन काल से ही भारतवर्ष के बन्दरगाह हैं।

भौगोलिक परिस्थिति का भारतवर्ष के इतिहास पर प्रभाव

ऊपर हम भारतवर्ष के प्राकृतिक विभाग का अध्ययन कर चुके हैं और कहीं-कहीं पर उनके प्रभाव का संकेत भी करते आये हैं।

राजनैतिक दृष्टिकोण से भारतवर्ष के इतिहास में साम्राज्य का उत्थान और पतन, नए साम्राज्य का बनना तथा उसका विनाश, एक नियम-सा प्रतीत होता है। यहाँ राजनैतिक क्षेत्र में कभी सांवैधानिक विचारधारा की जागृति नहीं हुई। इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर हम भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर यहाँ के इतिहास का अध्ययन करने से प्राप्त कर सकते हैं।

आर्यावर्त की समतल भूमि में नदियों के बीच राज्य का संगठन सरल था और यही कारण था कि यहाँ कई राज्य बन जाते थे। सब उर्वर भूमि के कारण समृद्धिशाली भी हो जाते थे। धन की प्रचुरता से विलासप्रिय हो जाते। अपने आपको बड़ा सिद्ध करने के लिये पड़ोसी राज्य पर आक्रमण भी करते। परन्तु जब कभी कोई शक्तिशाली व्यक्ति राज्य पर बैठता तो अपनी महत्वाकांक्षा को साम्राज्य रूप में परिणित कर राज्य को चरम शिखर पर पहुँचा देता। इस विशाल देश में सर्वत्र सुगमता से यातायात करना सम्भव न था जिसके कारण राज्य के दूरवर्ती प्रान्तीय शासक सदैव केन्द्र के दुर्बलता से लाभ उठाकर स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते और समय-समय पर सफलीभूत भी होते थे। परन्तु केन्द्र में फिर नए व्यक्ति के प्रादुर्भाव से इन प्रान्तों को केन्द्र के अधीन होना पड़ता। इस प्रकार आर्यावर्त के धन, वैभव तथा समृद्धि ने सदा से ही यहाँ के राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाये रखा। दूरवर्ती राज्यों को अपने बल की कमी के काण ही आर्यावर्त के साम्राज्य का अंग बनना पड़ा।

उत्तर का मैदान समतल तथा उपजाऊ होने के कारण कृषि-प्रधान देश हो गया। किसान का अपनी भूमि से अधिक प्रेम होना स्वाभाविक ही है। कृषि कार्य के लिये देश में शान्ति रहना भी आवश्यक होता है। अतः किसान सदा एक शक्तिशाली शासक का साथ देता रहा है। निर्बल शासक को जब कभी बलवान व्यक्ति ने हटा कर शासन की बागडोर को सँभाला किसान ने नए राजा का स्वागत किया। यहाँ के शासक भी किसान के इस मानसिक प्रतिक्रिया से परिचित थे और किसान के भूमि पर अधिकार का मान करते थे। किसान के अधिकार के कारण भारत में सामन्तशाही प्रथा (Feudalism) कभी भी न आ सकी। राजा के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता किसान को कभी भी नहीं पड़ी। जहाँ यूरोप के सुशासन के लिये सामन्त लड़ते रहे भारत में किसान राजा को इन शक्तियों को दमन करने में सहायता देते रहे।

समृद्धिशाली देश में खाद्य के बहुतायत के कारण यहाँ के निवासियों का काफी समय बच रहता। ऐसे समय ये लोग आमोद-प्रमोद में बिताते। आमोद-प्रमोद से यहाँ की संस्कृति में वृद्धि हुई। सब लोगों को मेहनत करने की आवश्यकता न पड़ती थी। कुछ ऐसे लोग प्राकृतिक तत्वों को समझने में उलझने लगे। प्रकृति की गोद में शान्तिमय वातावरण के कारण इन्हें प्रकृति की विशषेताओं का बोध होने लगा। यही कारण है कि आर्यों की वही शाखा जो भारत में आई उसने वेद उपनिषद् ऐसे ग्रन्थों की रचना

की। जिस समय विश्व सो रहा था भारत आध्यात्मिक विकास के सोपान पर क्रमशः चढ़ता चला जा रहा था।

आर्थिक दृष्टिकोण से भी भारतवर्ष के इतिहास पर यहाँ के भौगोलिक परिस्थिति का काफी प्रभाव पड़ा है। आर्यावर्त के समतल भूमि के बारे में हम अभी बता चुके हैं कि यह भूभाग धन-धान्य से परिपूर्ण था। समतल होने के कारण आदान-प्रदान भी काफी सम्भव था। वाणिज्य की आवश्यकता समाज ने स्वीकार की ली तथा व्यावसायिक संगठन भी बनने लगे थे। देश अन्य देश का पालन-पोषण करने लगा। देश में बहुतायत होने के कारण यहाँ के निवासी अन्य देशों में उदरपूर्ति के लिये नहीं वरन् भारत का संदेश लेकर जाते थे। भारत का विदेशी साम्राज्य न होने का प्रमुख कारण यही है। यहाँ समुद्र का किनारा दूर होने के कारण यहाँ नौशक्ति की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं हुआ। व्यापार के लिये देश के भिन्न-भिन्न प्रान्त ही पर्याप्त थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष के इतिहास पर यहाँ के भौगोलिक परिस्थिति का पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा है।

भारतवर्ष की मौलिक एकता

भारतवर्ष के विभिन्न प्रकार के जलवायु, प्राकृतिक अवस्था, धार्मिक विचारधारा तथा जातियों को देख कर बहुधा संदेह उत्पन्न होता है कि क्या भारतवर्ष एक देश या एक राष्ट्र है। इसमें तो कोई संदेह नहीं भारत भूमि हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक कितने ही प्रकार के प्राकृतिक दृश्य उपस्थित करती है। परन्तु भौगोलिक दृष्टिकोण से यह भिन्नता एक देश में होना उस देश की महानता का प्रतीक है। प्रकृति ने भारत की स्वाभाविक सीमा बनाकर उसे एक देश बना रखा है। भारत की उत्तरीय हिमालय पर्वतमाला ने भारतवर्ष को एशिया के अन्य देशों से अलग कर इसकी एकता को बहुत दृढ़ कर दिया है। प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में भी भारतवर्ष का उल्लेख एक देश के रूप में हुआ है।

राजनैतिक दृष्टिकोण से भी भारतवर्ष एक देश रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि दूरवर्ती प्रान्त सदा अपने को केन्द्र से स्वतंत्र करने का प्रयत्न करते रहे हैं। परन्तु ऐसा प्रयास केवल वहाँ के अधिकारियों का ही होता था बाकी जनता का। जनता सदा हीं भारत को एक देश समझती आई है। आज भी देश के राजनीतिक नेता अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये निर्बोध जनता में गलतफहमी पैदा करने पर भी अपनी स्वार्थसिद्धि में सर्वथा सफल नहीं हो पाये हैं। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में समय-समय पर ऐसे सम्राट् हुए हैं जो भारत में एक राज्य स्थापित करने में सफल रहे हैं। सम्राट् अशोक का राज्य सारे भारत में फैला हुआ था। मुसलमान काल में भी सारे भारतवर्ष पर एकछत्र साम्राज्य रहा है। अतः हम देखते हैं कि भारत की राजनैतिक एकता की भावना कोई आधुनिक विचारधारा नहीं है वरन् यह भारत में प्राचीन काल या युग-युग से चली आ रही है।

भारतवर्ष की मौलिक एकता की सबसे बड़ी झलक यहाँ की संस्कृति में मिलती है। देश के हर भाग में जात-पाँत के विचार, ब्राह्मणों के प्रति आदर, अछूतों के प्रति घृणा, एक-सा ही मिलता है। देश के त्यौहार जैसे दिवाली, दशहरा, होली, गणेशपूजा सभी भागों में पाये जाते हैं। यहाँ तक कि इस्लाम धर्म को अपनाने पर भी यहाँ के निवासी अपनी पुरानी बातों को सर्वथा भूल नहीं पाये और भारत में इस्लाम का रूप ही कुछ और बन गया विवाह-संबंधी प्रथाएँ, नारियों का समाज में स्थान, आदि

ऐसी भावनाएँ सारे देश में एक-सी ही मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की विचारधारा में एकता है।

कुछ विदेशी विद्वान भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न धर्म्मों में भिन्नता ही दे देते हैं। परन्तु इन धर्मों के मूल में जो एकता है उसे वे भूल जाते हैं। देश के प्रत्येक भाग में वेद, गीता, महाकाव्यों का समान आदर है। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म भी धार्मिक विचारधारा की जटिलता को दूर करने का प्रयास मात्र है। भारत में धार्मिक सहिष्णुता सदा से रही है और इस विचारधारा का समान आदर होता रहा है। यही कारण है कि अनेक मत पाये जाते हैं। परन्तु सब उस एक परमब्रह्म परमात्मा को ही आधार मानते हैं। भारतवर्ष के तीर्थ स्थान सबके लिए एक समान हैं। और ये तीर्थ स्थानासारे भारत में फैले है। उनका विस्तार हिमालय पर्वत से कुमारी अन्तरीप तक है, जैसे कैलाश, केदारनाथ, बद्रीनाथ, काशी, प्रयाग, जगन्नाथपुरी, द्वारकाधाम, रामेश्वरम्, कन्या कुमारी कामाक्षा देवी इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत के मौलिक एकता की विशेषता यह है कि यहाँ भिन्नता में एकता पाई जाती है। भारत निःसन्देह एक देश था और एक राष्ट्र भी। अपनी अज्ञानता के कारण ही हम इसमें सन्देह करते है।

भारत के निवासी

आज भारतवर्ष में जो लोग रहते हैं उनके आकार, शारीरिक गठन, रंग इत्यादि को देखने से हमें अनुभव होता है कि लोग एक नृवंश के नहीं हैं। नृवंश (Races) की दृष्टिकोण से भारत में इतने अधिक racial elements मिलते हैं कि इस देश को यदि हम जातियों का अजायबघर कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्राचीन देश में समय-समय पर लोग आए और बस गये। फिर यहाँ के लोगों से घुल मिल गये इस प्रकार यह क्रम भारत में बराबर चलता आ रहा है। यहाँ के निवासियों का चार वर्गों में वर्गीकरण किया जा सकता है। परन्तु इनमें मिश्रण अवश्य है। ये वर्ग इस प्रकार है:

(१) **इन्डो-आर्यन**—भारत के उत्तर में पाये जाते हैं। कद में लम्बे तथा इनका रंग कुछ साफ होता है।

(२) **द्रविड़**—ये लोग भारत के दक्षिण के उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों में पाये जाते हैं। इनका रंग कुछ साँवला तथा कद कुछ कम होता है।

(३) **आस्ट्रिक**—इस वर्ग में नीलगिरि के टोडा, कोल, भीलगाड तथा संथाल आदि गिने जाते हैं।

(४) **मंगोल**—इस वर्ग के लोग आसाम, उत्तर-पूर्व बंगाल तथा हिमालय की तराई में पाये जाते हैं। इनका चेहरा कुछ चपटा, रंग पीला और आँखें छोटी होती हैं।

प्रश्न

1. Discuss the physical features of India. How have they influenced the course of its history ? (1947, 52, 53).

(भारतवर्ष की भौगोलिक विशेषताओं का विवेचन कीजिये। उनका भारतीय इतिहास के प्रवाह पर क्या प्रभाव पड़ा ?)

2. "Geography is the foundation of all historical knowledge." Illustrate the truth of this statement with regard to the political, cultural and economic conditions existing in India prior to 1526. (1953, 54).

("भूगोल एतिहासिक ज्ञान का आधार है।" १५२६ से पूर्व भारत की राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक अवस्थाओं की व्याख्या करते हुए इस कथन की सत्यता पर विचार कीजिये।)

3. "India offers unity in diversity" Discuss.

("भारत के विषमता में ही एकता मिलती है" व्याख्या कीजिये।)

अध्याय २

भारतीय इतिहास के स्रोत तथा साधन

(प्राचीन काल से १५२६ ई० तक)

प्रत्येक देश का अपना-अपना इतिहास होता है। इसी इतिहास पर उसे गर्व रहता है। पूर्वजों द्वारा किए गए महान कार्यों पर किसे गर्व न होगा, किन्तु इस बहुत पुराने समय में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में इन पूर्वजों ने कितनी उन्नति कर ली थी यह कैसे जाना जाय? हम अपने देश का इतिहास भी किन साधनों द्वारा जान सकते हैं। इतिहास मानव की विगत विर्शिष्ट घटनाओं का ही दूसरा नाम है। और इन घटनाओं का ज्ञान मानव की कृतियों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इन कृतियों को हम उनके साहित्य तथा निर्माण कार्य के रूप में प्राप्त करते हैं। साहित्य में एक अंग ऐसा भी है जो ऐतिहासिक घटनाओं को लिपिबद्ध कर लेता है। ऐसे साहित्य को आजकल इतिहास कहते हैं।

विदेशी विद्वानों का यह कहना है कि हमारे पूवजों को इतिहास लिखना नहीं आता था अर्थात् भारतीय आर्यों ने प्राचीन काल का अपना कोई इतिहास उस समय नहीं लिखा था। यूरोप के ये विद्वान् यह बताते हैं कि हमारे पूर्वजों को इतिहास से प्रेम ही नहीं था, इसीलिये वेद, उपनिषद, वेदांग आदि जैसे महान् ग्रन्थों की रचना करने वाले हमारे पूर्वजों ने भारतवर्ष का कोई इतिहास नहीं लिखा। किन्तु यह बात अक्षरशः सत्य नहीं है। हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि हमारे पूर्वजों ने फादर हेरोडोटस की भाँति यूनान का कोई इतिहास (फादर हेरोडोटस का ग्रन्थ 'हिस्ट्रीज') नहीं लिखा और न उन्होंने लिवी की भाँति रोम का इतिहास 'एनल्स' ही लिखा। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उन्हें इतिहास लिखना नहीं आता था, अथवा इतिहास-रचना में उनकी रुचि नहीं थी। सच तो यह है कि प्राचीन भारतीय आर्यों ने अन्य विषयों की भाँति इतिहास-रचना में भी उतनी ही समान रुचि ली थी। हाँ एक बात अवश्य है कि उनकी इतिहास की परिभाषा कुछ दूसरी थी और उसी आधार पर उन्होंने इतिहास लिखा। वे इतिहास को किस दृष्टि से देखते थे उसका एक उदाहरण देना आवश्यक है—

पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रार्थ शास्त्रंचेतिहासः

अर्थात् पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ही प्राचीन आर्यों का इतिहास-शास्त्र था। उनकी इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए प्राचीन आर्यों का साहित्य देखने पर यह मालूम होगा कि प्राचीन आर्यों ने इतना अधिक इतिहास लिखा कि उतना संभवतः और किसी देशवालों ने नहीं लिखा। एक बात अवश्य है, पुराण, इतिवृत, आख्यायिका, उदाहरण आदि की खिचड़ी पका देने के कारण प्राचीन आर्यों द्वारा लिखा गया 'इतिहास' आज के वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास नहीं रह गया क्योंकि उसमें पूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ कुछ अर्ध ऐतिहासिक या काल्प-

निक घटनाएँ भी जोड़ दी गई हैं। इन इतिहासों में एक कमी और भी है, वह यह कि इनमें तिथियों का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है। जिस प्रकार एक कहानी कहने वाला कहता है—'बहुत दिनों की बात है कि किसी देश में एक बहुत ही प्रतापी राजा राज्य करता था।' अथवा 'किसी समय में एक राजा था' आदि-आदि, लगभग इसी प्रकार हमारे प्राचीन साहित्यकारों ने अपना इतिहास लिखा है। तिथि के नाम पर बहुत किया तो चार युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) में पूरा काल बाँट दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ अनैतिहासिक या काल्पनिक घटनाओं का बाहुल्य और तिथि का अभाव इन दो कारणों से ही प्राचीन आर्यों द्वारा लिखा गया इतिहास आज के विशुद्ध अर्थों में इतिहास भले न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि आर्यों के साहित्य में ऐतिहासिक सामग्रियाँ इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं कि कोई व्यक्ति जीवन-पर्यन्त इनका अनुसंधान करता रह सकता है।

मानव के प्राचीन काल की कृतियाँ जो उनके निर्माण-कार्य के रूप में थे समय के प्रवाह के साथ-साथ टूट गये, जल प्लावित हो गये या भूकम्प में दब गये। ऐसे ही भवनों, मुद्राओं, ताम्रपत्रों तथा अभिलेखों के अध्ययन के लिये पुरातत्व विभाग Archaeological Department) की स्थापना की गई। इस पुरातत्व विभाग के खुदाइयों से हमें धरती के नीचे दबी सभ्यता का तथा प्राचीनकाल के सम्राटों का शासनकाल तथा उनसे संबंधित घटनाओं या राज्य-विस्तार का भी पता चलता है। अतः इतिहास जानने का दूसरा साधन पुरातात्विक सामग्री कहे जा सकते हैं।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इतिहास जानने के दो साधन हैं—

१. साहित्यिक तथा

२. पुरातात्विक

नीचे इन साधनों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इन साधनों का अध्ययन इतिहास जानने की दृष्टि से बहुत ही आवश्यक है; क्योंकि बार-बार हम आगे इनका उल्लेख करेंगे और यदि विद्यार्थियों ने इन साधनों का सम्यक् अध्ययन नहीं कर लिया तो आगे कठिनाई पड़ेगी।

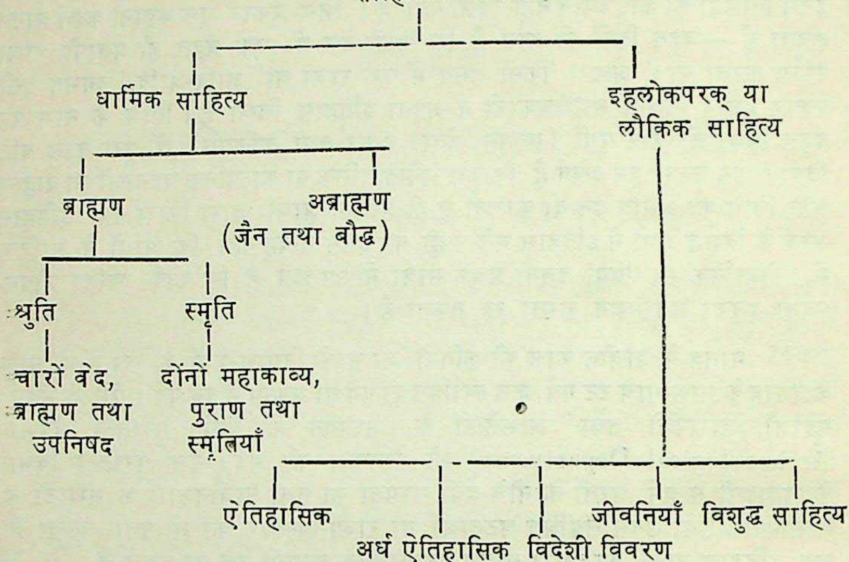
साहित्यिक सामग्री

साहित्यिक सामग्री से अभिप्राय लिखित ग्रन्थों से है जो कई प्रकार के हैं—(१) कुछ ग्रन्थ बिल्कुल धार्मिक हैं और (२) कुछ इहलोकपरक या लौकिक हैं। धार्मिक ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं:—(क) कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं और (ख) कुछ अब्राह्मण (जैन तथा बौद्ध ग्रन्थ) इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के भी फिर कई भेद कर दिये गये हैं।

ऊपर धार्मिक साहित्य के भेदों और उपभेदों का उल्लेख किया गया है। यहाँ इहलोकपरक या लौकिक साहित्य के भेदों को भी जान लेना चाहिए। इहलोकपरक साहित्य के कुल पाँच भेद हैं—

(क) ऐतिहासिक, (ख) अर्ध ऐतिहासिक, (ग) विदेशी विवरण, (घ) जीवनियाँ तथा (ङ) कल्पना प्रधान एवं गल्प साहित्य (विशुद्ध साहित्य)।

नीचे के चित्र से साहित्यिक सामग्री के भेदों-उपभेदों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जायगा।



१. धार्मिक साहित्य

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेद—आर्यों ने सबसे पहले जिन ग्रन्थों की रचना की वे क्रमशः 'ऋग्वेद', 'सामवेद', 'यजुर्वेद' तथा 'अथर्ववेद' हैं। इन चारों वेदों में प्राचीनतम वेद 'ऋग्वेद' से तो हमें आर्यों के भारत में प्रसार, अनार्यों से उनका संघर्ष आदि के विषय में पूरा-पूरा विवरण प्राप्त होता है। वेदों के अभाव में आर्यों के प्राचीन धर्म के विषय में हम बिल्कुल ही नहीं जान पाते।

ब्राह्मण—चारों वेदों की जो गद्य टीकाएँ हुईं उन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। ये वैदिक मन्त्रों का पूरा-पूरा बोध कराते हैं। प्राचीन ब्राह्मणों में 'ऐतरेय', 'पंचविंश', 'शतपथ', 'तैत्तरीय' आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'ऐतरेय' ब्राह्मण से हमें प्राचीन अभिशिक्त राजाओं के नामों तथा राज्याभिषेक आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'शतपथ' ब्राह्मण भारत पश्चिमोत्तर गान्धार, शाल्व तथा केकय आदि और प्राच्य देश कुरु, पाँचाल तथा विदेह पर कुछ प्रकाश डालता है। सुप्रसिद्ध आर्य राजा परीक्षित तथा उसके काफी बाद के भारतीय इतिहास का ज्ञान ब्राह्मण द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषद—उपनिषद् ग्रन्थों से परीक्षित, उसके पुत्र जन्मेजय तथा बाद के राजाओं के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। सच तो यह है कि ब्राह्मणों और उपनिषदों के सम्मिलित अध्ययन से ही हमें परीक्षित से लेकर बिम्बिसार तक के इतिहास की कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उपनिषदों से भारतीय दर्शन का भी बोध हो जाता है।

वेदांग—कालान्तर में वैदिक अध्ययन के निमित्त विशिष्ट विद्याओं की शाखाओं का जन्म हुआ जो वेदांग के नाम से विख्यात हैं। छः वेदांगों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है।

शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिम्

अर्थात् शिक्षा (Phonetics), कल्प (Ritual) व्याकरण (Grammar), निरुक्त (Etymology), छन्द शास्त्र (Metric) तथा ज्योतिष (Astronomy) वेदांग की छः शाखाओं से ही वैदिक पाठों को सरल एवं सुबोध बनाया गया। आगे चलकर इन विषयों के पठन-पाठन में कुछ परिवर्तन हुए और इस प्रकार वैदिक शाखाओं के अन्तर्गत ही उनका पृथक-पृथक वर्ग स्थापित हो गया। इन्हीं वर्गों के पाठ्य ग्रन्थों के रूप में सूत्रों का निर्माण हुआ। ये चार प्रकार के हैं—**श्रौत्र सूत्र**, जो महायज्ञों से सम्बन्धित है, **गृह्यसूत्र** जो गृह संस्कारों पर प्रकाश डालते हैं, **धर्म-सूत्र** जो धर्म या नियमों का बोध कराते हैं, तथा शुल्व सूत्र जो हवन-कुण्ड की वेदी की नाप अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी विधि विधानों पर प्रकाश डालता है। इन सूत्रों से प्राचीन भारतीय आर्यों का धार्मिक और सामाजिक जीवन भली भाँति जाना जा सकता है। भारतीयों की धार्मिक अवस्था का पूर्ण परिचय कराने वाला यदि कोई साधन है तो वह है वेदांग।

दो महाकाव्य—हमारे आदि महाकाव्य रामायण तथा महाभारत प्राचीन भारतीय इतिहास पर काफी प्रकाश डालते हैं। महाकवि बाल्मीकि ने मर्यादापुरुषोत्तम राम की जीवनी लिखकर हमें तत्कालीन भारतीय जीवन का दर्शन कराया है। दक्षिण भारत में आर्य सभ्यता के प्रसार का भी सूक्ष्म परिचय हमें उक्त ग्रन्थ से मिलता है। रामायण जहाँ एक ओर धार्मिक ग्रन्थ है वहाँ दूरी ओर वह एक क्षत्रिय राजवंश का इतिहास भी है।

रामायण के अतिरिक्त हमारे पास दूसरा महाकाव्य भी है महाभारत। महाभारत के रचयिता व्यास मुनि बताये जाते हैं, किन्तु इस महाकाव्य के दो संस्करण हुए—जय भारत तथा महाभारत। जब हम वर्तमान महाभारत पर दृष्टि डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यह प्राचीन इतिहास आख्यायिकाओं, कथाओं तथा उपदेशों का भण्डार है। इन सारी कथाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में इतिहास से जोड़ा जा सकता है। उपदेशों को आर्यों के नैतिक और सामाजिक आदर्श रूप में स्वीकार किया जा सकता है। महाभारत में विशुद्ध राजनीतिक घटनाएँ भी मिलती हैं जिन पर काफी विश्वास किया जा सकता है। हाँ एक कठिनाई अवश्य पड़ती है, वह यह कि महाभारत का रचयिता किसी भी घटना की तिथि नहीं देता है।

ऊपर बताए गए दोनों महाकाव्यों में विशेषतः महाभारत में हमारे इतिहास को इतना अधिक प्रकाशित किया गया है कि कुछ इतिहासकारों ने तो इसे आदि इतिहास तक की संज्ञा दे दी है। इससे यह मालूम होता है कि दोनों महाकाव्य का महत्व इतिहास जानने के साधन के रूप में बहुत है, किन्तु यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि तिथियों के अभाव के साथ-साथ इन दोनों महाकाव्यों में एक सबसे बड़ी कमी यह है कि इनमें प्रक्षिप्तांशों का बाहुल्य है अर्थात् अनेक अध्यायों में अनेक स्थल मूल लेखक के लिखे हुए न होकर बाद के जोड़े हुए हैं। इस कमी के कारण दोनों महाकाव्यों का ऐतिहासिक महत्व कुछ घट जाता है।

पुराण—आर्यों ने भारत में साहित्य-प्रगति की वह अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। उनकी इस साहित्यिक प्रगति की महत्ता में अभिवृद्धि करने वाले ग्रन्थ पुराण हैं जिनकी रचना आर्यों ने शताब्दियों में की। पुराणों की संख्या १८ है। इन पुराणों ही में पहले-पहल इतिहास की प्रवृत्ति मिलती है क्योंकि कुछ पुराणों में 'वंशानुचरित' (प्राचीन राजकुलों की इतिवृति) है जिससे हमें बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो

जाती है। कलियुग के राजाओं की तालिकाओं के साथ-साथ शैशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, कण्व, आंध्र तथा गुप्तवंश की वंशावलियाँ भी प्राप्त होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणों में हमारे देश के प्राचीनतम राज्यों का राजनीतिक महत्व रखने वाली जातियों का उल्लेख किया गया है जिससे हमें ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर गुप्त काल के इतिहास तक के लिये हम पग-पग पर पुराणों का अवलोकन कर सकते हैं।

स्मृतियाँ—स्मृतियाँ सामाजिक तथा राजनीतिक नियमों का जितना विस्तृत ज्ञान करा पाती हैं उतना सम्भवतः अन्य कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं करा पाता। मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, वृहस्पति, पराशर आदि की स्मृतियाँ प्राचीन काल के सामाजिक नियमों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों के साथ-साथ राजा-प्रजा के सम्बन्ध, राजस्व सिद्धान्त और वर्तमान शब्दों में नागरिकता का पूर्ण ज्ञान कराती हैं।

अब्राह्मण ग्रन्थ

जैसा कि प्रारम्भ में बतलाया गया है जैन और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों को अब्राह्मण ग्रन्थ की संज्ञा दी गई है। छठीं शताब्दी ईसा के पूर्व में महावीर स्वामी और महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। तब से निरन्तर जैन और बौद्ध धर्म के ग्रन्थ लिखे जाते रहे। ये ग्रन्थ पूर्णतया धार्मिक हैं फिर भी इनसे तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

जैन ग्रन्थ—जैनियों के अनेक ग्रन्थ हमें कुछ ऐतिहासिक ज्ञान प्रदान करते हैं। **परिशिष्ट परवन, भद्रबाहु चरित्र, कथा कोष, आवश्यक सूत्र, भगवती सूत्र, कालिका पुराण** आदि जैन धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिनसे हम कुछ-कुछ ऐतिहासिक सामग्री निकाल-लेते हैं।

बौद्ध ग्रन्थ—बौद्धों ने अपार साहित्य की रचना की। **त्रिपिटक** इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। त्रिपिटक से बौद्ध दर्शन को भली-भाँति समझा जा सकता है। जातक बौद्धों का एक ऐसा ग्रन्थ है जो ब्राह्मण पुराणों की भाँति कथा-कहानियों के रूप में धर्म का उपदेश देता है और साथ ही साथ इतिहास के विद्यार्थी को ऐतिहासिक सूचना प्रदान करता है। जातकों की संख्या ५४९ है। जातकों में तीसरी शताब्दी ईसा के पूर्व की भारतीय सभ्यता का जितना सुन्दर चित्रण मिल जाता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इनसे बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का भी कुछ संकेत मिलता है। **दीपवंस** तथा **महावंश** दो पाली महाकाव्यों का बौद्ध ग्रन्थों में काफी महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तो वे ग्रन्थ अमूल्य सिद्ध हुए हैं। मौर्यकालीन भारत की अवस्था का इतना सुन्दर ज्ञान हमें अन्यत्र बहुत कम प्राप्त है। हाँ इतना अवश्य है कि इन महाकाव्यों से जितनी सूचनाएँ मिलती हैं उनको ग्रहण करते समय तर्क और विवेक से काम लेना पड़ता है। बौद्ध धर्म के अन्य ग्रन्थों में **मिलिन्दपन्हो, दिव्यावदान मंजश्री, मूलकल्प, ललित** विस्तार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त की जा सकती है। मिलिन्द पन्हो यूनानी नरेश मिनेन्डर और उसके समय के भारत का बोध कराता है, दिव्यावदान अशोक तथा उसके उत्तराधिकारियों के विषय में जानकारी देता है, मंजुश्री मूलकल्प मौर्य के पूर्व से लेकर हर्ष तक की राजनीतिक घटनाओं का यत्र-तत्र वर्णन करता है, ललित विस्तार स्वयं भगवान् बुद्ध के जीवन पर प्रकाश डालने के साथ-साथ तत्कालीन धार्मिक एवम् सामाजिक अवस्थाओं का भी संकेत करता जाता है।

२· इहलोकपरक साहित्य

ऊपर हमने धार्मिक साहित्य का पूरा विवरण प्रस्तुत किया है। अब इहलोकपरक या लौकिक साहित्य पर विचार किया जायगा। आपको याद होगा कि अध्ययन की सुविधा के लिए इहलोकपरक साहित्य को पाँच विभागों में बाँट दिया गया है। यहाँ उन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

ऐतिहासिक ग्रन्थ

ऐतिहासिक ग्रन्थों से हमारा अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो हमारे देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं, क्योंकि इन्हीं विषयों को इतिहास का विषय कहा जाता है। हमारी इस परिभाषा में जितने भी ग्रन्थ आयेंगे उनका संक्षिप्त विवरण ही यहाँ दिया जा सकता है।

राजतरंगिणी—काश्मीर के सुप्रसिद्ध विद्वान् कल्हण द्वारा १२वीं शताब्दी में लिखा गया यह ग्रन्थ भारत का पहला ऐतिहासिक विशुद्ध ग्रन्थ है। कल्हण का दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक है। उसने काश्मीर का इतिहास आदि काल से लेकर अपने समय तक का लिखा है। इस ग्रन्थ से हमें काश्मीर का पूरा-पूरा इतिहास मिल जाता है।

काश्मीर के अन्य इतिहास—काश्मीर में कल्हण ने तिथिक्रमानुसार इतिहास लिखने की जो परम्परा चलाई उसका अनुसरण अनेक काश्मीरी विद्वानों ने किया। इनमें **जोन राज, श्रीवर, राजभट्ट** आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

गुजराती इतिहासकार—जिस प्रकार काश्मीर के विद्वान् अपने नरेशों का गुणगान कर रहे थे उसी प्रकार गुजरात के विद्वान् भी अपने वीरों के गुणगान में तल्लीन थे। इनकी रचनाएँ अत्युक्तिपूर्ण अवश्य हैं किन्तु वे विशुद्ध ऐतिहासिक हैं। गुजरात के इतिहासकारों में '**रासमाला**' और '**कीर्तिकौमुदी**' का रचयिता **सोमेश्वर**, '**सुकृत-संकीर्तन**' का रचयिता **अरिसिंह**, '**प्रबंध कोष**' का लेखक **राजशेखर** आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे गुजराती इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

अर्थशास्त्र—**चाणक्य** अथवा **कौटिल्य** के अर्थशास्त्र से **प्रत्येक भारतीय परिचित** होगा। यह ग्रन्थ आज की अर्थशास्त्र की तरह धन-सम्पत्ति का अध्ययन नहीं करता वरन् यह राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ है। आदर्श भारतीय शासन-पद्धति का जो रूप कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चित्रित किया गया है उसका अनुसरण न केवल मौर्य सम्राटों ने ही किया वरन् आगे आने वाले भारतीय राजाओं ने भी उसी शासन-पद्धति को अपनाया। भारतीय राजनीति-शास्त्र का यह पहला ग्रन्थ माना जा सकता है। उपर्युक्त ग्रन्थों एवम् ग्रन्थकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों एवम् ग्रन्थकारों का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। **कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीतिसार, वार्हस्पत्य** अर्थशास्त्र इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं, जिनमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति ही राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों, राजा के अधिकार-कर्त्तव्य आदि पर प्रकाश डाला गया है।

भारतवर्ष में इस्लाम के प्रादुर्भाव होने के पश्चात् घटनाओं का विवरण हमें उस समय के लेखकों से प्राप्त होता है। इनमें निम्नलिखित पुस्तकें प्रमुख हैं;

चचनामा—कूफी द्वारा लिखित इस ग्रन्थ से हमें सिन्ध पर अरबवालों के आक्रमण तथा उसके बाद की घटनाओं का पता चलता है।

तारीख-ए-यामीनी—उत्वी की लिखी हुई, तथा

तारीख-उस्-सुबुक्तगीन—बैहाकी की लिखी हुई दो ऐसी पुस्तकें हैं जिनके आधार पर हम महमूद गजनवी के भारत-आक्रमण, तत्कालीन भारत की राजनैतिक अवस्था तथा गजनी वंश के इतिहास का पता लगाते हैं।

तबकात-ए-नासीरी—इस विशाल पुस्तक के रचयिता काजी मिनहाज-उस-सीराज थे। काजी मिनहाज बलबन के राज्य-काल के आरम्भ तक रहे और वे अपनी पुस्तक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद को उत्सर्ग किया है। यह एक प्रकार का विश्व-इतिहास है। भारत में दासवंश के काल की अनेक घटनाओं में इन्होंने भाग लिया था। अतः इनका वर्णन आँखों देखा वृतान्त है और एक प्रमुख आधार भी है।

तारीख-ऐ-फीरोजशाही—इस पुस्तक के इचयिता जियाउद्दीन बर्नी हैं जिन्होंने सुल्तान फिरोजशाह तुगलक के राज्यकाल में इसकी रचना की थी तथा सुल्तान को उत्सर्ग कर उन्हीं के नाम पर पुस्तक को आधारित किया है। तबकात-ए-नासीरी का वर्णन जहाँ समाप्त होता है यह पुस्तक करीब-करीब वहीं से आरम्भ होती है और फीरोजशाह तुगलक के राज्यकाल के प्रारम्भ के कुछ काल के वाद समाप्त होता है। अतः हमें इस पुस्तक से इलवारी तुर्क, खलजी, तुर्क तथा कराउना तुर्कों के राज्यकाल का पर्याप्त विवरण मिलता है।

खजाइन-उल-फतह—इस पुस्तक के रचयिता कवि अमीर खुसरो थे। सौभाग्य से इन्हें लम्बी आयु मिली थी और जीवन पर्यन्त ये साहित्य की सेवा करते रहे। इनकी अनेक रचनाओं में से यह एक मात्र है। इस पुस्तक में कवि ने अलाउद्दीन खिल्जी के विजयों का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है।

तारीख-ए-फीरोजशाही—वर्नी की पुस्तक के नाम पर ही यहएक दूसरी पुस्तक है जिसके रचयिता शम्स सीराज अफीफ थे। यह फीरोज शाह तुगलक के राज्य-काल में थे तथा शासन-प्रबन्ध से सम्बन्ध रखते थे। इनके पूर्वजों का फीरोजशाह से घनिष्ठ सम्वन्ध था। फीरोजशाह के राज्यकाल का सविस्तार विवरण हमें इसी पुस्तक से प्राप्त होता है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अनेक पुस्तकें हैं जिनके आधार पर हम तुर्कों का भारत के शासन-काल के बारे में जान सकते हैं।

सैयद वंश का विवरण हमें **तारीख-ए-मुबारकशाही** से मिलता है। लोदी वंश का विवरणं **मखजान-ए-अफगानि** तथा **तारीख-ए-दाउदी** से मिलता है।

अर्ध-ऐतिहासिक

वे ग्रन्थ जिनका दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं है पर व्याकरण, विशुद्ध साहित्य आदि को ध्यान में रखकर लिखे जाने पर भी जो कुछ-कुछ इतिहास-सम्बन्धी घटनाओं का आधार लेकर चलते हैं अथवा जिनमें ऐतिहासिक दृष्टांत दिये रहते हैं उनको अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों की संज्ञा दी गई है। इन ग्रन्थों में कुछ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी, गर्गसंहिता, पतंजलि का महाभाष्य' मालविकाग्निमित्र, मुद्राराक्षस आदि। नीचे इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

पाणिनि का अष्टाध्यायी—यह व्याकरण ग्रन्थ मौर्य पूर्व तथा मौर्य कालीन अवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालता है। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तो इसका अद्वितीय स्थान है।

गर्ग संहिता—यह पुराण का एक अंग है। इस ग्रन्थ से हमें भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना का बोध होता है। यह घटना है प्रथम शताब्दी के लगभग भारत पर यवनों का आक्रमण।

मालविकाग्निमित्र—महाकवि कालीदास के इस प्रथम नाटक द्वारा शुंग कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति का संक्षिप्त परिचय मिलता है। राजकुलों के आन्तरिक जीवन पर इस नाटक से काफी प्रकाश पड़ता है।

मुद्रा राक्षस—विषाखदत्त द्वारा लिखित यह नाटक अपने ढंग का बिल्कुल अकेला है। चाणक्य और नन्दों के मंत्री राक्षस के दाँवपेंच का विस्तृत चित्रण उक्त नाटक में किया गया है जिसे मौर्यकाल की कूटनीति पर इस नाटक से काफी प्रकाश पड़ता है। चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्दों के विनाश के पश्चात् भी अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। इसका पूर्णज्ञान हमें मुद्रा राक्षस से ही होता है।

विदेशी विवरण

हमारे देश का इतिहास भारतीयों के ग्रन्थों में झलकता ही है, साथ ही कुछ विदेशियों ने भी भारत के विषय में थोड़ा बहुत लिखा। उनके लेखों से हमारे इतिहास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। उन विदेशियों के नाम आप पहले से जानते आ रहे हैं—मेगस्थनीज, ह्वेनसांग, फाह्यान, अल्बरूनी आदि। इनके पहले भी कुछ विदेशी यात्रियों ने हमारे देश की यात्रा की थी और उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा। जिन विदेशी जातियों के यात्री भारतवर्ष आये उनमें यूनानी, रोमन, चीनी, तिब्बती, मुसलमान आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

यूनानी—यूनानी विवरणों को सुविधानुसार तीन विभागों में विभाजित कर दिया गया है—(१) सिकन्दर पूर्व, (२) सिकन्दर कालीन तथा (३) सिकन्दर के बाद। सिकन्दर पूर्व के लेखकों में **इल्काइलास** (छठीं शताब्दी ई० पू०) **हेकेटिएस**, **हेरोडोटस** तथा **टेशियस** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हेरोडोटस और टेशियस ने पारसीक लेखकों के आधार पर भारत का चित्रण किया है।

सिकन्दर कालीन लेखकों में जो सिकन्दर के साथ भारतवर्ष आये थे **अरिस्टोबुलस**, **निपारसक**, **चारस युमेनीस** आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके लेखों से तत्कालीन भारतीय इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

सिकन्दर के बाद यूनानी लेखकों में **मेगस्थनीज**, **प्लिनी**, **तालमो**, **डाइमेकस**, **डाइयोडोरस**, **प्लुटार्क**, **एरियन**, **कर्टियस**, **जस्टिन**, **स्ट्रेबो** आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज के निवास का विवरण आपको प्राप्त होगा। सीरिया का राजदूत डायमेकस भी बिंदुसार के दरबार में आया था। इन लेखकों में कर्टियस, जस्टिन और स्ट्रेबो का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इन लेखों में चाहे जितनी भी अत्युक्ति हो, चाहे जितना भी अतिरञ्जन हो इनका अपना ऐतिहासिक महत्व भी है।

चीनी—चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने के पश्चात् अनेक यात्री बौद्ध धर्म सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त भारतवर्ष आये। चीनी इतिहासकारों में भारतवर्ष के सम्बन्ध में लिखने वाला पहला व्यक्ति **शुभाशीन** है, जिसने प्रथम शताब्दी ई० पू० में इतिहास की एक पुस्तक लिखी। तत्पश्चात् **फाह्यान**, **ह्वेनसाँग** और **इत्सिग** का नाम आता है जिन्होंने भारतीय इतिहास पर काफी प्रकाश डाला। इनके सम्बन्ध में यथास्थान हम विस्तारपूर्वक पढ़ेंगे।

तिब्बती—तिब्बती लेखकों में लामातारानाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थों का नाम है 'कम्युर' तथा 'तंग्युर'।

अरब—अरब इतिहासकारों में **सुलेमान, अलमसूदी, अल्विलादूरी, अबूजैदी-हसन**, इब्नखुर्दबा, **अल्इन्निरोसी** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु अल्वरूनी ही वह पहला मुसलमान इतिहाकार है जिसने भारतीय इतिहास के अध्ययन में अपना समय लगाया। इनके अतिरिक्त अब्दुर रज्जाक, इब्नबतूता तथा मार्कोपोलो की देन भारतीय इतिहास के लेखकों को सर्वदा मानना ही पड़ेगा।

जीवनियाँ

अपने-अपने आश्रयदाताओं या प्रिय सम्राटों की जीवनी लिखने की परम्परा भी हमारे देश में प्राचीन काल से रही है। लगभग पचासों राजाओं की जीवनियाँ लिखी गई हैं, जिनके अध्ययन से हमें उन राजाओं के साथ-साथ उनके समकालीन नरेशों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध जीवनियों पर नीचे संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

हर्ष चरित्र—हर्षचरित्र जिसकी रचना **बाणभट्ट** ने लगभग ६२० ई० में की थी जीवनियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। हर्ष के दरबार में रहकर बाण ने हर्ष-कालीन कन्नौज तथा थानेश्वर का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। हर्ष के प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी दिग्विजयों का पूर्ण विवरण हमें बाण भट्ट के ग्रन्थ से ही मिलता है।

रामचरित—**संध्याकरनन्दी** ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। अपने ग्रन्थ में कवि ने इतनी विलक्षण वर्णन-शैली रक्खी है कि एक ओर तो संपूर्ण रामायण वर्णन की कथा मालूम होती है तथा दूसरी ओर बंगाल के रामपाल का वर्णन स्पष्ट रूप से होता है। पाल वंश के इतिहास पर यह पुस्तक पर्याप्त प्रकाश डालती है।

कुछ अन्य जीवनियाँ--**बल भी चरित्र** (लेखक **अनन्त भट्ट**) **ऋतुराज** विजय (**ले० जयानक**), **पृथ्वीराज चरित्र** (**ले० चन्दबरदाई**), **कुमार पालचरित** (**ले० जय सिंह**) आदि असंख्य जीवनियाँ स्थानीय इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। **नवसाह-सांकचरित्र, विक्रमांक देव चरित्र, भोज प्रबन्ध, हम्मीर काव्य** आदि इसी कोटि की जीवनियाँ हैं जिनसे अनेक राजवंशों के इतिहास पर थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इन जीवनियों में लम्बी-चौड़ी बातों, तिल का ताड़ बनाने और काल्पनिक घटनाओं का अभाव नहीं है। ये पूर्णतया अतिरञ्जित और अत्युक्तिपूर्ण हैं फिर भी इनका स्थानीय ऐतिहासिक महत्व है।

विशुद्ध साहित्य

विशुद्ध साहित्य से हमारा अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो पूर्णतया साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये हैं अर्थात् जिनका उद्देश्य पूर्णतया साहित्यिक सृजन रहा है। इन साहित्यिक ग्रन्थों से देश की सांस्कृतिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे ग्रन्थ में **हर्ष** द्वारा रचित नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नामक तीन नाटक, **महाकवि कालिदास** के कुछ नाटक **गुणाढ्य की वृहत् कथा**, **क्षेमेन्द्र की वृहत् कथामञ्जरी** आदि हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भाषा और साहित्य की गतिविधि का अध्ययन करने के लिए हमें संपूर्ण भारतीय साहित्य को लेना पड़ता है। अतः इन विशुद्ध **साहित्यिक** ग्रंथों का भी सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पुरातात्विक सामग्री

पुरातात्विक सामग्री को भी सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया गया है : (१) अभिलेख, (२) प्राचीन स्मारक तथा (३) मुद्रायें। अभिलेखों के भी दो प्रकार हैं—(अ) देशीय अभिलेख, (ब) विदेशीय अभिलेख। इसी प्रकार प्राचीन स्मारक भी देशीय और विदेशीय दो प्रकार के हैं। भारतीय मुद्रायें और अभारतीय मुद्रायें नाम से मुद्राओं को भी दो उपविभागों में बाँटा गया है। यहाँ हम इन पुरातात्विक सामग्रियों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

पत्थर की शिलाओं अथवा ताम्रपत्रों आदि पर लिखे गए लेखों को अभिलेख कहा जाता है। इन अभिलेखों का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व होता है। इसमें जो कुछ लिखा होता है उस पर काफी विश्वास किया जा सकता है। ये ठोस हैं, इसीलिए अमिट हैं। इसमें प्रक्षिप्तांशों की आशंका बहुत कम रहती है। इन्हीं सब कारणों से इतिहास जानने के साधनों में अभिलेखों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

अशोक के पहले के अभिलेख नहीं मिलते हैं किन्तु उसके पश्चात् अभिलेखों की भरमार हो जाती है और ये अभिलेख भारतीय इतिहास के बहुत बड़े अंग को प्रकाशित करने लगते हैं।

अशोक कालीन अभिलेख—अशोक ने जैसा कि हम आगे देखेंगे अपने साम्राज्य में और अन्य स्थानों पर भी अपने लेख स्थापित किये। इन अभिलेखों से हमें मौर्यकालीन भारत की पूर्ण राजनीतिक अवस्था का ज्ञान भले न हो, पर इतना तो मानना पड़ेगा कि इन्हीं अभिलेखों से हमें भारतीय इतिहास के एक अमर सम्राट् अशोक महान् के सम्पूर्ण जीवन का बोध होता है। देश में समाज, धर्म और राजनीति की क्या गति-विधि थी इस पर भी आंशिक प्रभाव अशोककालीन अभिलेखों से पड़ता है।

अशोक के पश्चात् के अभिलेख—गुप्त काल के पहले के असंख्य अभिलेख प्राप्त हुए। इनकी संख्या १५०० तक बतलाई जाती है; पर इन सब में हरिषेण की **प्रयाग प्रशस्ति, भोज की ग्वालियर की प्रशस्ति, सेनवंशी राजा वियज सेन की प्रशस्तियाँ, एहोल अभिलेख, हाथी गुंफा का अभिलेख** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। हम आगे देखेंगे कि समुद्रगुप्त तथा भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग गुप्तकाल के इतिहास के अध्ययन में प्रयाग प्रशस्ति कितनी लाभप्रद होती है और इससे हमें कितनी सूचनाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार ग्वालियर की प्रशस्ति के अभाव में प्रतिहारों का इतिहास अन्धकारमय रह जाता। विजयसेन की प्रशस्तियाँ, ऐहोल अभिलेख तथा हाथी गुम्फा का अभिलेख क्रमशः सेन वंशीय नरेशों, चालुक्य नरेश, पुलकेशिन द्वितीय तथा खरवेला राजाओं के इतिहास की पर्याप्त सामग्री प्रदान करते हैं।

इन अभिलेखों की भाषा कई प्रकार की है जिसके आधार पर हम भाषा सम्बन्धी जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं और यह मालूम कर सकते हैं कि किस समय किस भाषा को राज्याश्रय प्राप्त था और उस भाषा की प्रमुख शैली क्या थी। प्रशस्तियों में वंश तालिका देने की परम्परा से हमें बहुत लाभ होता है क्योंकि इसके आधार पर राजकुलों की वंशावली ज्ञात की जा सकती है। दक्षिणी भारत में उत्तरी भारत की अपेक्षा अधिक अभिलेख पाये गये हैं; किन्तु ये अपेक्षाकृत कम प्राचीन हैं।

विदेशीय अभिलेख—ऊपर देशीय अभिलेखों का उल्लेख किया गया है। उन देशीय अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ विदेशीय अभिलेख भी हैं जिनमें भारतीय इतिहास पर कुछ-कुछ प्रकाश पड़ जाता है। एशिया माइनर बोगजकोई के लेख वैदिक देवताओं का उल्लेख करते हैं जिस पर हमें आर्यों के संक्रमण का बोध होता है। इसी पर **पर्सियोलस** तथा **नवसेरुस्तम** (ईरान) के अभिलेखों से प्राचीन भारत के तथा ईरान के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है।

प्राचीन स्मारक—प्राचीन स्मारक से हमारा मतलब उन वस्तुओं से है जो चित्र कला, भवननिर्माण कला, संगीत कला या नृत्य कला या इसी प्रकार की अन्य कलाओं एवं शिल्पों से सम्बन्धित हैं। प्राचीन समय में मनुष्य ने कला के विभिन्न क्षेत्रों में काफी उन्नति कर ली थी। उसने बड़े-बड़े भवन, सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ और अन्य कलाओं से सम्बन्धित दर्शनीय वस्तुओं का निर्माण किया था, किन्तु कला से बढ़कर काल है जिसने इन्हें नष्ट कर दिया। ये वस्तुएँ अपनी टूटी-फूटी अवस्था में आज भी धरती के नीचे दबी हैं और खुदाई करने वालों के अथक परिश्रम के पश्चात् वे प्रकाश में आती हैं। इन्हें देखकर हमें प्राचीन इतिहास और प्राचीन गौरव की स्मृति आ जाती है। इसलिए इन्हें प्राचीन स्मारक कहा जाता है। असंख्य स्थानों पर खुदाई करने पर भवन, राज प्रासाद, चैत्य, सार्वजनिक हाल, विहार, मठ आदि के खण्डहर प्राप्त होते हैं, जिनसे बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्रियाँ ग्रहण की जाती हैं। जैसा कि प्रारम्भ में ही बतलाया गया है इनके दो भेद हैं—देशीय तथा विदेशीय। इन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

देशीय—हमारे देश में मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, तक्षशिला, मथुरा, कोसम, सारनाथ, कसिया, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगिरि, साँची, भरहुत, लक्ष्मणेश्वर, अगदी, बनवासी, पत्तदकल, चित्तल दुर्ग, टालकर आदि स्थानों में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनसे हमारे इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। जैसा कि आप जानते हैं, मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई ने तो सिन्धु सभ्यता से हमारा नया-नया परिचय कराया है। दक्षिण के अगदो, लच्छमणेश्वर, बनवासी, पत्तदकल, चित्तल दुर्ग आदि की खुदाइयों से जो सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे भारत का धार्मिक इतिहास बहुत कुछ आभासित होता है। धरणी के ऊपर पाये जाने वाले प्राचीन स्मारकों का भी अभाव नहीं। असंख्य मन्दिर, स्तूप, गुफाएँ, बिहार, मठ, सार्वजनिक भवन आदि सम्पूर्ण भारत में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं जो समसामयिक धार्मिक प्रवृत्तियों, कला सम्बन्धी शैलियों, कलाकारों की सफलताओं, वाणिज्य व्यवसाय आदि पर काफी प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ **सारनाथ का घण्टाकार स्तम्भ मस्तक** उस प्राचीन काल की नक्काशी का उत्कृष्टतम उदाहरण है। **अजन्ता** तथा **ऐलोरा** की गुफाओं की गणना भी महत्वपूर्ण प्राचीन स्मारकों में की जाती है जिन्हें देखकर हम प्राचीन भारत की चित्रकला का बोध करते हैं। सैकड़ों की संख्या में पाये जाने वाले **हिन्दू मन्दिरों, बौद्ध बिहारों, पाठशालाओं** आदि से हम अपने प्राचीन इतिहास का आंशिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब भी हमें किसी काल के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करना पड़ता है तो इन्हीं प्राचीन इमारतों का सहारा लेना पड़ता है; क्योंकि इनसे न केवल कला की प्रगति का बोध होता है, प्रत्युत तत्कालीन धार्मिक अवस्था पर भी साथ-साथ पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

विदेशीय—भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी कुछ ऐसे प्राचीन स्मारक प्राप्त हुए हैं जिनसे भारतीय इतिहास पर आंशिक प्रभाव पड़ता है। जावर में **डींडा पठार का शिव मन्दिर, बोरोबोदूर तथा ब्रमवाम के देवालय, अंकोरवाट तथा अंकोरलाम**

आदि ऐसे ही स्मारक हैं जिनसे भारतीयों का औपनिवेशिक प्रसार एवं उनकी कला का बोध होता है। जावा में तुकमस नामक स्थान के भग्नावशेषों में शंख, चक्र, पद्म और त्रिशूल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण धर्म जावा तक फैल चुका था। मलाया में भी सुन-गेई-वतु में एक देवालय तथा कुछ पाषाण मूर्त्तियाँ मिली हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि यहाँ के रहने वाले हिन्दू मतावलम्बी थे और मन्दिरों में शिव, गणेश, पार्वती, नन्दी आदि की मूर्तियों से यह प्रकट होता है कि वहाँ इनकी पूजा बड़े धूम से होती थी। मलाया में कानों पर्वत पर एक टूटा हुआ **वैष्णव मन्दिर** और **विष्णु** की मूर्ति प्राप्त हुई है जो हमारे मत का समर्थन करती है। बोर्नियों में भी मुकरकमन नामक स्थान में एक स्वर्ण विष्णु मूर्ति मिली है। इसी प्रकार अन्य द्वीपों में भी गौतम बुद्ध या ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुईं जिस आधार पर हम अपने औपनिवेशिक प्रसार का अनुमान लगा सकते हैं और साथ-साथ यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार कहाँ तक हो सका था।

मुद्रायें

मुद्राएँ हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाती हैं। कुछ जाली सिक्कों को छोड़कर मुद्राएँ राजकीय होती हैं जिन पर काफी विश्वास किया जा सकता है। अतः इन मुद्राओं से हम अपने देश के इतिहास के अध्ययन में काफी सहायता लेते हैं। मुद्राएँ राजाओं की वंश परम्परा, शासन काल की तिथियों और प्राप्ति स्थान के आधार साम्राज्य विस्तार की ओर संकेत करती हैं। इन मुद्राओं से तत्कालीन आर्थिक अवस्था का भी थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकता है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त मुद्राओं का एक बहुत बड़ा महत्व यह है कि वे अपने सम्राट् के धर्म तथा उसकी व्यक्तिगत रुचि का ज्ञान कराती हैं। मुद्राओं पर उत्कीर्ण चिह्नों से हमें यह ज्ञात होता है कि अमुक राजा अमुक धर्म का अनुयायी था। यहाँ कुछ विशेष मुद्राओं द्वारा प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करके विषय को और स्पष्ट बनाया जायगा।

अत्यन्त प्राचीन काल की मुद्राएँ—प्राचीन कालीन मनुष्यों ने मुद्रण कला में विशेष उन्नति नहीं की थी, अतः वे अपनी मुद्राओं पर केवल कुछ चिह्न या भद्दे चिह्न बना लेते थे। यही कारण है कि इनसे कोई राजनीतिक सूचना तो नहीं मिलती है पर ये प्राचीन मोहरें उस समय की धार्मिक अवस्था का ज्ञान अवश्य कराती हैं।

यूनानी मुद्राएँ—हमारे देश के पश्चिमोत्तर भारत में यूनानियों ने लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया था। इनका इतिहास बहुत कुछ इन्हीं मुद्राओं से जाना जाता है। इन यूनानी सम्राटों की संख्या ३० से भी अधिक है और इन सबकी अपनी-अपनी मुद्राएँ हैं। यदि ये मुद्राएँ नहीं प्राप्त हुई होतीं तो इन यूनानी शासकों के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त अल्प होता।

सीथियन तथा पार्थियन मुद्राएँ—भारत में मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् विदेशीय सीथियन तथा पार्थियन का आधिपत्य स्थापित हुआ। इनका इतिहास जानने का बहुत बड़ा साधन मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य ही है क्योंकि इनके विषय में ऐतिहासिक सामग्रियों का अभाव है।

भारतीय सम्राटों की मुद्राएँ—वैसे तो सभी भारतीय सम्राटों के इतिहास की जानकारी के लिए उनकी मुद्राओं की पूछ होती है, किंतु ऐसे भी सम्राट् हैं जिनका इतिहास प्रधानतया मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य पर आधारित है। उदाहरणार्थ पांचाल, मालव,

यौधेय आदि भिन्न राजाओं का इतिहास जानने के लिये हमें उनकी मुद्राओं की ही सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार सातवाहनकुल के राजाओं का इतिहास भी मुद्राओं द्वारा प्रकाशित है। गुप्तवंश के इतिहास की कुछ गुत्थियों को उस काल की मुद्राओं से सुलझाने का प्रयास किया गया है।

प्रश्न

1. Critically examine the sources of Indian History for your period. (Sept. 1952).

अपने युग तक के लिये भारतवर्ष की ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन कीजिए।

2. Briefly state and examine the nature of the sources of Indian History prior to 1526. (Apr. 1953).

१५२६ ई० से पूर्व भारतवर्ष की ऐतिहासिक सामग्री का संक्षिप्त रूप में विवेचन कीजिए।

3. Give an account of the principal sources of information for reconstructing the History of India before 1000 A.D. (Sept. 1958).

१००० ई० से पूर्व के भारतवर्ष के इतिहास के सहायक मुख्य-मुख्य स्रोतों पर प्रकाश डालिए।

4. What is the importance of literary and archaeological evidences as source material for the study of History ?

इतिहास जानने के साधनों में साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों का क्या महत्व है ?

5. Write an essay on the archaeological evidences as source material of History.

इतिहास जानने की पुरातात्विक सामग्री पर एक निबन्ध लिखिए।

6. Discuss the importance of Puranas and Epics as sources of Indian History.

भारतीय इतिहास के साधनों में पुराण तथा महाकाव्यों के महत्व पर व्याख्या कीजिए।

अध्याय ३

सिन्धु घाटी की सभ्यता

आज से करीब ४० वर्ष पहले भारतवर्ष के इतिहास में सिन्धुघाटी की सभ्यता का कोई स्थान नहीं था। इतिहासकारों को इस सभ्यता का कोई ज्ञान नहीं था। इस सभ्यता का ज्ञान हमें किस प्रकार हुआ, यह इतिहास भी बड़ा रोचक है। आज से हजारों वर्ष पूर्व की यह सभ्यता धरती के नीचे अपने भग्नावशेष छोड़कर विलीन हो गई थी, किन्तु पुरातत्ववेत्ताओं के उत्साह, धैर्य तथा परिश्रम के फलस्वरूप आज हमें धरती के नीचे दबी हुई इस सभ्यता का ज्ञान प्राप्त हो सका है।

सिन्धु सभ्यता का प्रसार और समय

सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेष मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, झूकरदड़ो, अम्बाला, करार्ची, कलात (बलूचिस्तान) रूपड़ आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। अतः यहाँ तक इसका प्रसार मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण सिन्धु तथा पंजाब में यह सभ्यता प्रसरित थी। इस सभ्यता का प्रसार किस कारणवश सम्पूर्ण भारत में या कम से कम उत्तर भारत में नहीं हो सका इसका स्पष्ट ज्ञान हमें नहीं प्राप्त है। डा० दीक्षित ने तो इस सभ्यता का प्रसार राजपूताना, काठियावाड़, पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त तक बतलाया है। डा० गार्डन चाइल्ड तथा हाल महोदय इसका विकास-क्षेत्र बहुत दूर तक बतलाते हैं और वे इस सभ्यता को ही सुमेरियन सभ्यता की जन्मदात्री या उत्प्रेरिका बतलाते हैं। सर जान मार्शल का मत है कि सिन्धु-सभ्यता योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में फैली हुई थी और इसमें दजला-फरात की घाटी, हेलमन्द की घाटी और सिन्धु की घाटी सम्मिलित थी।

मूल और प्रसार की भाँति ही सिन्धु-सभ्यता के काल का प्रश्न भी अत्यन्त जटिल है। प्राप्त सप्तस्तरीय भग्नावशेषों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता का काल इस प्रकार अनुमानित किया है कि इन स्तरों में तीन युग पश्चात्कालीन हैं, तीन मध्य-कालीन हैं तथा एक प्राचीन है और यदि प्रत्येक स्तर का समय ५०० वर्ष का भी माना जाय तो इस हिसाब से इस सभ्यता का प्रसार काल ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी समान मुहरें सिन्धु तथा एलम और मेसोपोटैमियाँ में प्राप्त हुई जिनके आधार पर भी इस सभ्यता को २८०० ई० पू० का कह सकते हैं, यद्यपि सिन्धु के समान ये मुहरें पश्चात्कालीन हैं। मुहरों के अतिरिक्त वास्तु-कला सम्बन्धी यहाँ कुछ अन्य भग्नावशेष भी ऐसे प्राप्त हुए हैं जो मेसो-पोटैमियाँ के समान हैं। अतः इस सभ्यता को यदि मेसोपोटैमियाँ से प्राचीन नहीं तो सम-कालीन अवश्य मान सकते हैं। बगदाद के निकट प्राचीन एरानन में उत्खनन् द्वारा प्राप्त अन्य वस्तुओं के साथ जो २५०० ई० पू० की प्रमाणित हो चुकी हैं, कुछ भारतीय वस्तुएं भी प्राप्त हुई हैं जिससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता इसके पूर्व की है।

सिन्धु सभ्यता के निर्माता

अब तक इसके निर्माताओं के विषय में कई मत प्रचलित हैं। अस्थियों के अवशेषों तथा प्रतिमा-मस्तकों के वैज्ञानिक अध्ययन से ऐसा परिलक्षित होता है कि सिन्धु-सभ्यता के निर्माता एक जाति के नहीं थे वरन् कई जातियों के सम्मिश्रण से इस सभ्यता का निर्माण हुआ था। इन मिश्रित जातियों में प्रागस्त्रलायद (Proto-Australoid), मेडिटरेनियन, अल्पाइन तथा मंगोल विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रागस्त्रलायद लोग निश्चय ही भारत के किसी भाग से ही यहाँ आये होंगे और मंगोल तथा अल्पाइन क्रमशः पूर्वी तथा पश्चिमी एशिया से स्थानान्तरण करके यहाँ बस गये होंगे। कुछ विद्वान् द्रविणों को इस सभ्यता का निर्माता मानते हैं और कुछ भारतीय आर्यों को ही इसका श्रेय देते हैं। सुमेरियन तथा उनकी अन्य जातियों को भी इस सभ्यता का निर्माता मानने के लिये अनेक इतिहासकार तैयार हैं। अनुमान यह है कि द्रविड़ ही (चाहे वे उस अनादि काल में जिस रूप-रंग के रहे हों) भारत के किसी भाग से या पश्चिम की ओर से स्थानान्तरण करके यहाँ बस गये और कुछ अन्य जातियों (सम्भवतः प्रागस्त्रलायद जाति) के सम्मिश्रण से इस सभ्यता के निर्माण में तल्लीन हो गये।

खुदाइयों के भिन्न-भिन्न स्थान

सिन्धु सभ्यता का विवरण हमें निम्नलिखित स्थानिक खुदाइयों से प्राप्त होते हैं :—

(१) मोहनजोदड़ो, (२) हड़प्पा, (३) अम्बाला, (४) कराँची, (५) झूकरदड़ो, (६) कलात (बलूचिस्तान) (७) रूपड़।

उपरोक्त खुदाइयों में सभ्यता के वास्तविक रूप को सम्मुख लाने का श्रेय मोहन-जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों को ही दिया जा सकता है क्योंकि ये ही सिन्धु सभ्यता के केन्द्र थे और अधिकांश भग्नावशेष (कम से कम सभी महत्वपूर्ण भग्नावशेष या प्राचीन स्मारक) यहीं प्राप्त हुए हैं। अतः इन दोनों स्थानों की भौगोलिक स्थिति तथा उनकी खुदाइयों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा।

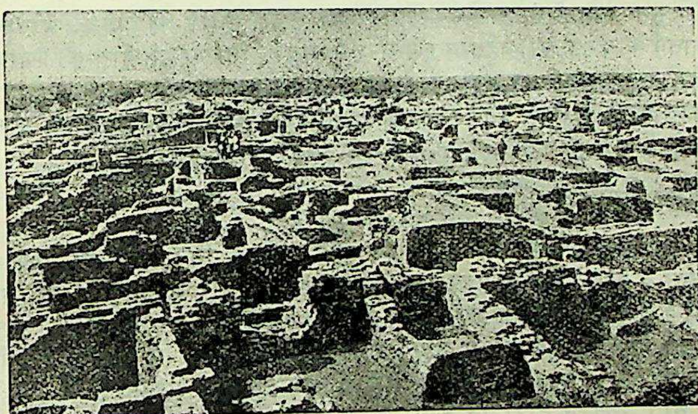
मोहनजोदड़ो—मोहेनजोदड़ो का शाब्दिक अर्थ 'शवों की ढेरी' है। यह सिन्ध के लरकाना जिले में सिन्धु तथा नर नहर के मध्य स्थित है। सर्वप्रथम १९२२ ई० में 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' के पश्चिमी सर्किल के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी को यहाँ एक बौद्ध समाधि प्राप्त हुई थी। इस आशा से कि यहाँ बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ सामग्रियाँ प्राप्त होंगी, बनर्जी ने उत्खनन्-कार्य आरम्भ करवाया। पर यहाँ बौद्ध सामग्रियों का अवशेष न मिलकर एक पूरी सभ्यता का अवशेष प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् पानी को छूती हुई सात तहों तक खुदाई हुई। इन खुदाईयों में इतनी प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई कि लिखित विवरण के अभाव में भी (यद्यपि उक्त विवरण का अभाव न होते हुए भी लिपिबद्ध सामग्री का अपठनीय होना एक प्रकार का अभाव-सा ही है) हम उस प्राचीन सभ्यता की रूप-रेखा अंकित कर पाते हैं।

हड़प्पा—यह माँटगोमरी जिले में एक स्थान है। यहाँ सर्वप्रथम १९२२ ई० में दयाराम साहनी ने अन्वेषण-कार्य आरम्भ किया था और कुछ भग्नावशेष प्राप्त किये; किन्तु तत्पश्चात् आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के डाइरेक्टर जनरल सर जान मार्शल के निरीक्षण में यहाँ पर्याप्त उत्खनन्-कार्य हुआ जिससे धरती में छिपी हुई सभ्यता का परिचय प्राप्त हुआ।

सिन्धु सभ्यता का अध्ययन करने के लिये हमें प्राप्य भग्नावशेषों को ही पृथक्-पृथक् विचाराधीन रखना होगा क्योंकि ये ही उस सभ्यता के मूक इतिहास हैं।

भग्नावशेष

भवन—कच्चे-पक्के, छोटे-बड़े हर प्रकार के भवनों के भग्नावशेष उत्खनन् द्वारा प्राप्त हुए हैं। यहाँ मकान चौकोर बनाये जाते थे। बीच में एक आँगन होता था, और उसके चारों ओर छोटे-बड़े कमरे होते थे। यहाँ के मकानों में दरवाजे, खिड़कियाँ, स्नानघर, पानी रखने का स्थान आदि के अतिरिक्त कूड़ादान एवं जल निकालने वाली नालियाँ भी बनी होती थीं। लकड़ी और ईंटों से मकान की छतें पटी होती थीं। मोहेन-जोदड़ो एवं हड़प्पा के मकानों की एक विशेषता यह थी कि किसी भी मकान का दरवाजा या कोई खिड़की प्रमुख राजमार्ग की ओर नहीं खुलती थी। दो कमरे वाले मकानों से लेकर बड़े-बड़े राजमहलों के सदृश विशाल भवनों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें एक बहुत ही विशाल भवन है, कुछ बहुत बड़े-बड़े हाल भी हैं जो सार्वजनिक भवन, पाठशाला या मन्दिर हो सकते हैं। एक ९० वर्ग फीट वाला हाल भी प्राप्त हुआ है। पक्की ईंटें भी भिन्न-भिन्न आकार की प्राप्त हुई हैं। इनमें कुछ २०॥ इंच लम्बी, १०॥ इंच चौड़ी तथा ३॥ इंच मोटी होती थीं।



चित्र १—मोहनजोदड़ो के खंडहर

स्नानागार—खुदाइयों में अब तक जितने भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट एक स्नानागार है। इसका विवरण इस प्रकार है—

(१) चारों ओर बरामदे जिनके पीछे गैलरियाँ हैं तथा चारों ओर कमरे हैं, (२) एक कुण्ड जिसकी लम्बाई ३० फीट, चौड़ाई २३ फीट तथा गहराई ८ फीट है और दोनों ओर जल की सतह को छूती हुई सीढ़ियाँ हैं। (३) कुएँ हैं जिनसे आवश्यकता पड़ने पर स्नानागार के कुण्ड को भरा जाता था। (४) महान् स्नानागार की कुल लम्बाई १८० फीट, चौड़ाई १०८ फीट है तथा इसकी बाहरी दीवारों की मोटाई ८ फीट है। जलाशय के जल की सुरक्षा तथा उसकी नींव को सुदृढ़ रखने के अभिप्राय से यहाँ के राजगीरों ने विशेष चातुर्य से काम लिया है। जलाशय को जल से भरने या रिक्त करने के लिए जो व्यवस्था की गई है वह निश्चय ही काफी असाधारण है। एक ६ फीट से भी अधिक ऊँची प्रणालिका पाई गई है जिससे पानी निकाला जाता रहा होगा।

नगर—नगरों के भग्नावशेषों के आधार पर ही पुरातत्त्ववेत्ताओं ने ऐसा अनुमान किया है कि निश्चय ही सिन्धु घाटी की सभ्यता नगर-सभ्यता थी, वैदिक सभ्यता की भाँति यह ग्राम्य-सभ्यता नहीं थी। उत्खनन् द्वारा उस प्राचीन दिव्य नगर का जो ध्वंसावशेष प्राप्त हुआ है उसे देखकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नगर-निर्माण एक निश्चित योजना (Plan) द्वारा होता था। यहाँ की सड़कें काफी चौड़ी हैं जिनसे छोटी-छोटी शाखाएँ और गलियाँ फूटी हैं। यहाँ सड़कों के चौराहे और तीन मुहानियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सम्पूर्ण नगर में मोरियों का जाल बिछा था।

नगरों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। सड़कों के किनारे कूड़ा फेंकने के बहुत बड़े-बड़े बर्तन प्राप्त हुए हैं जिससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यहाँ म्यूनिसिपल बोर्ड-सी कोई संस्था अवश्य रही होगी जो नगर की सफाई करती थी।

धातु एवं तत्सम्बन्धी सामग्रियाँ—जो कुछ भग्नावशेषों के रूप में प्राप्त हुआ है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सिन्धु घाटी के निवासियों ने सोना, चाँदी, टिन, ताँबा, काँसा, सीसा आदि का प्रयोग जान लिया था; पर वे लोहे का प्रयोग नहीं जानते थे या यों कहें कि वहाँ लोहे का अभाव था। सोने का प्रयोग आधुनिक युग की भाँति ही आभूषण में होता था। कुछ कीमती पत्थरों के आभूषण भी बनाये जाते थे।

सूत कातने के चर्खे—मोहेनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त भग्नावशेषों में सूत कातने के चरखे का बहुतायत से घरों में पाया जाना भी इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों सूत कातना साधारण कार्य था और प्रत्येक व्यक्ति इस कार्य को करता था। सूत प्राप्त करने के लिये इनके पास ऊन तथा रुई दोनों प्रसाधन प्राप्त थे। एक रजत-कलश से लिपटा हुआ सूती कपड़े का एक टुकड़ा प्राप्त हुआ है।

सामाजिक अवस्था

भोजन—लगभग सभी प्राचीन सभ्य देशों के निवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा है क्योंकि मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट है और अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उसे जो कुछ कम या अधिक ज्ञान प्राप्त हो सका वह प्रकृति-सम्बन्धी ही था। सिन्धु घाटी के निवासियों ने भी इस क्षेत्र में काफी उन्नति कर ली थी। सौभाग्यवश वहाँ जल का बाहुल्य था, अतः सिंचाई सम्बन्धी किसी कठिनाई का सामना इन्हें नहीं करना पड़ता था। उत्खनन् द्वारा गेहूँ तथा जौ के दाने प्राप्त हुए हैं। ये शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों थे, दूध के प्रयोग से भी ये परिचित थे।

वसन—सूत कातने के चर्खों तथा सूती कपड़े के एक टुकड़े की प्राप्ति का उल्लेख ऊपर किया गया है जिससे स्पष्टतः वे सूती, ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे। उनके वस्त्र सम्बन्धी ज्ञान के लिए सौभाग्यवश एक पुरुष की मूर्त्ति प्राप्त हुई है जो शाल ओढ़े है। वे धोती का या इसी से मिलते-जुलते किसी वस्त्र का प्रयोग करते रहे होंगे। स्त्रियों के वस्त्र भिन्न थे। स्त्रियाँ सर पर एक विशेष वस्त्र पहनती थीं जो पीछे की ओर पंख-सा उठा रहता था।

आभूषण—सिन्धु घाटी के स्त्री-पुरुषों को आभूषणों से विशेष प्रेम था। धनी एवं निर्धन सभी समान रूप से इस ओर आकृष्ट थे। कुछ आभूषण ऐसे थे जो स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। इन आभूषणों में हार, भुजबन्द, कंगन और मुद्रिका प्रमुख हैं। स्त्रियों के आभूषणों में नथुनी, करधनी, बाली आदि अधिक प्रचलित थीं। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है सोना, चाँदी, कीमती पत्थर आदि अनेक धातुओं

और खनिजों से ये परिचित थे। अतः धनी लोगों के आभूषण सोना, चाँदी, मणियों एवं जवाहिरातों के होते थे और निर्धनों के आभूषण सुलभ हड्डियों, ताँबे तथा पकी मिट्टियों के होते थे।

विलास संबन्धी अन्य सामग्रियाँ—शृंगार की ओर स्त्रियों की विशेष अभिरुचि थी। हाथी दाँत की कंघियों तथा पीतल के आइने का प्रयोग वे करती थीं। मुख तथा ओष्ठ रँगने के लिए भी एक विशेष प्रकार के पदार्थ का प्रयोग करती थीं।

आमोद-प्रमोद—जीवन में आमोद-प्रमोद का महत्व उस प्राचीन काल में भी कम न था। प्राचीन काल का प्रिय खेल शतरंज यहाँ के निवासियों का प्रिय खेल था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि उनके मनोरंजन का एक अन्य साधन आखेट भी था। पक्षियों को पालकर ये उन्हें लड़ाते थे। मुर्गों की लड़ाई का इन्हें विशेष शौक था। कुछ ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर तुरही, वीणा आदि के चित्र उत्कीर्ण हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि नृत्य एवं संगीत से भी इन्हें प्यार था। काँसे की एक नर्तकी की मूर्त्ति भी इस सत्य को प्रमाणित करती है।

उत्खनन् द्वारा असंख्य खिलौने प्राप्त हुए हैं जिनमें झुनझुने, सीटियाँ, गाड़ियाँ जिनमें बैल जुते रहते थे और जिन पर चिड़ियाँ बैठाई जाती थीं आदि प्रधान हैं। ये सारे खिलौने बहुधा मिट्टी के होते थे। नर-नारियों एवं पशु-पक्षियों की आकृतियाँ भी मिट्टी की बनाई जाती थीं।

रहन-सहन के कुछ अन्य ढंग—भवनों एवं नगरों का वर्णन करते समय हमने बताया है कि इनके भवन हवादार एवं स्वच्छ होते थे। भवनों की सादगी से कुछ ऐसा भी आभासित होता है कि वे अपने भवनों को कुछ ऐसी वस्तुओं से सजाते रहे होंगे जो शीघ्र-नश्य रही होंगी। पर अलंकार से परे रहना इनके लिए सम्भव जान नहीं पड़ता। ये छोटी दाढ़ी-मूछें रखते थे। कंघी की सहायता से ये अपने बालों को पीछे की ओर फेरते थे।

तौल के बटखरे—उत्खनन् द्वारा पर्याप्त मात्रा में बटखरे प्राप्त हुए हैं। छोटे बटखरे बिल्लौर स्लेटी पत्थर के हैं और वे प्रायः छपहले आकृति के हैं किन्तु बड़े बटखरे गोल पेंदों के नोकीले हैं। इतिहासकारों का ऐसा मत है कि ये बटखरे अपनी शुद्धता में मेसोपोटैमियाँ तथा एलम के बटखरों से भी बढ़कर हैं।

अन्तिम क्रिया—ये तीन प्रकार से अपने शवों की अन्तिम क्रिया करते थे—(१) या तो उनको पूरी समाधि दे दी जाती थी। (२) या पहले शव को खुले स्थान में इसलिए छोड़ दिया जाता था कि वह पशु-पक्षियों का आहार बनें और तदुपरान्त अवशेष अस्थि-पंजर को दफना देते थे। (३) या पहले शव को जला देते थे और तब भस्म को भाण्ड में रखकर दफना देते थे।

सामाजिक संगठन—यहाँ सम्पूर्ण समाज चार वर्गों में विभक्त था—(१) विद्वान्, (२) योद्धा, (३) व्यापारी तथा (४) श्रमजीवी।

पुजारी, ज्योतिषी तथा वैद्य आदि की गणना विद्वान् वर्ग में की जाती थी। सैनिक कार्य करने वाले तथा जन-रक्षकों को योद्धा वर्ग में रक्खा गया था। औद्योगिक कार्य करने वाले तथा वणिकों का तृतीय वर्ग व्यापारियों का था। चतुर्थ वर्ग में घर में काम करने वाले नौकर तथा अन्य श्रमजीवी थे। छोटे-मोटे घरेलू उद्योग-धन्धों में लगे हुए व्यक्तियों को भी इसी वर्ग में रक्खा गया था।

आर्थिक दशा

प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि इनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। कृषि-कार्य के सहायक उद्योग पशु-पालन से भी ये जीविका उपार्जन करते थे। इनके पालतू पशुओं में बैल, गाय, सुअर, कुत्ते और हाथी प्रमुख थे। इनके घरों में सुअर, घड़ियाल, मछलियों तथा चिड़ियों की भी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं; जिन्हें सम्भवतः ये मारकर खाते थे। कुछ पत्रों पर गैंडा, चीता, भालू, बन्दर तथा खरगोश के भी चित्र उत्कीर्ण हैं जिनसे ये परिचित मालूम पड़ते हैं।

विभिन्न प्रकार के घरेलू उद्योग-धन्धे भी इनकी जीविका के प्रमुख साधन थे। इनमें स्वर्णकारी, कुम्भकारी, बढ़ईगिरी, लुहारी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कुम्भकार चाक द्वारा रकाबियाँ, कटोरियाँ, प्यालियाँ, मटके, कुण्डे, भाण आदि बनाते थे। मिट्टी के खिलौने बनाकर भी ये अच्छी आय कर लेते थे। मिट्टी के बर्त्तनों एवं खिलौनों के अतिरिक्त ये दीवट, चूहेदानी तथा पिंजड़े भी मिट्टी के बनाते थे।

बढ़ई का महत्व भी इन दिनों कम न था। बच्चों की गाड़ियाँ और कुर्सियाँ तथा इसी प्रकार के अन्य छोटे-छोटे सामान बढ़ई बनाते थे। भवन-सम्बन्धी लकड़ी की सामग्रियाँ, दरवाजे, खिड़कियाँ आदि बनाने में भी ये काफी दक्ष थे। अस्त्र-शस्त्र तथा आभूषणों के अतिरिक्त धातु की अन्य समस्त सामग्रियाँ बनाने वाले को लुहार कहा गया है। ये ताँबा, काँसा आदि से गदा, फरसा, खंजर, बर्छे, धनुष-वाण आदि बनाते थे। धातुओं के बर्त्तन भी यही लोग बनाते थे।

इनके अतिरिक्त जौहरी, हाथी दाँत के काम करने वाले, रँगरेज, पत्थर काटने वाले, विभिन्न प्रकार के लोग नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

कृषि, पशु-पालन एवं घरेलू उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में भी इन लोगों ने पर्याप्त उन्नति की थी। इनका विदेशी व्यापार सुमेरिया तक फैला था।

धार्मिक दशा

इनके धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख साधन मुहरें, ताबीजें मूर्त्तियाँ आदि हैं।

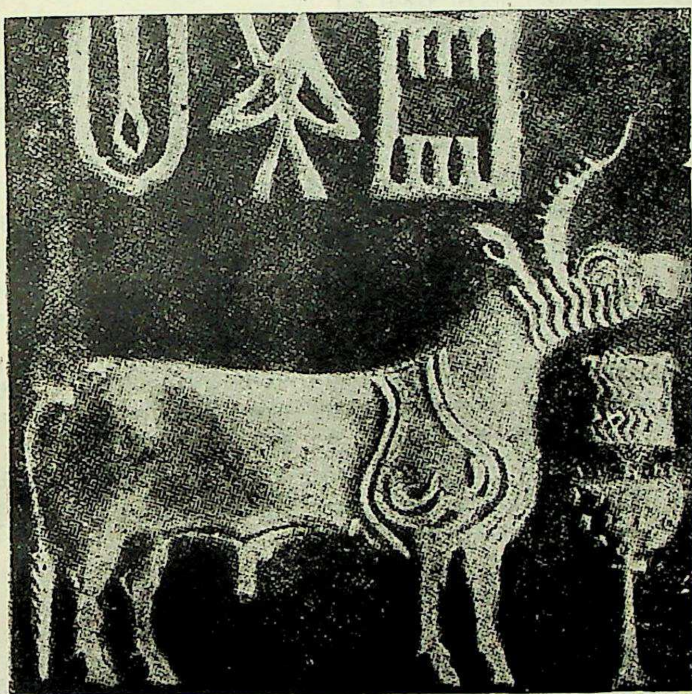
मातृदेवी की उपासना—मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा में असंख्य देवियों की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। विद्वानों का यह मत है कि ये मूर्त्तियाँ मातृ देवी या प्रकृति देवी की हैं। ये मातृ देवी की पूजा बलि द्वारा करते थे और बलि में नर-बलि भी सम्मिलित थी।

आदि पशुपति की उपासना—एक सील पर एक देवता की मूर्त्ति उत्कीर्ण है। इस देवता के तीन मुख और दो सींग हैं। यह योगासन में बैठा है। इसके दाहिने ओर एक हाथी और सिंह है, बाँई ओर बारहसिंहा तथा भैंसा चित्रित है। सर पर शिरस्त्राण है। आसन के नीचे एक दो सींग वाला हिरन है। विद्वानों ने इस चित्र का गहन अध्ययन किया है। तीन मुख से त्रिमुख और त्रिनयन (शंकर भगवान का) अनुमान किया गया है। इस प्रकार यहाँ आदि पशुपति की पूजा का आभास मिलता है।

योनि-पूजा—शिव एवं शक्ति की उपासना के साथ-साथ लिंग-पूजा या योनि-पूजा भी प्रचलित थी। शिव की पूजा के साथ लिंग की पूजा का विकास होना हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति से समता स्थापित करता है। पत्थरों का बना हुआ लिंग तथा योनि की आकृतियाँ सिन्धु तथा बिलोचिस्तान दोनों स्थानों में पाई गई हैं। लिंग-पूजा से शिव या आदि पशुपति की पूजा निश्चय ही प्रमाणित हो जाती है।

वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा—वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा के प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलते हैं। वृक्ष-पूजा दो रूपों में होती थी—(१) वृक्ष को उसके प्राकृतिक रूप में पूजना तथा (२) प्रतीकात्मक रूप में, अर्थात् उस वृक्ष में किसी देवता का निवास मानकर। पीपल की दो डालों के बीच में एक देवता का चित्र मोहेनजोदड़ो में प्राप्त हुआ है। इस देवता की आराधना में सात अन्य मूर्त्तियाँ चित्रित की गई हैं जो नारी चित्र हैं।

पशु-पूजा—सिन्धु सभ्यता के निवासी पशु-पूजा भी करते थे। उनकी पशु-पूजा का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि पशुओं की आकृतियाँ कुछ विशेष आकार-प्रकार की बनाते थे। कुछ पशु आधे मनुष्य और आधे पशु थे। आधा भेंड़ा और आधा बकरा, आधा हाथी और आधा बैल या इसी प्रकार के अन्य मिश्रण से किसी पशु की आकृति का निर्माण करना यह सिद्ध करता है कि वे पशुओं में भी दैवी अंश मानते थे और उनकी आराधना करते थे।



चित्र २—मोहेनजोदड़ो की कला

धार्मिक प्रथाएँ—इनकी धार्मिक प्रथाओं के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक अन्ध-विश्वासों, जादू-टोना आदि का अधिक प्रचार ज्ञात होता है। सिन्धु-सभ्यता में भी हमें इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों का पता चलता है। स्वर्ग-नरक के विषय में इनकी कोई कल्पना थी या नहीं, यदि थी तो क्या थी, इसका भी कोई ज्ञान हमें नहीं है। आमिषाहारी होने के कारण इनकी धार्मिक प्रथाओं में से कुछ हिंसात्मक भी रही होंगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है पर इसका भी कोई मान्य साक्ष्य नहीं है।

कला

कला के क्षेत्र में यहाँ के कलाकारों ने काफी उन्नति की थी। सुविधा के लिए इनकी विभिन्न कलाओं का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

भवन-निर्माण-कला—इनके भवन यद्यपि स्वच्छ एवं सुडौल होते थे पर इनमें कलात्मकता का अभाव था। विशाल भवनों एवं हालों को देखकर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वे इस कला में दक्ष थे और मकानों को अधिक से अधिक उपयोगी बनाना चाहते थे। वृहत्-स्नानागार इनकी इस कला का द्योतक है।

मूर्तिकला—वास्त में यहाँ के कलाकार मूर्त्ति-कला में ही विशेष उन्नति कर सके थे। इनकी मूर्त्तियाँ अधिक कलात्मक एवं कल्पनापूर्ण हैं। यहाँ नर्त्तकी की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। नर्तकी त्रिभंगी मुद्रा में नर्तन करने के लिए प्रस्तुत है। वह पैर ऊपर उठा कर पद-प्रक्षेप करना चाहती है।

मुहर-निर्माण-कला—इस क्षेत्र में तो यहाँ के मनुष्यों ने आशातीत उन्नति की थी। मुहरें भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्थरों, हाथी दाँत, धातुओं तथा मिट्टी की बनाई जाती थीं। इनके आकार भी विभिन्न हैं। अधिकांश मुहरें गोलाकार हैं। मुहरों की सुन्दरता उन पर उत्कीर्ण पशु-आकृतियों से और बढ़ जाती है।

अन्य कलाएँ—कुम्भकार-कला, स्वर्ण-कला, बर्त्तन बनाने की कला आदि पर पहले ही प्रसंगतः प्रकाश डाला जा चुका है। चित्र-कला का स्वतन्त्र रूप देखने को नहीं मिलता पर इससे अनुमान लगाना कि वे चित्रकला से अनभिज्ञ थे, तर्कसंगत नहीं। वास्तव में चित्र-कला का प्रदर्शन बहुधा शीघ्र-नश्य वस्तुओं पर होता है जिनका इतने दिनों तक सुरक्षित रहेना असम्भव ही है। मिट्टी के बर्त्तनों और ताबीजों पर जो चित्र बने हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि वे चित्र-कला से परिचित रहे होंगे।

लेखन-कला—यहाँ के निवासी लिखना-पढ़ना अवश्य जानते थे, जैसा कि मुहरों पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है पर कोई लेख-पत्र नहीं प्राप्त हुआ है। लगभग ५०० मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर कुछ लिखा है। इनकी लिपि चित्रात्मक प्रतीत होती है और प्रत्येक चिह्न किसी शब्द या वस्तु विशेष के लिए बना है। ये दाहिने से बायें को लिखते थे पर कुछ मुहरों में कुछ पंक्तियाँ बायें से दायें को भी चलती हुई पाई गई हैं। दुर्भाग्यवश इनकी लिपि अब तक नहीं पढ़ी जा सकी है।

प्रश्न

1. Give a brief account of the Indus Valley Civilization and contrast it with the early civilization of the Āryans. (Sept. 1954).

सिन्धु घाटी सभ्यता का संक्षेप में वर्णन देते हुए इस सभ्यता का आर्यों के प्रारम्भिक सभ्यता से भिन्नता प्रदर्शित करें।

2. Give a brief account of the important features of the Indus Valley Civilization. When dit it flourish and what were the causes of its disappearance ? (1948).

सिन्धु प्रदेश की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उसके फैलने तथा समाप्त होने के कारणों का वर्णन कीजिये।

3. Write a critical note or Indus Valley Civilization. (Sept. 1957).

सिन्धु घाटी की सभ्यता पर संक्षेप में टीका टिप्पणी करें।

अध्याय ४

भारतीय आर्यों का मूल

आर्य जाति

आर्यों के आदि देश के विषय में खोज करने वाले अन्वेषकों का अभाव नहीं है और न तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही अभाव है। मैक्समूलर, वेन्फे, गाइजर, पी० गाइल्स, बालगंगाधर तिलक आदि अनेक प्रकाण्ड विद्वानों एवं महारथियों ने इस क्षेत्र में अन्वेषण किया है और इस प्रकार अपने पाण्डित्य द्वारा आर्यों के इस अज्ञात आदि निवास-स्थान को बताने का प्रयास किया है। अपने अन्वेषण का आधार इन विद्वानों ने भाषा-विज्ञान, जाति-विषयक विशेषताएँ तथा पुरातात्विक उपकरण रक्खा है। आर्यों के आदि निवास-स्थान का जो वर्गीकरण किया गया है उससे यह ज्ञात होता है कि विद्वान् **आर्यों का आदि देश योरप में ही बताते हैं**, कुछ लोग **मध्य-एशिया को वह स्थान घोषित करते हैं**, कुछ विद्वानों के मतानुसार **वह भूमि आर्कटिक प्रदेश में कहीं थी** और कुछ इतिहासकार **भारत को ही आर्यों की मूल भूमि प्रमाणित करते हैं**। इन समस्त मतों पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

आदि देश योरप—इस मत का प्रथम प्रचारक हम फ्लोरेंस के एक सौदागर फिलिप्पोसैसेटी को कह सकते हैं। इसने यह घोषित किया कि भारत की संस्कृत भाषा तथा योरप की अन्य भाषाओं में कुछ साम्य है। उक्त सौदागर के विचारों का समर्थन सर्वप्रथम बंगाल के प्रधान न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। इन्होंने पितृ, मातृ आदि शब्दों के साम्य को योरप की अन्य भाषाओं में दिखलाया। पर यह साम्य अधिक से अधिक केवल यह सिद्ध करता है कि उपरोक्त भाषा-भाषी कभी कहीं एक स्थान पर रहे होंगे। कुछ आलोचकों का कहना है कि भाषा का साम्य केवल इसीलिए नहीं हो सकता कि उसके भाषा-भाषी एक ही जाति के हों। किसी एक स्थान पर दो विभिन्न जातियाँ रह सकती हैं और उनमें भाषा-सम्बन्धी साम्य हो सकता है। भाषा-सम्बन्धी साम्य के आधार पर योरप को आर्यों का आदि देश मानने वालों का यह तर्क है कि भारोपीय (इन्डोयोरोपियन) भाषाएँ काफी अधिक संख्या में योरप के सीमित क्षेत्रों में ही पाई जाती हैं। योरप के बाहर या बहुत दूर इनका प्रयोग नाममात्र को ही है और केवल नगण्य रूप में वहाँ इनके मुहाविरे बिखरे-से हैं।

योरप के विभिन्न भागों को आर्यों का मूल बताने वालों के तर्कों का विस्तृत वर्णन नीचे किया जायगा।

हंगरी का मैदान, दक्षिणी रूस तथा जर्मनी आदि को यह विवादास्पद भूमि विद्वानों द्वारा घोषित किया गया है। हंगरी के मैदान के समर्थक डा० पी० गाइल्स हैं। इन्होंने प्रसिद्ध पुस्तक (Cambridge History of India, Vol I) में लिखा है—

उनकी भाषा में हमें ज्ञात होता है कि किन-किन पशुओं एवं वृक्षों का उन्हें ज्ञान था। उन भाषाओं के साम्य से जिन्हें वे बोलते थे हम ऐसा अनुमान करते हैं कि

वे लोग पर्याप्त समय तक एक स्थान पर एक साथ रहे होंगे जिससे कई पीढ़ियों तक वे अपने विशेष गुणों में विकास लाते रहे। यह क्षेत्र गिरि-शृंखला अथवा जल द्वारा अन्य स्थानों से पृथक कर दिया गया होगा। इन भाषाओं के अध्ययन से हमें यह आभास नहीं मिलता कि यह लोग किसी द्वीप पर रहते रहे होंगे। यह भी सन्देहात्मक है कि समुद्र के लिए उन्हें किसी शब्द का बोध भी था। अतः यह असम्भव नहीं कि वह स्थान समुद्र से परिवेष्ठित हो। इनकी भाषाओं के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि इन्हें किन-किन वृक्षों का ज्ञान था। ये वृक्ष शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होते हैं। अतः आर्यों का आदि देश शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा। वह पर्वतमालाओं से भी घिरा रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किन फलों का उन्हें ज्ञान था। यह बहुत सम्भव है कि आर्य लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करते थे। जिन पशुओं का उन्हें ज्ञान था वे बैल, गाय, भेंड़, कुत्ता, सुअर, हिरन इत्यादि थे। गधे, खच्चर तथा हाथी से वे अपरिचित थे। जंगली पशुओं में उन्हें भेड़िया तथा भालू का ज्ञान था किन्तु बाघ अथवा सिंह से वे अपरिचित थे। बत्तख तथा गिद्ध को भी वे जानते थे। ये लोग खाद्यान्न, विशेषतः गेहूँ तथा जौ का प्रयोग जानते थे। योरप में कोई ऐसा अन्य प्रदेश नहीं है जहाँ ये सारी बातें प्राप्त हों। केवल हंगरी का मैदान ही ऐसा एक क्षेत्र है। इसके पूर्व में कारपेथियन पर्वत माला है। दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रियन, आल्प्स तथा बोहमरवाल्ड और उत्तर में एरजबर्ग तथा अन्य पर्वत मालाएँ हैं जो कारपेथियन से मिल जाती हैं। यह क्षेत्र बड़ा उपजाऊ है तथा इस मैदान में खाद्यान्नों के पौधे पाये जाते हैं। यहाँ घास के मैदान भी हैं जहाँ घोड़े पाले जा सकते हैं। पर्वत की उपत्यकाओं में भेड़ों के लिए काफी सुविधाएँ हैं। सुअर भी यहाँ मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के ज्ञात वृक्ष भी यहाँ पाये जाते हैं। अतः यही क्षेत्र आर्यों का आदि देश रहा होगा।

कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि आर्यों का आदि देश जर्मनी या जर्मनी प्रदेश में कहीं था। इन विद्वानों में पेन्का महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेन्का महोदय ने स्कैण्डिनेविया को आर्यों का आदि देश निश्चित किया है। अपने मत के समर्थन में इन्होंने जाति सम्बन्धी विशेषताओं का आधार लिया है। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर पेन्का के समर्थकों ने आर्यों का आदि देश पश्चिमी बाल्टिक समुद्र बतलाया है। इन समर्थकों का कहना है कि पूर्व पाषाण युग समाप्त हो जाने के पश्चात् जो युग आरम्भ होता है उस युग के मनुष्यों की निर्मित अनेकानेक वस्तुएँ यहाँ प्राप्त हुई हैं। ध्वंसावशेषों के आधार पर मध्य जर्मनी को भी आर्यों का आदि देश माना गया है। यहाँ जो पात्र प्राप्त हुए हैं उनके ज्योमितिक रेखा चित्र ठीक इण्डोयोरोपीय जान पड़ते हैं।

आर्यों की आदि देश की समस्या सुलझाते हुए विद्वानों ने योरप के दक्षिण के भाग को आर्यों का मूल बतलाया है। निश्चय ही यहाँ की भूमि उपजाऊ है, यह शीतोष्ण कटिबन्ध में पड़ता है और इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी तर्क उपस्थित किया है कि योरप का दक्षिणी भाग ही उन स्थानों के निकट है जहाँ विभिन्न योरोपीय आर्यों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ निवास करती हैं। इतना ही नहीं एशिया की अपेक्षा योरप में आर्यों की संख्या अधिक है, अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योरप के दक्षिणी मैदान में ही कहीं आर्यों का आदि देश है। स्थानान्तरण की सम्भावित सुविधाओं की ओर लक्ष्य करते हुए इस मत के समर्थकों का कथन है कि यहाँ बड़े-बड़े गहन जंगल, मरुभूमि तथा पर्वत-मालाएँ नहीं है। अतः यहाँ से पूर्व की ओर स्थानान्तरण

सरल है। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने दूसरा प्रमाण यह दिया है कि पर्यटन प्रायः पश्चिम से पूर्व को हुए हैं, पूर्व से पश्चिम को पर्यटन नहीं हुए हैं।

आदि देश मध्य एशिया—यह मत भी काफी मान्यता पा चुका है। प्रो० मैक्स-**मूलर इस मत के प्रचारक हैं**। अपने मत के समर्थन में इन विद्वानों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि आर्य जाति की सभ्यता एवं संस्कृति का बोध हमें वेद तथा अवेस्ता से होता है। वेद भारतीयों (भारतीय आर्यों) का तथा अवेस्ता ईरानियों का आदि धार्मिक ग्रन्थ है। ईरान तथा भारत के समीप ही कोई भू-भाग आर्यों का आदि देश रहा होगा; क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त साम्य है। एक लेखक का तो यहाँ तक कथन है कि 'केवल एकआध शब्द या वाक्य खण्ड ही नहीं वरन् एक सम्पूर्ण पद्यांश को शब्दावली परिवर्तित किए बिना ही भारतीय भाषा से ईरानी भाषा में लाया जा सकता है। इतना निकट साम्य यह निश्चयपूर्वक सिद्ध करता है कि ये दो विभिन्न देश के निवासी कभी बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर रहे होंगे और तब कालान्तर में कुछ करणोंवश स्थानान्तरण कर गए होंगे।' भारत तथा ईरान के बीच ही कहीं इनका आदि देश बताकर इन विद्वानों ने आर्यों के स्थानान्तरण के विषय में यह कहा है कि यहीं से आर्यों के तीन जत्थे चले। एक जत्था भारत को, दूसरा ईरान को तथा तीसरा योरप को चला। इन विद्वानों ने भी आर्यों की परिचित वस्तुओं तथा उनके ग्रन्थों के आधार पर अनुमानित जलवायु से युक्त भूमि को आर्यों का मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्हें मध्य एशिया ही ऐसा स्थान प्रतीत होता है जहाँ ये सारी वस्तुएँ हैं। उनका तर्क इस प्रकार है—कृषि-कर्म तथा पशु-पालन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। इन दोनों कार्यों के लिए लम्बे-चौड़े मैदानों की आवश्यकता है। अपने वर्ष की गणना आर्य हिम से करते थे। इसका अर्थ यह है कि ये किसी शीत प्रधान देश में रहते थे। किन्तु बाद में वे ही आर्य वर्ष की गणना शरद से करने लगे जिससे यह परलक्षित होता है कि ये लोग दक्षिण की ओर बढ़ गये जहाँ अपेक्षाकृत कम ठंडक पड़ती है। नावों का प्रयोग वे जानते थे। इसका यह अर्थ है कि वह भाग झीलों तथा नदियों से युक्त रहा होगा। वे घोड़ों से भी परिचित थे। उसका प्रयोग वे सवारी में करते थे। पीपल के पेड़ से वे परिचित थे किन्तु आम तथा बरगद से वे अपरिचित थे। इन सारी वस्तुओं की प्राप्ति मध्य एशिया में ही सम्भव है। अतः यही देश आर्यों का आदि देश रहा होगा। यहीं से स्थानान्तरण करके शक, हूणादि जातियाँ भी भारत आई थीं। इतना ही नहीं इन विद्वानों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यहाँ से भारत, ईरान तथा योरप को जाना सरल है।

पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान को आर्यों का आदि देश मानने वालों का यह कथन है कि लघु एशिया में बोगाजकुई में कुछ सन्धि-पत्रों के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों में वैदिक देवताओं—इन्द्र, वरुण, मित्र आदि के रूपान्तरित नाम प्राप्त हुए हैं। पामीर प्लेटो के आसपास आर्यों का आदि देश मानने के कुछ प्रमाण इस मत के समर्थकों ने इस प्रकार दिये हैं।

योरोपीय भाषाओं में हिट्टाइट प्राचीनतम भाषा है। लगभग १९०० ई० पू० में कैपेडोशिया के रहने वाले हिट्टी भाषा-भाषी थे। गोरजे का ऐसा विचार है कि हिट्टा-इट लोगों ने लगभग १९५० ई० पू० में कैपेडोशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था और करीब-करीब इसी समय इण्डो-ईरानी लोग भी पामीर प्रदेश या तुर्किस्तान में पहुँच चुके थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों का आदि देश कैपेडो-शिया तथा मध्य एशिया से समान दूरी पर ही स्थित रहा होगा। भारत तथा पश्चिमी योरप आर्यों का आदि देश नहीं हो सकता है। किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना

चाहिए कि आर्यों का आदि देश काफी हरा-भरा था और आर्य जाति कृषि-कार्य करती थी। इसी आधार पर डा० पी० गाइल्स ने कहा है कि इतना उजाड़ खण्डहर प्रदेश, जैसा कि पामीर प्रदेश है, आर्यों का आदि देश कदापि नहीं हो सकता।

उपरोक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि डा० पी० गाइल्स, मेयर आदि विद्वानों ने एशिया में ही कहीं आर्यों का आदि देश ढूँढ़ने का प्रयास किया है। किन्तु इस सिद्धान्त के आलोचकों का यह कथन है कि जब हम जानते हैं कि आर्यों के आदि देश में जल का बाहुल्य था और उनकी मातृ-भूमि नितान्त उर्वरा थी तो मध्य एशिया जैसे अल्प जल वाले तथा कम उर्वरा भूमि को किस प्रकार आर्यों का आदि देश मान सकते हैं। यही नहीं यदि आर्यों का आदि देश मध्य एशिया में कहीं था तो फिर अपनी मातृ-भूमि में ही आर्य लोग इतनी कम संख्या में क्यों रह गये और भारतीय आर्यों के आदि ग्रन्थ वेद में मध्य एशिया का कोई संकेत क्यों नहीं है ? मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश मानने वालों ने उसकी वांछनीय प्राकृतिक दशा के अभाव-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दिया है कि मध्य एशिया का यह भौगोलिक परिवर्त्तन आर्यों के स्थानान्तरण के पश्चात् हुआ।

आर्कटिक प्रदेश आर्यों का आदि देश—वेद के आधार पर **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक** ने उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश बतलाया है। उनका कहना है कि वेद में ऐसे उल्लेख आये हैं जो उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश मानने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ वेदों से हमें पता चलता है कि आर्यों को यह ज्ञात था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात का एक वर्ष होता है तथा कई दिनों का प्रातःकाल होता है। 'कई दिनों का प्रातःकाल' यह स्पष्ट बतलाता है कि वहाँ अधिकाधिक तुषारपात होता रहा होगा। प्रारम्भ में उत्तरी ध्रुव प्रदेश तुषारावृत्त था। एक तुषारपात का वर्णन हमें वेद-सा प्रामाणिक ईरानी ग्रन्थ अवेस्ता से मिलता है और इसी तुषारपात के कारण ईरानी आर्यों को अपनी जन्म-भूमि से स्थानान्तरण करना पड़ा था। लगभग ८००० ई० पू० तक आर्य यहीं उत्तरी-ध्रुव प्रदेश में रहे और तत्पश्चात् उन्होंने यहाँ से स्थानान्तरण किया और ६००० ई० पू० के लगभग इनकी एक शाखा मध्य एशिया में आकर बस गई थी। इस प्रकार तिलक जी ने मध्य एशिया के सिद्धान्त वालों का आँसू पोंछते हुए अपने एक नये मत का प्रतिपादन किया है। पर इनका मत अधिकांश विद्वानों को अस्वीकार है।

भारत आर्यों का आदि देश—कुछ विद्वान् प्राचीन आर्यों का आदि देश योरप, मध्य एशिया आदि न मानकर भारत को ही बतलाते हैं। ध्यान रहे कि भारत को आदि देश बताने वाले अधिकांश् विद्वान भारतीय हैं और यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ उन विद्वानों के तर्क के पीछे आत्ममोह की एक हल्की पृष्ठभूमि है, फिर भी इनका तर्क बहुत कुछ बुद्धियुक्त एवं गम्भीर ज्ञात होता है। इन विद्वानों में श्री अविनाश चन्द्र दास, श्री गंगानाथ झा, श्री डी० ए० त्रिवेदी तथा डा० एल० डी० कल्ला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वेद में 'सप्तसिन्धव' का गुणगान यत्र-तत्र किया गया है। अतः यही भूमि आर्यों का आदि देश रही होगी। पुराण तथा ईरानियों के धार्मिक ग्रन्थों के सम्मिलित अध्ययन से भी यह पता चलता है कि कोई संग्रास (पुराणों का देवासुर संग्राम) दो जत्थों के बीच हुआ। इस युद्ध में पुराणों के अनुसार देवताओं ने असुरों को खदेड़ दिया। अवेस्ता में भी इसी प्रकार का विवरण है।

1. State the various theories of the early home of the Aryans. (1954).

१. आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में जो मत प्रचलित हैं उनकी व्याख्या कीजिये।

2. Do you think that the Aryans were original inhabitants of India ?

२. क्या आर्य भारत के आदि निवासी थे ?

3. Discuss and criticise the arguments of those who maintain that Europe was the original home of the Aryans.

३. आर्यों की आदि भूमि यूरोप बताने वालों के तर्कों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन या समर्थन कीजिये।

4. What do you know about the original home of Aryans ? Discuss the various theories regarding the original home of the Aryans. ? (1951).

४. आर्यों की आदि भूमि के विषय में आप क्या जानते हैं—तथा उनके निवास स्थान के विशय में दिये गये भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन करते हुए अपने विचार प्रकट कीजिये।

अध्याय ५

ऋग्वैदिक काल की सभ्यता

ऋग्वेद से ऐसा ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम भारतीय आर्य अफगानिस्तान तथा पंजाब में बसे थे। अफगानिस्तान में बसने का प्रमाण यह है कि काबुल, स्वात, कुर्रम तथा गोमल का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। पंजाब की पाँचों नदियों का उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्रों में बार-बार किया गया है। वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाब), परुषी (रावी), विपाशा (व्यास), और शतद्रू (सतलज), सिन्धु तथा सरस्वती का भी उल्लेख आया है। पंजाब में इनके निवास करने का एक दूसरा प्रमाण यह है कि यमुना का प्रयोग तीन बार और गंगा का केवल एक बार किया गया है। इसी प्रकार गंगा के पूर्व की नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं किया गया है। खाद्यान्नों में चावल का भी उल्लेख नहीं है क्योंकि यह पूर्व में उत्पन्न होता है। इसी तरह जानवरों में बाघ का संकेत नहीं है क्योंकि यह भी पूर्व का पशु है। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आर्य प्रारम्भ में पंजाब में बसे थे और तब वहाँ से उन्होंने भारत के शेष भागों का आर्य-करण किया। इस आर्य-करण में आर्यों को अनार्यों से घोर संघर्ष करना पड़ा। इसका वर्णन ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। अनार्य अपेक्षाकृत कम थे यह हमें भली-भाँति ज्ञात है। अतः इनके रण-सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्र दुर्बल एवं अपरिष्कृत थे। इनको रण-विद्या एवं सैनिक संगठन का भी बोध नहीं था। सभ्य आर्यों को इन्हें पराजित करने में कठिनाइयाँ अवश्य पड़ीं पर धीरे-धीरे वे इन पर विजय पाते गए और इसी गति से अपना प्रसार भी दक्षिण की ओर करते गए। सर्वप्रथम सरस्वती तथा दृशद्वती नदियों के भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करके आर्यों ने इसका नामकरण ब्रह्मावर्त्त किया। आशा है कि ब्रह्मावर्त्त में ही ऋग्वेद के पर्याप्त अंशों की रचना की गई होगी। ब्रह्मावर्त्त पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने के पश्चात् उनका रण-प्रयाण आगे को हुआ और उन्होंने अनार्यों की भूमि को छीन कर उसका नाम ब्रह्मर्षि रक्खा। ब्रह्मर्षि की स्थापना के पश्चात् आर्यों ने मध्य प्रदेश की स्थापना की और जब सम्पूर्ण भारत पर इनका अधिकार हो गया तो इसका नामकरण उन्होंने आर्यावर्त किया।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में कुल दस मण्डल हैं। इन दसों मण्डलों में कुल १०२८ मंत्र हैं। प्रथम ९ मण्डल प्राचीनतम हैं और दसवें मण्डल की रचना बाद में हुई।

ऋग्वेद की तिथि—मैक्समूलर महोदय ने वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की तुलना ग्रीक भाषा के अन्तरों केआधार पर करके यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद की रचना १२००-१००० ई० पू० के लगभग हुई थी। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी ने ज्योतिषशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद का समय लगभग ४००० ई० पू० माना है। इसी प्रकार श्री बालगंगाधर ने भी ज्योतिष के आधार पर यह समय ८००० ई० पू० बतलाया है। विन्टरनित्स के मतानुसार यह तिथि २५०० ई० पू० हो सकती है। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर इतना तो विस्तारपूर्वक कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की रचना १५०० ई० पू० से १२०० ई० पू० के भीतर या सम्भवतः इससे भी पहले हुई होगी।

ऋग्वेद में वर्णित अनार्य—ऋग्वेद में अनार्यों की जो रूप-रेखा दी गई है उस पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में इन अनार्यों की भर्त्सना की गई है। इन्हें दास, दस्यु या असुर कहा गया है। पिशाच तथा राक्षसों का उल्लेख भी ऋग्वेद में आया है।

चित्र ३—वैदिक भारत

पर अनार्यों का हमें पूर्णतया असभ्य नहीं मान लेना चाहिए। ऋग्वेद पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने रहने के लिये मकान बनाये थे जिन्हें आर्यों ने जला दिये। दासों और दस्युओं के अपने नगर थे जिनके विनाश की प्रार्थना आर्यों ने बार-बार इन्द्र से की है। इसी प्रकार युद्ध के लिए वे सेनाएँ भी रखते थे और किलों का निर्माण करके उनमें अपना खजाना रखते थे।

आर्यों-अनार्यों का संघर्ष पर्याप्त समय तक चलता रहा। अन्त में आर्यों ने दस्यु या दास जाति वाली (अनार्यों) को बुरी तरह पराजित कर दिया। युद्ध में काम आने के पश्चात् बहुत अधिक संख्या में दस्यु या दास जाति बच गई। इन शेष लोगों को विवश होकर या तो आर्यों से कहीं बहुत दूर जंगल-गिरि-कन्दराओं की शरण लेनी पड़ी या तो उन्हीं की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। फलतः इस दस्यु या दास जाति के इतने अधिक लोग गुलाम बनाये गए कि दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इनके नेताओं का वध कर दिया गया होगा।

आर्यों की सामाजिक अवस्था

आर्य-अनार्य-संघर्ष, आर्य-आर्य-संघर्ष आदि के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूप-रेखा तैयार हुई वास्तव में यही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। इसके पूर्व जो सामाजिक व्यवस्था आर्यों ने निर्मित की थी वह अब तक काफी परिवर्तित हो चुकी थी। प्रारम्भ में केवल आर्यों का ही समाज में हाथ था पर कालान्तर में अनार्यों को भी इसमें स्थान दिया गया।

आर्य वर्ग—यद्यपि ऋग्वैदिक काल में सम्पूर्ण आर्य वर्ग एक था, उनमें खान-पान, रोटी-बेटी का निकटतम सम्बन्ध था, उनमें उद्यम-व्यवसाय की पूर्ण स्वतंत्रता थी, जैसा कि एक ऋषि स्वयं कहता है कि 'मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है, मैं कविता करता हूँ' तथापि सामाजिक विकास के सिद्धान्त में ही कुछ ऐसे मूल तत्व होते हैं जो समाज के वर्गीकरण के कारण बनते हैं।

'विराट पुरुष' द्वारा चार वर्गों की उत्पत्ति का विवरण हमें पुरुषसूक्त (ऋग्वेद के दसवें मण्डल) से प्राप्त होता है। आर्यों की धार्मिक दशा के सम्बन्ध में अगले पृष्ठों में पढ़ने से ज्ञात होगा कि इनके धार्मिक कृत्य इतने जटिल थे कि उनके लिए बहुत अधिक लोगों की आवश्यकता थी। वैदिक मंत्रों के स्पष्टीकरण के लिए भी कुछ विद्वानों की आवश्यकता थी। अस्तु एक पुरोहित वर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया। यद्यपि इन्हें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी किन्तु ये अन्य वर्गों से कन्यायें लेना बहुधा हेय समझते थे और सवर्गीय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में इन्हें विशेष सुविधा भी पड़ती थी। अब ब्राह्मण वर्ग की दशा पर भी थोड़ा विचार किया जायगा। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से यह ज्ञात होता है कि उन्हें समाज में काफी आदर मिलता था और उनका पद काफी ऊँचा था। पुरोहितों को दान रूप सिक्के, आभूषण, वस्त्र, रथ आदि देने का भी उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों के पुरोहित रूप के अतिरिक्त उनके वीर रूप का भी हमें बोध होता है। विश्वामित्र तथा वशिष्ठ आदि ऋषियों ने अस्त्र-शस्त्र ग्रहण किया था।

अब हम आर्यों के दूसरे महत्वपूर्ण वर्ग पर प्रकाश डालेंगे। जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकताओं ने आर्यों में ब्राह्मण वर्ग को जन्म दिया उसी प्रकार सैनिक आवश्यकताओं ने क्षत्रिय वर्ग का उदय किया। सैनिक शिक्षा की व्यवस्था भी सुचारु रूप से सैनिक पिता के पुत्र को ही मिल सकती थी। क्षत्रिय होना इतना महान् समझा जाता था कि कुछ अन्य वर्ग वाले भी क्षत्रिय होने का दावा करते थे।

इन दो प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग भी थे जिनके विषय में हमें ऋग्वेद संकेत मात्र करता है। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल (जिनका रचना-काल दसवें मण्डल के पूर्व माना जाता है) हमें अन्य किसी वर्ग का बोध नहीं कराते। इनसे हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के पश्चात् शेष आर्य जनता को 'विश' कहा जाने लगा। जैसा कि बताया जा चुका है ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल प्राचीनतम हैं और फिर उनके बाद दसवें मण्डल की रचना हुई। इसी दसवें मण्डल से हमें यह ज्ञात होता है कि विराट पुरुष से चार जातियों का जन्म हुआ। ध्यान रहे कि ये चार जातियाँ वही हैं जो उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य काल आदि से लेकर आज तक हिन्दू समाज में बनी हैं। इस प्रकार जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों) की इस दैवी उत्पत्ति का उल्लेख ऋग्वेद के इस मण्डल (पुरुष सूक्त) से प्राप्त होता है जो अपेक्षाकृत बाद का है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि ऋग्वेद में कहीं भी वैश्य शब्द नहीं आया है। वैश्यों का कार्य-क्षेत्र बहुत विकसित था। ब्राह्मणों के पूजा-पाठ तथा क्षत्रियों के सैनिक कार्य में लग जाने के पश्चात् अब यही एक ऐसा वर्ग बच गया जिस पर समाज की आर्थिक व्यवस्था आधारित थी। शूद्रों को तो 'चरण' से उत्पन्न होने के कारण चरण-सेवा से मुक्ति न थी, अतः उत्पादन तथा वितरण का कार्य वैश्यों पर आ गया। दासों का उप-वर्ग इन्हीं शूद्रों में से एक था। ये अनार्य थे और या तो युद्ध के बन्दी थे या अन्य प्रकार से आत्मसमर्पण किये हुए व्यक्ति थे।

पारिवारिक जीवन—आर्य कुटुम्ब पितृ-सत्तात्मक था पर साथ ही नारी सम्मानयुक्त थी। पिता या पितामह ही कुटुम्ब का प्रधान होता था जिसे गृहपति कहते थे। गृहपति की प्रधानता घर के अन्य व्यक्ति मानते थे। गृहपति से वीरता तथा उदारता की आशा की जाती थी। गृहपति की पत्नी का भी कुटुम्ब के अन्य सदस्यों पर उसी प्रकार अधिकार था। अपनी योग्य एवं भद्र सन्तान की गृहपति जहाँ एक ओर पूर्ण रक्षा एवं पालन-पोषण करता था वहीं नालायक एवं लम्पट सन्तान को वह कठोर दंड भी देता था। गृहपति का पद बंशानुगत था और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र (सम्भवतः ज्येष्ठ-पुत्र) गृहपति बनता था। पिता की सम्पत्ति का उचित उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था—पुत्री नहीं। एक ही कुटुम्ब में पिता-माता, कई पुत्र, बहुयें, प्रपौत्र आदि रहते रहे होंगे।

समाज और नारी—आर्यों का सामाजिक संगठन ही कुछ इस प्रकार का था जो पितृसत्तात्मक होते हुए भी नारी को ऊँचा स्थान देने के लिए बहुधा बाध्य करता था। पर्दा प्रथा का कहीं नाम न था। तत्कालीन शिक्षा पद्धतियों के अनुसार नारियों को भी शिक्षित किया जाता था। उनके विदुषी होने के उदाहरण ऋग्वेद में रचित उनकी रचनायें हैं। विद्या के क्षेत्र में वे पुरुषों से किसी प्रकार पीछे न थीं। रणक्षेत्र में भी वे कम कौशल नहीं दिखलाती थीं।

इस सम्बन्ध में हमें वैवाहिक प्रथाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि नारियों की दशा की उच्चता या हीनता अधिकांशतः इसी पर आधारित होती है। आदर्श ब्याह केवल एक ब्याह करना था। शादी तय हो जाने के पश्चात् बड़ी धूम से वैवाहिक-प्रथायें पूरी की जाती थीं। वर-पक्ष के लोग सज-धज कर बधू के घर जाते थे जहाँ उनका पूर्ण स्वागत होता था। पुरोहित शुभ समय एवं मूहूर्त में वर-बधू का पाणि-गृहण कराता था और तत्पश्चात् वर-बधू अग्नि की परिक्रमा करते थे। पाणिग्रहण के पश्चात् बहुत ही विराट उत्सव होता था।

ऋग्वेद में अनेक ब्याह का भी वर्णन प्राप्त होता है और राजा-महाराजा या सम्मानित पुरोहित कभी-कभी अनेक ब्याह कर लेते थे।

ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उस काल मे विधवा विवाह भी प्रचलित था। अपने मृत पति के साथ सहमरण का अधिकार उन्हें अवश्य था परन्तु उन्हें इसके लिये बाध्य नहीं किया जाता था।

दैनिक जीवन—दैनिक जीवन के अन्तर्गत हम आर्यों की वेश-भूषा, उनके रहन-सहन, खान-पान, आमोद-प्रमोद का अध्ययन करेंगे।

आर्य तीन प्रकार का वस्त्र धारण करते थे। पहला 'नीवी' (जो नीचे की धोती थी), दूसरा 'वास' और तीसरा 'अधिवास' था। ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग ये भली भाँति जानते थे। धनवान सोने के काम के रंगीन वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर वे विशेष वस्त्र धारण करते थे। ऐसे अवसरों पर वे 'सुनहरे आभूषण' भी पहनते थे। आभूषणों में कुण्डल, हार, अंगद, वलय, गजरे आदि मुख्य थे। नारियाँ सजावट श्रृंगार आदि से पूर्णतया परिचित ही नहीं थीं वरन् वे उसमें दक्ष भी थीं। ये अपने बालों को कंघी से सँवारती थीं और तेल (सम्भवतः सुगन्धित तेल) से उन्हें बनाती थीं। कुछ पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे और उन्हें सँवारते थे। दाढ़ी रखने की प्रथा भी प्रचलित थी।

आर्यों के भोजन में दूध का महत्वपूर्ण स्थान था। दही तथा घृत का भी ये लोग भली-भाँति उपयोग करते थे। 'क्षीर पक्वम्-ओदकम्' (दूध में पका हुआ अन्न) का भी प्रयोग ये किया करते थे और एक प्रकार का पनीर भी पीते थे। ये रोटियाँ और चावल, घी के साथ खाते थे। मांसाहारी भी थे और सम्भवतः बलि में मारे गये पशुओं, भेड़, बकरों का मांस खाते थे। गाय को इन्होंने 'अघन्य' घोषित कर दिया था। अतः उसका वध नहीं किया जाता था। इनका सबसे मधुर पेय पदार्थ 'सोम' या सोमरस था।

आर्यों के आमोद-प्रमोद पर भी ऋग्वेद से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रथ-दौड़, घुड़-दौड़, नृत्य तथा संगीत उनके आमोद-प्रमोद के प्रमुख साधन थे। जुआ खेलने की प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों नृत्य करते थे। वाद्य यंत्रों का भी सुन्दर प्रयोग ये भली-भाँति जानते थे।

आर्थिक व्यवस्था

जैसा कि अन्य सभी प्रारम्भिक सभ्य देशों में कृषि, गृह-उद्योग-धन्धे तथा छोटे-बड़े पैमाने पर व्यवसाय जीवनयापन के साधन रहे हैं, उसी प्रकार भारत में भी मनुष्यों का उद्यम कृषि, पशु-पालन, घरेलू-उद्योग-धन्धे तथा व्यापार था।

पशु-पालन—आर्यों की आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार पशु-पालन था। साँड़ तथा बैलों से हल जोतने का काम लिया जाता था। ये अन्नागार तथा खाद्यान ढोने तथा अन्य सामान ढोने के लिए गाड़ी खींचने के काम में भी लाये जाते थे। इनके अन्य पालतू पशुओं का उल्लेख हमें ऋग्वेद से प्राप्त होता है जिनमें भेड़, बकरी, गदहा, तथा कुत्ते प्रमुख हैं। गोधन को वे 'सारे कल्याणों का जोड़' मानते थे। घोड़े का महत्व भी उन दिनों काफी था। ये रथ-संचालन के काम में लाये जाते थे।

कृषि—पशु-पालन के पश्चात् कृषि का ही स्थान आता है। 'कृषि' को ऋग्वेद में काफी महत्व प्रदान किया गया है। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम पेशा था। बैलों द्वारा हल जोता जाता था। उस समय आजकल की भाँति केवल दो बैलों से हल नहीं जोता जाता था अपितु ६, ८ या ११-१२ बैलों तक को हल खींचने के काम में लाया जाता था। ये 'जव' तथा 'धान्य' की खेती करते थे। भली-भाँति जुताई-बुआई करके तथा खाद द्वारा खेती की उर्वरता बढ़ाकर और सिंचाई के समुचित साधन एकत्रित करके ऋग्वैदिक काल के मनुष्य काफी अच्छी फसल तैयार करते थे।

आखेट—ऐसा ज्ञात होता है कि आखेट केवल निम्न वर्ग के लोग करते रहे होंगे। कम से कम आहार के लिए या यों कहिए कि जीवनयापन के लिए तो केवल निम्न वर्ग के लोग ही आखेट करते रहे होंगे। धनुष-बाण, जाल, फंदा आदि इनके आखेट सम्बन्धी हथियार थे। शेर को गड्ढे में गिराकर उसे पकड़ने की प्रथा थी।

गृह-उद्योग या दस्तकारी—बढ़ई या 'तक्षण' की उन दिनों काफी पूछ थी यह रथ तथा गाड़ियाँ बनाता था। वह लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी भी करता था। इसके बाद कर्मकार या लुहार का स्थान दिया गया है। 'हिरण्यकार' या सुनार 'हिरण्य' से आभूषण बनाता था। ऋग्वेद से हमें यह भी ज्ञात होता है कि सिन्धु जैसी नदियों से सोना प्राप्त किया जाता था। चर्मकार भी विभिन्न वस्तुएँ बनाता था? कताई-बुनाई के कार्य में भी ये पूर्ण दक्ष थे। बिनाई का काम बहुधा स्त्रियाँ ही करती थीं।

व्यापार—उस प्राचीन युग में भारतीय आर्यों ने इस क्षेत्र में जो उन्नति की वह उनके सीमित साधनों को देखते हुए पर्याप्त थी। देशीय तथा अंतर्देशीय दोनों व्यापारों में ये लोग लगे हुए थे। उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वैदिक काल में आर्थिक विषमता न थी और लोग सुखमय जीवन बिताते थे।

धार्मिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल भारतीय आर्यों का वह प्रभात काल है जब उन्होंने आध्यात्म जगत् में प्रथम पदार्पण किया था। पर इस प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने इतनी उन्नति कर ली थी कि उनकी मान्यताएँ, उनकी व्यवस्थाएँ आज तक अकाट्य हैं। निश्चय ही आध्यात्मिक क्षेत्र की इस महती उन्नति के पीछे शताब्दियों की शिक्षा और योग्यता है जिसके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। शिक्षा के अभाव में किसी भी विकसित धार्मिक अवस्था का होना असम्भव है। अतः हम सर्वप्रथम ऋग्वैदिक कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाल लेना आवश्यक समझते हैं।

शिक्षा—अपनी विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित थाती को सँजोये रखने के लिए शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीन काल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिन्न प्राचीन सभ्य देशों से लगभग भिन्न शिक्षा-पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण का घर ही पाठशाला तथा प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था। ऋग्वेद में कहीं भी लिखने का उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मंत्र रटे जाते थे। ऋग्वेद में हमें कुछ ऐसा संकेत भी प्राप्त होता है जिससे पाठशाल की-सी कोई संस्था थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी दादुरों की भाँति पढ़ते थे।

देवता—ऋग्वैदिक काल की धार्मिक अवस्था का अध्ययन उनके देवताओं से आरम्भ करना ही अधिक सुगम होगा। अतः हम पहले उन पर ही प्रकाश डालेंगे। ऋग्वेद में कुल ३३ देवता माने गये हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ **इन्द्र**, **अग्नि**, तथा **सोम** हैं। इन्द्र के लिए २५०, अग्नि के लिए २०० तथा सोम के लिए १०० से अधिक मंत्र रचे गये हैं। **द्यौः** और **पृथ्वी** को जगत्माता-पिता कहा गया है और ६ मंत्रों में इनका गुणगान है। इसी प्रकार वर्षा के देवता '**पर्जन्य**' तथा परलोक के देवता '**यम**' का भी उल्लेख तीन-तीन मंत्रों में किया गया है। प्राचीन सभी सभ्य देशों में **सूर्य**-देव-पद पाता रहा है। भारत में भी इनको देवत्व प्राप्त हुआ और सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा स्थान दिया गया था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवता भी अधिक महत्वपूर्ण थे। इनमें द्यौः की पुत्री तथा प्रभात की पुनीत देवी **ऊषा** प्रसिद्ध हैं जिनके लिए अनेक सुन्दर मंत्रों की रचना हुई थी। **रुद्र** का नाम भी इन देवताओं में विशेष उल्लेखनीय है। आगे चलकर ये शिव का रूप धारण कर लेते हैं। **मरुत** रुद्र के पुत्र माने गये हैं जो अत्यन्त भयंकर और मतवाले थे। **वायु** और **वात** भी रुद्र की भाँति जीवन-वर्धक देवता थे।

उपरोक्त विवरण से हमें ऋग्वैदिक काल के मनुष्यों की धार्मिक स्थिति का बोध हो जाता है और इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि इनके धर्म में बहुदेववाद और प्रकृति-उपासना का समन्वय था।

आर्य जाति ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न विभागों का अवलोकन किया तथा यह अनुभव किया कि कोई शक्ति इसका संचालन करती है। उन्होंने इस शक्ति को पूजने की इच्छा से प्रकृति की भिन्न-भिन्न वस्तुओं का नाम रखकर पूजना शुरू कर दिया तथा वह शक्ति जो इन प्राकृतिक शक्तियों का संचालन करती थी देवता कहने लगे।

उदाहरण स्वरूप पानी के देवता को इन्द्र, वायु के देवता को वरुण तथा आग के देवता को अग्नि देवता का नाम दिया। परन्तु कुछ समय के पश्चात् आर्यों ने यह अनुभव किया कि कोई एक शक्ति ऐसी है जो इन सब देवताओं अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं का संचालन करती है तथा यह शक्ति संसार में सबसे महान है। आर्यों ने इस शक्ति का नाम ब्रह्म रखकर पूजना शुरू कर दिया। इस प्रकार आर्य लोग संसार में एक शक्ति को मानने लगे तथा उनके धर्म में बहुदेववाद को छोड़कर एक परमेश्वर का प्रवेश हुआ। इस प्रकार आर्य महान शक्ति ब्रह्म को पूजने लगे।

अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए लोग प्रार्थनाएँ करते थे और दूध, घृत, सोमरस तथा अन्य खाद्यान्न चढ़ाते थे। यज्ञों की भी प्रधानता रही जो प्रत्येक घर में होता था।

नैतिक आदर्श—ऋग्वैदिक कालीन आर्यों के नैतिक आदर्श पर भी दृष्टि-पात कर लेना आवश्यक है। ऋग्वेद में नैतिक आदर्शों पर काफी जोर दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही किसी धर्म की उत्तमता मान्य हो सकती है। कोरा दर्शन ही धर्म में सब कुछ नहीं। नैतिक आदर्श मानव-मानव के निकटतम सम्बन्धों को सुन्दरतम बनाने में सहायक होते हैं। प्राचीन आर्यों में अतिथि-सत्कार का बहुत बड़ा महत्व था। प्राचीन भारतीय सभ्यता के पोषक भारतीय ग्रामों में आज भी इसका काफी महत्व है।

राजनैतिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न-लिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) कुटुम्ब (गृह या कुल),
(२) ग्राम,
(३) विश,
(४) जन तथा
(५) राष्ट्र।

नीचे इन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

कुटुम्ब—ऋग्वैदिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन करते समय यह बताया गया है कि उनका कौटुम्बिक जीवन काफी सुसंगठित था। कुटुम्ब शासन की भी न्यूनतम इकाई था। यही कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा गृहपति होता था। प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधान इसी के हाथ में रहता था। कुटुम्ब बहुधा बड़े-बड़े होते थे।

ग्राम—कई कुटुम्बों का एक जगह बस जाना तथा इस प्रकार उस स्थान की आबादी का बढ़ जाना राजनीतिक क्षेत्र में कुछ नई आवश्यकताओं का कारण बन गया था। प्रत्येक कुटुम्ब की व्यवस्था के लिए तो कुटुम्ब विशेष का गृहपति पर्याप्त था किन्तु अनेक कुटुम्बों की सम्मिलित व्यवस्था के निरीक्षण के लिए किसी अन्य पदाधिकारी एवं एक दूसरे संगठन की आवश्यकता थी। अतः कुटुम्बों के इस गिरोह को ग्राम कहा जाने लगा और ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामणी' कहते थे। ग्रामणी की निर्वाचन-पद्धति क्या थी इस विषय पर कोई प्रकाश ऋग्वेद से नहीं पड़ता। अतः यह कहना कठिन है कि वह राजा द्वारा निर्वाचित होता था या उसका पद वंशानुगत था। पर इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका पद काफी ऊँचा था और ग्राम-शासन-व्यवस्था का

कर्णधार 'ग्रामणी' होता था। ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'व्रजपति' आया है, पर यह सम्भवतः 'ग्रामणी' ही का पर्यायवाची है।

विश––'विश' के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद का विश कोई स्थानीय तहसील (Sub-division), परगना या कोई वर्ग विशेष था।" ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि 'विश' कोई वर्ग विशेष था। विश का प्रधान 'विशपति' होता था।

जन––कई 'विश' मिलकर 'जन' बनते थे। 'जन' का प्रधान 'गोप' कहलाता था। ऋग्वेद में प्रसिद्ध 'पञ्चजन' का उल्लेख किया गया है। ये 'पञ्चजन' फस, तुर्वसु, यदु, अनुस तथा द्रह्यू थे। प्रायः राजा ही जन का प्रधान अर्थात् 'गोप' होता था।

राष्ट्र––देश के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे संघात्मक सरकार होने का अनुभव किया जाता है।

राजा––ऋग्वेद-काल के राजनैतिक विभाजन का अध्ययन कर लेने के पश्चात् उसकी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना सुगम है। राजा जो शासन-प्रबन्ध का कर्णधार होता है हमारी विवेचना का प्रमुख विषय होगा।

प्रारम्भ में हम राजा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालेंगे।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है––

एक बार देवताओं और असुरों का युद्ध हुआ। युद्ध में असुरों की विजय हुई और देवताओं की पराजय। देवताओं ने कहा कि हम लोग 'अराजयता' अर्थात् राजा न रखने के कारण पराजित हुए हैं। हम लोगों को अपना राजा बनाना चाहिए। इस प्रस्ताव को सबने स्वीकार किया।

तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है

एक बार देवों और असुरों में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने श्रेष्ठ पुत्र इन्द्र को इसलिए छिपा दिया कि कहीं असुर उसे मार न डालें। उधर कयाधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को इसलिए छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डाले। किन्तु देवों को ऐसा ज्ञात हुआ कि राजा के बिना युद्ध नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने देव प्रजापति के पास जाकर कहा, "राजा के बिना युद्ध अरना असम्भव है"। तत्पश्चात् यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें इसी अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा कि अनार्यों के संघर्ष करने के लिए यह एक आवश्यकता थी।

राजा के उच्च स्थान का बोध हमें ऋग्वेद की ऋचाओं से होता है। पुरुषों का राजा भसदस्यु कहता है "...देवता मुझे वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं। मैं राजा वरुण हूँ, देवता मुझे वह शक्तियाँ देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है...मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।" राजा की आज्ञा सर्वमान्य थी और जो लोग राजा की आज्ञा को नहीं मानते थे उनके साथ बल का प्रयोग किया जाता था। राजा न्यायाधीश के पद से न्याय करता था, दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों का फैसला करता था और फौजदारी के मुकदमों में वह एक विस्तृत विधान-संहिता का उपयोग करता था। राजा 'अदण्ड्य' था और प्रजा को अपराधों पर दण्ड देता था, इस कार्य में वह गुप्तचरों से भी काम लेता था। जहाँ वह अपराधियों को दण्ड देता था वहीं वह दीन-दुखियों की सहायता भी करता था। राजा लोगों को उपहार भी दिया करते थे। एक स्थल पर

यह कहा गया है कि जो राजा रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है उसकी रक्षा देवता करते हैं।

शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश डालने के पूर्व ऋग्वेद के दो शब्दों 'राजन्य' तथा 'सम्राट' पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। राजन्य का प्रयोग ऋग्वेद में बार-बार किया गया है। इसका प्रयोग दो अर्थों में किया गया है—(१) जमींदार। (२) राजा। ऐसा ज्ञात होता है कि राजा के चार ओर जमींदार (राजन्य) रहते थे जो राजा की प्रभुता को स्वीकार करते थे और साथ ही वे कुछ विषयों में स्वतंत्र रूप से भी शासन करते थे। इसी प्रकार सम्राट शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि कई राजे बड़े राजा की प्रधानता स्वीकार कर लेते थे और तब उसे सम्राट कहा जाता था। पर इस सम्वन्ध में कुछ अधिक प्रामाणिक ढंग से नहीं कहा जा सकता क्योंकि तत्सम्बन्धी साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है।

राजा के मंत्री—शासन-कार्य चाहे जितना भी प्रारम्भिक रूप में हो उसमें राजा के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। ऋग्वेदिक काल में भी राजा को सुन्दर शासन-व्यवस्था के लिए कुछ सहायकों की आवश्यकता पड़ती थी। **पुरोहित** इनमें प्रधान था। पुरोहित का प्रभाव राजा पर अधिक रहता था। ऋग्वेद में अग्नि-को बड़ा पुरोहित तथा यज्ञ में सहायक कहा गया है। उसका कार्यालय 'पुरोहती' और 'पुरोध' कहलाता था। पुरोहित राजा का 'अभिन्न मित्र, पथप्रदर्शक' दार्शनिक तथा सहायक' होता था। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि पुरोहितों का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। पुरोहित का प्रमुख कार्य राज-परिवार के धार्मिक गुरु के रूप में था पर वे राजा के साथ रण-क्षेत्र में जाते थे जहाँ वे अपने मंत्रों द्वारा राजा की शक्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि करने की प्रार्थना करते थे।

पुरोहितों के बाद **सेनानी** का पद आता है। यह भी राज्य का प्रमुख अधिकारी था। सेनानी सेनाध्यक्ष होता था। इसकी नियुक्ति सम्भवतः राजा स्वयं करता था।

कुछ अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है जिनमें ग्रामीण का स्थान प्रमुख है। **ग्रामणी** के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा चुका है। ग्राम शासक का सम्पूर्ण भार इसी पर था। **उपस्ति** तथा **इम्प** नामक पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है। कुछ समाचार-वाहक दूत तथा रक्षा के प्रवन्धों का भी वर्णन प्राप्त होता हैं जो अपने कार्य में काफी कुशल एवं बुद्धिमान तथा राजभक्त थे। इस प्रकार विभिन्न राज-पदाधिकारियों से युक्त राजा शासन करता था।

सभा-समिति—राजपदाधिकारियों के पश्चात् हमें उन संस्थाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है जो स्वयं राजा तक के निर्वाचन का अधिकार रखती थीं तथा प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थीं। ये संस्थाएँ सभा या समिति हैं। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सभा का उल्लेख किया गया है। सभा की भाँति समिति का भी ऋग्वेद में यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है। समिति में राजा की उपस्थिति का विवरण प्राप्त होता है और यह ज्ञात होता है कि वह समिति के प्रधान का आसन ग्रहण करता था। समिति में राजा के प्रभुत्व का संकेत हमें कुछ अन्य मंत्रों से भी प्राप्त होता है।

सभा और समिति एक ही संस्था है या दो अलग-अलग संस्थाएँ हैं, और यदि अलग-अलग है तो उनका कर्त्तव्य और अधिकार क्या था, इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है।

सभा और समिति चाहे दो संस्थाएँ हों, या एक, पर इनका राजनीति में अधिक महत्व जान पड़ता है। सभा में उच्चकुलीन (सुजात) तथा वयोवृद्धों का एकत्रित

होना, समिति में स्वयं राजा तक का भाग लेना यह प्रमाणित करता है कि राज्य के गूढ़ मामलों (चाहे वे ग्राम से सम्बन्धित हों या सम्पूर्ण 'राष्ट्र' से), समस्याओं आदि पर विचार-विमर्श इन्हीं संस्थाओं में होता था। ये निश्चय ही राजा को निरंकुश होने से बचाती रही होंगी।

न्याय-व्यवस्था—यह प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग है और इसके पूर्व बर्बर या अर्ध सभ्य लोगों का बोल-बाला था जिनके न्याय का माप-दंड था 'खून का बदला खून' (यद्यपि अपने विस्तृत अर्थ में तो यह आज भी लागू है पर प्रागैतिहासिक युग में इसका प्रयोग सीमित अर्थ में होता था, अर्थात् यदि किसी व्यक्ति ने किसी की नाक काट ली तो उसकी भी नाक काट ली जाती थी)। इस माप-दंड की छाप ऋग्वैदिक आर्यों पर निश्चय ही पड़ी होगी पर इन्होंने अपने बौद्धिक विकास के कारण कुछ सुधार ला दिया। यह सुधार था जीव का मूल्य निर्धारित करना। मनुष्य को 'शत दाय' कहा गया है। अर्थात् एक मनुष्य का मूल्य १०० गायें हैं। इसी प्रकार 'वैरदेय' शब्द भी आया है। इनसे यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि मनुष्यों के जीवन का मूल्य पहले ही निर्धारित कर दिया गया था और जो व्यक्ति उन्हें जान से मार डालता था उसको उस मृत मनुष्य के सम्बन्धी या उत्तराधिकारी को निश्चित धन देना पड़ता था। इसी से प्रभावित होकर धर्मसूत्रों में एक कदम और आगे बढ़कर यहाँ तक निश्चित कर दिया गया कि अमुक व्यक्ति की हत्या पर इतनी और अमुक की हत्या पर उतनी गायें देनी होंगी।

ऋग्वेद में देवताओं तथा बन्दीगृह का उल्लेख दिया गया है। सम्भवतः कुछ अपराधों पर जेलखाने की भी सजा थी। दीर्घ व्यास की कथा के आधार पर कुछ अंशों तक यह अनुमान किया जा सकता है कि अपराध साबित करने के लिए पानी और आग की परीक्षाओं का भी प्रचलन था। 'मध्यमशी' शब्द भी कई स्थानों पर आया है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कुछ झगड़ों का निवारण पंच बीच में पड़कर कर दिया करते थे। अपराधों के विषय में हमें ज्ञात होता है कि चोरी (अधिकतर पशुओं की चोरी) हुआ करती थी, पर चोर अन्न, वस्त्र, द्रव्य आदि भी चुरा ले जाते थे और पता लगने पर उनकी दुर्गति की जाती थी।

युद्ध-प्रणाली—युद्ध बहुधा आत्मरक्षा या विजयों के लिए तथा कभी-कभी लूट के लिए होते थे।

सेना में पैदल तथा रथ का अधिक महत्व था। रथों में दो, तीन या चार साहसी घोड़े लगाये थे। ऋग्वेद में वर्णित अस्त्र-शस्त्र निम्नलिखित थे :—

(१) धनुष-बाण, (२) कवच, (३) हस्तघन, तथा (४) अन्य अस्त्र-शस्त्र जैसे असि, (तलवार), भाला, बर्छा आदि।

ऋग्वैदिक काल की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी अत्यन्त विशाल एवं सर्वोत्तम सभ्यता के लिए जिन मूल भूत तत्वों की आवश्यकता पड़ती है वे सारे तत्व ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता में विद्यमान हैं, कुछ तो इतनी विकसित अवस्था में हैं कि उनमें कोई भी विकास या परिवर्तन हम आज तक नहीं कर सके।

प्रश्न

1. Describe the social structure and political organisation of the Indo-Aryans as gathered from the Rig Veda (1958).

ऋग्वेद काल की आर्य जाति के सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन का वर्णन कीजिए।

2. "From Nature to Nature's God" sum up the religious beliefs of the Rig Vedic Aryans. Examine this statement in the light of Vedic Literature (1953).

सिद्ध कीजिये की आर्यों के ऋग्वेद कालीन धर्म में प्रकृति से प्रकृति देवता का प्रवेश हुआ।

3. Give a brief account of the economic, religious and political life of the Rig Vedic Aryans (1952).

अध्याय ६

बाद की वैदिक संस्कृति तथा सभ्यता

जिस 'ऋग्वैदिक काल' की सभ्यता का वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है वह आर्यों के भारत प्रवेश से लेकर ऋग्वेद की रचना तथा उसके पश्चात् तक की सभ्यता है। परन्तु कुछ काल और बाद कुछ अन्य ऐसे धार्मिक ग्रन्थों की रचना हो जाती है जिसके कारण हम इस नवीन काल को ऋग्वैदिक काल से पृथक् कर लेते हैं। यद्यपि सभ्यता के मूलभूत तत्व भिन्न नहीं है परन्तु कुछ ऐसे परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं जिनके कारण दोनों सभ्यताओं का अध्ययन एक साथ सम्भव नहीं होता। इस काल बहुत से धार्मिक ग्रन्थ रचे गये और उन्हीं के आधार पर हम इस काल के सभ्यता के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं।

(अ) वैदिक साहित्य

'वेद' शब्द संस्कृत के 'विद्' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है ज्ञान : इस शब्द का प्रयोग उस काल के ऐसे ग्रन्थों के लिये होता है जो परम्परा से चली आ रही थी और जिसे पवित्र माना जाता था। ये ग्रन्थ 'श्रुति' या ईश्वरीय देन माने जाते हैं।

वैदिक साहित्य का विभाजन चार प्रकारों में किया गया है। ये इस प्रकार हैं : (१) मन्त्र या संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक तथा (४) उपनिषद्।

१. **मन्त्र या संहिता**—संहिता चार हैं। ऋक्, साम, यजुस् तथा अथर्व। इनमें प्रथम तीन अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

ऋक् संहिता (ऋग्वेद) सबसे प्राचीन तथा पवित्र माना जाता है। इनके मंत्र 'होत्री' द्वारा यज्ञ इत्यादि में पाठ किये जाते थे, यद्यपि इसके मंत्रों का वर्णन आर्यों के आदि काल के बारे में काफी मात्रा में है तथापि हमें मानना पड़ेगा कि इसका सम्पूर्ण संकलन एक ही समय में नहीं हुआ।

सामवेद मन्त्रों की पुस्तक है और ये मन्त्र सोम यज्ञ के समय पुरोहितों के एक भिन्न श्रेणी जिन्हें 'उद्गात्री' कहते थे, उच्चारित किये जाते थे। इसमें केवल ७५ मन्त्र मौलिक हैं और शेष ऋग्वेद से लिये गये हैं।

यजुर्वेद में न केवल ऋग्वेद से ही मन्त्र लिये गये हैं परन्तु ऐंसे मन्त्र भी जोड़े गये हैं जिन्हें हम यज्ञ की प्रार्थना का मन्त्र भी कह सकते हैं। यज्ञ के ऐसे पुरोहित जो यज्ञ के परिश्रमी कार्य करते थे इन्हें पाठ करते थे। इन पाठकों को "अध्वर्यु" कहते थे। यजुर्वेद के दो अंग हैं। कृष्ण यजुर्वेद तथा श्वेत यजुर्वेद।

अथर्ववेद—उपरोक्त तीन वेदों के कुछ समय पश्चात् अथर्ववेद को भी संहिता ग्रन्थ का स्थान प्राप्त हुआ। इसके अधिकतर मन्त्र, राक्षस, यक्ष, व्याधि को वश में रखने के लिये रचे गये। इसके ऐसे मन्त्र जो देवताओं की स्तुति में लिखे गये हैं अत्यन्त सुन्दर हैं।

(२) **ब्राह्मण**—आर्यों के भारत में विस्तार के पश्चात् वेदों की व्याख्या की आवश्यकता का अनुमान करके ये ग्रन्थ रचे गये। इन मन्त्रों का अर्थ समझने तथा मनन

करने में ये अत्यन्त सहायक हैं। आर्यों के कर्मकाण्ड तथा यज्ञ विधि का उल्लेख इसी से प्राप्त होता है। कुछ मुख्य 'ब्राह्मण' निम्नलिखित हैं :—

ऐतरेय, कौषीतकी, तांडच, जैमीनी, शतपथ तथा गोपथ।

(३) **आरण्यक**—ये ब्राह्मण ग्रन्थ के ही भाग हैं। परन्तु इनमें बतलाये आध्यात्मिक विषयों का मनन ऋषि वन में, सामाजिक चहल पहल से दूर, शांतिमय वातावरण में करते थे। भाषा तथा शैली में इनका ब्राह्मण ग्रन्थों से सामंजस्य है। आध्यात्मिक विषयों पर विवेचन होने के कारण इन ग्रन्थों से हमें आर्यों के आध्यात्मिक विकास का पता चलता है।

(४) **उपनिषद्**—उपनिषद् आरण्यक का ही एक अंग है। परन्तु इनमें जीव, सृष्टि और ईश्वर के विषय में चिन्तन तथा विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उपनिषद् हमें बतलाते हैं कि ब्रह्म एक है तथा सर्वव्यापी और सर्व अन्तर्यामी है। विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश ब्रह्म के इच्छानुसार ही होता है। कर्म, माया मुक्ति आदि पर इन ग्रंथों ने जो प्रकाश डाला है वह आज भी अध्ययन तथा विचार करने योग्य हैं। आज विश्व हिन्दू विचारों की महत्ता उपनिषद् के दार्शनिकता के बल पर ही मानता है। उपनिषदों में, ईश, केन, कठ, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक मुख्य माने जाते हैं। 'श्रुति' ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिन्हें हम प्राचीन तथा आदरणीय मानते हैं। इन्हें 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति साहित्य में, वेदांग, उपवेद तथा दर्शन माने जाते हैं।

वेदांग छः हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द तथा (६) ज्योतिष, वेदांग हैं। इनमें कल्प अधिक महत्वपूर्ण है। इसी कल्प का गृह्यसूत्र भाग आर्यो का घरेलू जीवन का वर्णन करता है।

उपवेद—छोटे वेद हैं। आयुर्वेद औषधि विज्ञान है। धनुर्वेद में युद्धकला, गन्धर्व-वेद में संगीत कला तथा शिल्पवेद में शिल्पकला का वर्णन किया गया है।

दर्शन में आध्यात्मिक विषयों की विचारधारा प्रकट की गई है। छः दर्शन इस प्रकार हैं—(१) कपिल का सांख्य दर्शन, (२) पातंजलि का योग दर्शन, (३) गौतम का न्याय दर्शन, (४) कणाद का वैशेषिक दर्शन, (५) जैमिनी का पूर्व-मीमांसा दर्शन तथा (६) व्यास का उत्तर मीमांसा दर्शन।

(ब) सभ्यता

राजनीतिक अवस्था

आर्यों के विभिन्न वर्गों का उल्लेख करते हुए भारत में उनके द्वारा विभिन्न भू-भागों पर राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का विवरण प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है। इस विवरण से हमें ज्ञात हो चुका है कि अब उनका राजनीतिक विकास लगभग पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और इसमें आश्चर्यजनक प्रगति हो चुकी थी। यहाँ उनके राजनीतिक संगठन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा और तत्कालीन विभिन्न राज-नीतिक संस्थाओं के नियमों का उल्लेख किया जायगा। सर्वप्रथम हम सरकारों पर प्रकाश डालेंगे।

संघ-शासन—आर्यों ने जब पूर्व तथा दक्षिण की ओर प्रसार किया तो उन्हें काफी विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। पर यातायात की असुविधा तथा प्राकृतिक बाधाओं के कारण उन्हें इसमें कठिनाई पड़ी। अतः उन्हें विशाल

साम्राज्य के अधीन छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना करनी पड़ी। कुछ ग्रन्थों में 'अधिराज' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह परिलक्षित होता है कि एक बड़े राजा के अधीन कुछ अन्य राजा भी राज्य करते थे। 'राजाधिराज', 'एकराट' आदि शब्दों से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि कुछ बहुत बड़े-बड़े राजा थे जिनके अधीन अनेक छोटे-छोटे राजा भी थे। उत्तरी भारत में असंख्य छोटे-छोटे राजाओं के होने का प्रमाण मिलता है।

राजा—राजा या सम्राट् का पद बहुधा वंशगत होता था, पर इसके लिए प्रजा की अनुमति आवश्यक थी। अथर्ववेद में प्रजा के नियमन का उल्लेख विस्तृत रूप से मिलता है।

राज्याभिषेक—राजा की महत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हमें उसके अभिषेक संबन्धी उत्सव से प्राप्त हो जाता है। राज्याभिषेक के अवसर पर राजसूय यज्ञ का आयोजन किया जाता था। अभिषेक के समय राजा शपथ ग्रहण करता था कि यदि वह किसी प्रकार का अत्याचार प्रजा पर करे तो उसका सारा पुण्य, उसका लोक और परलोक तथा उसकी सन्तान आदि नष्ट हो जायें।

इस युग में राजा का निर्वाचन अधिकांशतः प्रजा पर आधारित था, उसके ऊपर अगणित उत्तरदायित्व भी लाद दिये जाते थे, अपने मंत्रियों पर वह पूरी तरह निर्भर करता था तथा सभा और समितियाँ उसकी निरंकुशता पर अंकुश रखती थीं। पर इस सारी व्यवस्था के ऊपर ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों की महत्ता का प्रमुख कारण यह था कि तत्कालीन राजनीति पूर्णतया धर्माश्रित थी। धर्म ही अनुशासन था। राजा उसका माध्यम मात्र था और ब्राह्मण धर्माधिष्ठाता था। अतः वह राज्योपरि रहा।

राज्याधिकारी—राज-कार्य में राजा के अतिरिक्त अन्य लोगों की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः अनेक राज्याधिकारी राजा के चारों ओर घिरे रहते थे। इन राज्याधिकारियों को 'रत्निन' कहते थे। ध्यान रहे कि 'रत्निन' सम्भवतः उच्चकोटि के ही अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त अन्य साधारण अधिकारी भी रहे होंगे। 'रत्निन' के अतिरिक्त 'वीर' भी राज्य के अधिकारी थे। वीर या रत्निन का उल्लेख अथर्ववेद में किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण में आठ 'वीरों' का उल्लेख किया गया है:—

(१) राजा का भ्राता, (२) राज-पुत्र, (३) राज-पुरोहित, (४) राजमहिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्र (रक्षक), (८) संग्रहीत (कोषाध्यक्ष)। तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में कुछ अन्य वीर भी गिनाये गये हैं:—

(१) राजन्य, (२) सेनानी, (३) भागदुध, (४) अक्षावाप आदि। भागदुध करअध्यक्ष तथा अक्षावाप जुए का अध्यक्ष होता था। मैत्रायणी संहिता में कुछ अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है—(१) तक्ष (बढ़ई), (२) रथकार तथा (३) गोविकर्त (आखेटक) ये साधारण कोटि के अधिकारी ज्ञात होते हैं।

सभा-समिति—राजा की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए सभा और समितियाँ थीं। सभा सम्भवतः कुछ चुने हुए भद्रजनों की एक छोटी-सी संस्था थी और न्याय-सम्बन्धी कार्यों की देख-रेख करती थी पर समिति एक बड़ी और जनसाधारण की संस्था थी।

समिति का महत्व हमें इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राजा एक स्थान पर प्रार्थना करता है कि प्रजापति की पुत्रियाँ, सभा और समिति मुझ पर कृपा करें।

इसी प्रकार सभा भी इतनी अधिक महत्वपूर्ण थी कि प्रजापति (ईश्वर) स्वयं

इसके बिना काम नहीं कर सकता था। सभा में वाद-विवाद के पश्चात् राज्य की समस्याओं को सुलझाया जाता था।

समिति की महत्ता पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अधिकारी भी काफी थे। यह सम्भवतः युद्ध-सन्धि, आय-व्यय आदि विषयक मामलों को देखती थी। बहुमत द्वारा ही सभा और समितियों का काम होता था।

शासन-प्रबन्ध—राज्याधिकारियों का उल्लेख करते समय हमने बताया था कि शासन-प्रबन्ध को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारी थे। उनका पृथक्-पृथक् विभाग भी रहा होगा। सेनानी सेना का प्रबन्ध करता था। अथर्व वेद से यह ज्ञात होता है कि दूत या प्रहित जासूसी करते थे। इसी प्रकार ग्रामणी भी सैनिक अधिकारी था।

न्याय की देख-रेख सभा के अतिरिक्त राजा स्वयं करता था। तैत्तिरीय संहिता से ग्राम्यवादिन गाँव का न्यायाधीश जान पड़ता है।

पंचायत द्वारा भी झगड़ों का अन्त किया जाता था। अपराधों के विषय में हमें अधिक कुछ ज्ञान नहीं पर राजद्रोह निश्चय ही भारी अपराध माना जाता था जिसके लिए ब्राह्मण तक को प्राण-दण्ड दिया जा सकता था।

आय के साधनों में भूमिकर तथा व्यापार कर प्रमुख थे। अमीरों से कर लेने का उल्लेख कुछ स्थलों पर किया गया है।

आर्थिक व्यवस्था

कृषि—आर्थिक क्षेत्र में आशातीत उन्नति होना स्वाभाविक था क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए कृषि एवं व्यवसाय में प्रगति लाना अनिवार्य था। अब भी कृषि ही आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार थी। कृषि में अब काफी उन्नति हो गई थी। काठक संहिता में २४ बैलों वाले हल का उल्लेख किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कृषि-कार्यों, जुताई, बुआई, कटाई-ओसाई आदि का उल्लेख आया है—जौ (यव), धान (व्रीहि), गेहूँ (गोधूम), तिल आदि की खेती की जाती थी।

अन्य-व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसायों द्वारा भी लोग अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। इनमें से कुछ का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में किया गया है, जैसे मछुआ, सारथी, व्याध, धीवर,स्वर्णकार, मणिकार, रस्सी बँटने वाला, टोकरी बुनने वाला, धोबी, लुहार, कुम्भकार, नाई, रंगसाज, जुलाहे, खटिक आदि। पेशेवर नट (वंशनर्तिन) तथा बाँसुरी आदि बजाने वालों का उल्लेख भी शतपथ ब्राह्मण में किया गया है। नाव बनाने वालों की कुशलता का बोध हमें वाजसनेयी संहिता में वर्णित १०० पतवारों की नाव से होता है। यह नाव समुद्र में चलाई जाती थी। आर्यों की समुद्र-यात्रा का उल्लेख भी हमें इस युग के साहित्य में मिलता है।

वणिकों एवं व्यापारियों का कोई संगठन रहा होगा जो सम्भवतः 'श्रेष्ठि' की अधीनता में था ! 'श्रेष्ठि' शब्द का प्रयोग विभिन्न ग्रन्थों में किया गया है।

उधार रुपया भी दिया जाता था जिसे अदा करने में लोग चूकते न थे। अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋण न चुकाना एक पाप है जिसके लिए प्रायश्चित करना पड़ता है।

धातुओं का प्रयोग अब काफी बढ़ता जा रहा था। वाजसनेयी संहिता में सोना (हिरण्य), पीतल (अयस), लोहा (स्याम) ताँबा, (लोह), सीसा आदि का उल्लेख किया

गया है। सोने का आभूषण आदि में काफी प्रयोग होता था और इससे 'कर्णशोभन' तथा प्याले बनाये जाते थे। अष्टप्रद, शतमान, कृपाल आदि निर्धारित भार के स्वर्ण-कलश से मुद्राओं का ही बोध हो सकता है।

पशु-धन में भी अभिवृद्धि होती जा रही थी और अब लोग हाथी भी पालने लगे थे। उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में लोगों ने विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में काफी उन्नति कर ली थी।

बौद्धिक तथा धार्मिक अवस्था

उत्तर वैदिक काल की बौद्धिक उन्नति के परिचायक न केवल वे महान् ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख परिच्छेद के बिलकुल प्रारम्भ में किया गया है वरन् इनके अतिरिक्त भी बहुत से महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई जिन्हें केवल बौद्धिक विकास के आधार पर ही सृजित किया जा सकता था। नीचे तत्कालीन शिक्षा-पद्धति तथा साहित्यिक प्रगति पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

शिक्षा—ऋग्वैदिक काल में दादुरों से बालकों की उपमा देखकर हमने पाठशालाओं की कल्पना की थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं, पाठशालाओं के प्रमाण ही हमें प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम 'उपनयन' संस्कार होता है और तभी 'आचार्य' विद्यार्थी—'ब्रह्मचारी' का एक दूसरे जीवन में प्रवेश कराता है ('द्विज' बनाता है जिसका अर्थ दूसरा जन्म होता है)। 'श्रम' और 'तप' करना उसके लिए आवश्यक था। गुरु अपने शिष्य को हर प्रकार से सत्य-पथ पर लाने का प्रयास करता था क्योंकि वह उसके पापों का उत्तरदायी था (शिष्यापापम् गुरोसि)। शिष्य भी अपने गुरु को दूसरा भगवान् मानता था और वह उसके संकेतों पर ही चलता था।

शिक्षा के विषयों पर प्रकाश डाल देना भी आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषद में नारद तथा सनत्कुमार का जो वार्तालाप दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों विभिन्न प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे जिनमें देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षात्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, देवयजन-विद्या, कल्प, श्राद्ध, राशी, तर्कशास्त्र आदि प्रमुख थे। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद से भी इतिहास, उपनिषद, अनुव्याख्यान,व्याख्यान आदि की शिक्षा का बोध होता है।

धर्म—शिक्षा की प्रगति का अध्ययन कर लेने के बाद हमें विचाराधीन काल की धार्मिक स्थिति पर विचार करना चाहिये क्योंकि इस युग की धार्मिक स्थिति के मूल में शिक्षा का भी बहुत बड़ा हाथ रहा और उसके ज्ञान के पश्चात् ही हम उक्त काल की धार्मिकता को भली-भाँति समझ सकते हैं।

यज्ञ—प्रारम्भिक उत्तर वैदिक काल में धार्मिक क्षेत्र में महान् परिवर्तन हुआ। यह ब्राह्मणों तथा यज्ञों के महत्व की वृद्धि है। अब तक केवल सात पुरोहित यज्ञ में भाग लेते थे, किन्तु उत्तर वैदिक काल में इनकी संख्या १७ हो गई—होतृ तथा उसके तीन सहायक उदगातृ तथा उसके तीन सहायक अध्वर्यु तथा उसके तीन सहायक, ब्राह्मण तथा उसके तीन सहकारी। इन १६ पुरोहितों का प्रधान सत्रहवाँ ऋत्विज सदस्य था। यज्ञों की संख्याओं में भी वृद्धि हो गई थी। अब बहुत से ऐसे भी यज्ञ थे जो वर्षों चलते रहते थे। यज्ञों की प्रधानता ने जीवन के दृष्टिकोण को अब पूर्णतया परिवर्तित कर दिया था। अब ब्राह्मणों का अन्धानुकरण करना आवश्यक हो गया था।

तप—तप की महिमा का गुणगान ऋग्वेद के दसवें मंडल से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसके पूर्व नौ मण्डलों में तप का माहात्म्य नहीं बताया गया है। ऋत और

सत्य की उत्पत्ति तप से हुई है, तप ही भावी जीवन का द्रष्टा है, तप से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, देवता तप करते हैं और तप-यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग जीता है। प्रजापति ने सृष्टि रचना के लिए तप किया था। तप, यज्ञ, ऋत तथा ब्रह्म आदि के आधार पर ही विश्व स्थिर है आदि का उल्लेख हमें वैदिक साहित्य में बिखरा-सा मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया कि देवताओं ने तप के द्वारा देवत्व प्राप्त किया था। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद में वरुण ने अपने पुत्र से कहा है, "तप से ब्रह्मा को जानो क्योंकि तप ही ब्रह्मा है।' मैत्रायणी उपनिषद ने तो यहाँ तक कह दिया है कि तप के बिना तो ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता है। पर इसी काल में कुछ ऐसे भी चिन्तक थे जिन्होंने तप के महत्व को नहीं स्वीकार किया है।

दार्शनिकता—इस यज्ञ तथा तप के काल में ही दूसरी ओर दार्शनिकता का जो बोलवाला आरम्भ हुआ वह सम्पूर्ण आर्य जगत को अपने में समाविष्ट कर लेने को पर्याप्त था। इस दार्शनिकता के मूल में तत्व-ज्ञान की खोज थी जिसमें ज्ञान-पिपासा की शान्ति, लोक-परलोक के वास्तविक मार्ग की माँग थी। यद्यपि यज्ञ तथा तप के समर्थकों ने इन प्रश्नों का केवल एक उत्तर बहुत दृढ़तापूर्वक यह दे दिया कि 'तप ही ब्रह्म है, पर ज्ञान-पिपासा तर्क ढूँढती है, विश्वास से पूर्ण सन्तुष्टि नहीं होती।' सौभाग्यवश उन दिनों तर्क की पूर्ण स्वतंत्रता थी। इसी स्वतंत्रता ने दार्शनिकों को अपने मतों के प्रतिपादन में सफलता प्रदान की। आत्मा, परमात्मा, इहलोक, परलोक, स्वर्ग-नरक, मोक्ष आदि की जो स्पष्ट एवं उचित व्याख्या तत्कालीन दार्शनिकों ने की उससे आशा तो यह थी कि तत्कालीन समाज पूर्णतया परिवर्तित हो जाता, दार्शनिकता (तर्क) विश्वासों का इति कर देती पर दुर्भाग्यवश इन दार्शनिकों में मतैक्य न था, कभी-कभी तो वे एक दूसरे का जोरदार खंडन कर देते थे और तब क्या ग्राह्य है, क्या नहीं, क्या उचित है, क्या अनुचित यह समस्या लोगों के सम्मुख उपस्थित हो जाती थी, जिसका समाधान उनकी रुच्यानुसार या आवश्यकतानुसार न होने पर उन्हें पुनः अन्धानुकरण ही करना पड़ता था जिसका प्रतिफल था यज्ञों और तपों में जीवन लगा देना।

तत्वज्ञान की प्राप्ति अर्थात् दार्शनिकता की उत्पत्ति का श्रेय उपनिषदों को दिया जाता है; किन्तु उपनिषदों में भी किसी एक मत का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

आत्मा-ब्रह्म—उपनिषदों ने आत्मा को ही जीवन का मूलतत्व माना है जो अजर और अमर है। जगत् में जितनी आत्माएँ हैं वे सब एक ही ब्रह्म की रूपान्तर हैं। ब्रह्म अनादि, अनन्त और अकारण है। ब्रह्म स्वसृजित है। इसे किसी ने निर्मित नहीं किया है। सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में ब्रह्म है। ब्रह्म ही नित्य और सब अनित्य है। ब्रह्म को जानना जीवन का ध्येय है। ब्रह्म का जानने वाला संसार को तुच्छ समझेगा जैसा कि यह है भी। किन्तु ब्रह्म को जानने का मार्ग भी सरल नहीं है। इसके लिए वेद का पठन-पाठन, विद्या, या ज्ञान-प्राप्ति ही आवश्यक नहीं है, अपितु सदाचार, धर्म का पालन आदि भी अनिवार्य है। आचार की शुद्धता से ही हृदय में शान्ति आ सकती है और तभी आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु उपनिषदों में ही अन्यत्र उपरोक्त मत का प्रतिवाद इस प्रकार उपस्थित किया गया है कि केवल सदाचार से ही ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। यज्ञ, दान आदि की आलोचना करते हुए इसमें बताया गया है कि परमेश्वर की भक्ति, परमेश्वर को आत्मसमर्पण आदि से ही ब्रह्म को समझा जा सकता है। अहंकार और मद के रहते हुए यह सब असम्भव है। कहीं-कहीं उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि जीव, ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। योग द्वारा ब्रह्म को समझा जा सकता है।

मोक्ष और पुनर्जन्म—ये दोनों विपरीत स्थितियाँ हैं। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष पाने के पश्चात् आत्मा का अन्त नहीं होता। वह उस महान सागर (परमात्मा) में विलीन हो जाती है। उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके विपरीत यदि मनुष्यों का कर्म (इस जन्म का कर्म) पवित्र नहीं है तो उन्हें पुन: अपने कर्मानुसार जन्म लेना पड़ेगा। "देवता, मनुष्य, जन्तु, वनस्पति सबकी आत्मा कर्म के कठोर नियम के अधीन है। प्रत्येक अभिलाषा, आकांक्षा या क्रिया का प्रभाव—अच्छा या बुरा आत्मा पर पड़ता है, यह प्रभाव एक जीवन तक परिमित नहीं है; मरने के बाद फिर कर्मानुसार जन्म होता है और कर्म का फल भोगना पड़ता है; इस दूसरे जीवन के कर्मों का फल तीसरे जीवन में होता है और इस प्रकार चक्र चलता रहता है।"

देवता—ऋग्वैदिक कालीन देवता अब भी पूज्य थे यद्यपि इनमें कुछ का महत्व घटता जा रहा था और कुछ का बढ़ता जा रहा था। प्रजापति जो प्रारम्भ में देवलोक में विशिष्ट स्थान रखता था अब उसकी महत्ता घट गई और अब रुद्र तथा विष्णु को प्रधानता दी जाती थी। ऋग्वेद में रुद्र को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त था किन्तु उत्तर वैदिक काल में इसकी महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई। इसी प्रकार विष्णु जो सूर्यदेव के पाँच रूपों में से एक रूप माना जाता था अब स्वतंन्त्र महत्वपूर्ण देवता हो गया। रुद्र का विरुद् अब शिव हो गया और वह मंगलकारी देवता माना जाने लगा।

सामाजिक अवस्था

समाज और नारी—ऋग्वैदिक काल के आर्यों ने अपने समाज में नारियों को जो महत्व दिया था उससे हम भली भाँति परिचित हैं, किन्तु उत्तर वैदिक काल में उनकी दशा धीरे-धीरे गिरती जा रही थी। आर्य-अनार्य-सम्मिश्रण का भय समाज के नेताओं को बहुत बना रहा। अत: उन्होंने वैवाहिक नियमों को कठोर बनाने का प्रयास किया था। यद्यपि वे इसमें पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाये थे, क्योंकि उत्तर वैदिक काल में ऐसे ब्याहों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके प्रयासों का तो प्रभाव समाज पर पड़ा ही होगा। स्त्रियों में पर्दा प्रथा न थी, पर अब वे पुरुष-वर्ग से धीरे-धीरे दूर रहने लगी थीं जिसका तत्कालीन कुप्रभाव तो यह पड़ा कि उन्हें पुरुषों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले ज्ञान से वंचित रहना पड़ा और समता के भाव का भी लोप हो गया। अज्ञानता एवं अशिक्षा ने इनकी स्थिति को और भी दुर्बल बना 'दिया।

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में जहाँ हमें स्त्रियों की हीनता के उदाहरण अधिकाधिक प्राप्त होते हैं वहीं उनकी महानता के भी फुटकर उल्लेख मिलते हैं। स्त्रियों के विदुषी होने के प्रमाण हमें ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषतिकी ब्राह्मण से प्राप्त होते हैं। स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध चाहे छोटे पैमाने पर ही क्यों न रहा हो, पर था अवश्य; क्योंकि उपनिषदों में शिक्षित नारियों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कुछ स्थलों पर तो स्त्री-शिक्षकों का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कुछ वीरांगनाओं के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं, जो अपने पतियों के साथ सामरिक कार्यों में हाथ बटाती थीं।

विवाह-प्रथा—विवाह-प्रथा में अब तक विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया था और दहेज देने की भी प्रथा थी, पर कभी-कभी दामाद स्वसुर को द्रव्य देता था। सगोत्र विवाह की मनाही अभी सम्पूर्ण वर्गों में नहीं हुई थी।

बहु विवाह की भी प्रथा उन दिनों काफी प्रचलित थी। मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियों का उल्लेख है।

विधवा-विवाह तो ऋग्वैदिक काल में प्रचलित था ही, उत्तर वैदिक काल में भी इसका प्रमाण मिलता है।

कौटुम्बिक जीवन—कौटुम्बिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आ पाया था। अब भी प्रधान का वही आदर था। माता के आदर का भी प्रमाण हमें पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है। कौटुम्बिक जीवन में यदा-कदा कटुता आ जाने का उल्लेख भी किया गया है। इसलिए अथर्ववेद में कौटुम्बिक शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। बहुधा बहुओं में संघर्ष हो जाया करते थे, सम्भवतः इसीलिए कुछ स्त्रियाँ ससुराल से मायके भाग जाती थीं। इस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब अब भी चल रहा था और इसमें स्वाभाविक प्रेम या द्वेष विद्यमान थे।

गृहस्थ जीवन तथा उसके मूलाधार—गृहस्थ जीवन का पूर्ण चित्रण गृहसूत्र से प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ में जन्म से मृत्यु तक के सारे नियमों तथा सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है। प्रसंगतः व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्ध में भी उल्लेख कर दिया गया है पर यह सूक्ष्म रूप में ही; क्योंकि यह धर्मसूत्र का विषय है। गृहसूत्र में वर्ण-संस्कारों का उल्लेख किया गया है जिनमें कुछ प्रमुख संस्कार निम्नलिखित हैं :—

(१) गर्भाधान संस्कार, (२) पुंसवन संस्कार, (३) जन्म संस्कार, (४) नामकरण संस्कार, (५) निष्क्रमण संस्कार (सौर गृह से शिशु को बाहर लाने का संस्कार), (६) अन्नप्राशन संस्कार, (बच्चे को अन्न खिलाना), (७) चूड़ाकर्म संस्कार (बाल काटना), (८) उपनयन संस्कार (ब्रह्मचारी की दीक्षा), (९) समावर्तन संस्कार (गुरु-गृह से लौटना), (१०) विवाह संस्कार, (११) पंच महा-यज्ञ संस्कार, (१२) अन्त्येष्टि संस्कार (अन्तिम क्रिया)।

इन संस्कारों में ही आर्यों का सम्पूर्ण जीवन बँधा हुआ था। प्रत्येक आर्य को इनसे होकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करनी होती थी।

ऊपर विवाह संस्कार का उल्लेख किया गया है। विवाह की अब तक विभिन्न प्रथाएँ प्रचलित हो गई थीं। उत्तर वैदिक काल में प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेमालाप का विवरण हमें प्राप्त हो चुका है। सूत्रकाल तक आते-आते इसमें आश्चर्यजनक अभिवृद्धि परिलक्षित होती है।

पंच महायज्ञ ये थे—

(१) ब्रह्म यज्ञ, (२) देव यज्ञ, (३) पितृ यज्ञ, (४) मनुष्य यज्ञ और (५) भूत यज्ञ।

उपरोक्त यज्ञों के अतिरिक्त सात पाक यज्ञों का भी उल्लेख किया गया है। इन यज्ञों के अनुष्ठान का एकमात्र उद्देश्य था मनुष्य को सत्कार्यों में लगाना, अपने देवों, पूर्वजों, सखा, स्वजन, परिजन, अतिथियों आदि के प्रति कर्त्तव्य-पालन, जिससे जीवन सुखमय हो सके।

सम्पूर्ण गृहस्थ जीवन का मूलाधार यही कर्त्तव्य-पालन ही था। इनसे च्युत होने वाला व्यक्ति आर्य-वर्ग में हीन समझा जाता रहा होगा।

आश्रम—गृह सूत्र के विषय में लिखते हुए बताया गया था कि यह ग्रन्थ आश्रम धर्म पर पूर्ण प्रकाश डालता है। आश्रम का महत्व कितना अधिक बढ़ गया था इसका प्रमाण हमें गृह सूत्र से प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास चार आश्रमों का विधान किया गया था। ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के पास रहकर विद्याध्ययन करना पड़ता था। तत्पश्चात् घर लौटकर गृहस्थ जीवन नियमानुसार व्यतीत करना पड़ता था। ऋषि ऋण, देव ऋण तथा पितृ ऋण से उरिण होने के लिए सतत् प्रयास करना पड़ता था। ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिए स्वाध्याय, देव ऋण के लिए यज्ञ

तथा पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए सन्तानोत्पत्ति करने का विधान था। अतिथि सत्कार गृहस्थ जीवन का प्रमुख अंग था। पंच महायज्ञों का उल्लेख किया जा चुका है।

गृहस्थ जीवन समाप्त कर लेने के पश्चात् तृतीय आश्रम का आरम्भ होता है जो प्रथम दो से बहुत कठिन है। सम्भवत: प्रपौत्र उत्पन्न हो जाने के पश्चात् वानप्रस्थ ग्रहण किया जाता था। वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत (१) वस्तु-त्याग, (२) स्वाध्याय, (३) वर्षा-काल में एक स्थान पर विश्राम, (४) भिक्षाटन (केवल स्वेच्छापूर्वक दी हुई भिक्षा का ग्रहण), (५) कौपीन-धारण, (६) पुष्प-पत्र न तोड़ना, (७) एक ग्राम में एक रात से अधिक निवास न करना (वर्षा ऋतु को छोड़कर), (८) स्वजीवन के लिए बीज न नष्ट करना अपितु पका हुआ अन्न चाहे किसी का दान रूप में दिया हुआ ग्रहण न करना आदि नियम उल्लिखित हैं।

संन्यास आश्रम इससे भी कठिन है। अब वन में केवल वन की सामग्रियों को कम से कम खाकर जीवन बिताना पड़ता था। भिक्षा माँगने के लिए गाँवों में भी आने की अनुमति नहीं दी गई थी। चमड़ा या छाल आदि से तन ढाँकना पड़ता था। जटायें बढ़ा लेनी पड़ती थीं। आपत्तिकाल में मांस-भक्षण तक की अनुमति दी गई है पर वह स्वयं आखेट नहीं कर सकता था। माया-मोह के बन्धन यहाँ समाप्त हो जाते हैं।

वर्गीकरण या वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ये तीनों वर्ग अब पूर्णतया वर्ण बन चुके थे। अर्थात् अब इनमें परम्परा का पुट आता जा रहा था। पुरोहित पिता का पुत्र भी पुरोहित (ब्राह्मण) होता था। इसी प्रकार शासकों एवं योद्धाओं (क्षत्रियों) का पुत्र भी क्षत्रिय होता था; किन्तु ऋग्वैदिक काल में ऐसी कोई बात न थी। वैश्य पिता के कवि पुत्र तथा पिसन-हारिन माता का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा चुका है। शूद्रों का भी उल्लेख उस काल में किया गया था। पर इनमें भी अब महान् परिवर्तन आ गया था।

जिस प्रकार ऋग्वैदिक काल में अनार्यों (जिन्हें अब शूद्र कहा जाने लगा था) या दस्युओं के धनी होने का प्रमाण मिलता है। उसी प्रकार उत्तर वैदिक काल के साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि कुछ शूद्र काफी धनाढ्य थे। अब हम ऋग्वैदिक काल के ब्राह्मण, क्षत्रियों तथा उत्तर वैदिक काल के ब्राह्मण, क्षत्रियों के अन्तरों को स्पष्ट करने के लिए उन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे।

ब्राह्मण—ऋग्वैदिक काल से ही ब्राह्मणों ने पठन-पाठन का कार्य अपनाया था। पठन-पाठन का एक मात्र उद्देश्य था धर्म में पारंगत होना। धर्म की प्रधानता उत्तर वैदिक काल में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। अत: धर्म के एक मात्र अधिष्ठाता ब्राह्मणों की प्रधानता में भी वृद्धि होना स्वाभाविक था। ब्राह्मण अपने से नीचे किसी भी वर्ण की कन्या से सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे किन्तु व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता था।

क्षत्रिय—क्षत्रियों की महानता में भी अब उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। यदि ब्राह्मणों के महत्व का प्रमुख कारण धर्म था तो क्षत्रियों का राजनीतिक। अपने राजनीतिक महत्व के कारण ही उनकी पद-वृद्धि होती गई। ब्राह्मणों की भाँति कालान्तर में इनमें भी अनेक शाखाओं का जन्म हो गया।

वैश्य—वैश्य शब्द का प्रयोग सबसे पहले पुरुषसूक्त में किया गया है। वैश्यों में अनेक उप-जातियाँ शीघ्रातिशीघ्र बन गईं क्योंकि इन्होंने असंख्य प्रकार के व्यवसायों को अपना लिया था।

शूद्र—शूद्रों के विषय में प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। पर इन चारों वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग थे जो इस वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे। चाण्डाल, पौल्कस आदि इसी प्रकार के वर्ग थे। दासों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इस वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे या इसके अन्तर्गत ही थे, पर उनको किसी प्रकार का सामाजिक या राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त था। वे अपने मालिक की सम्पत्ति थे और दान रूप में या अन्य किसी रूप में भी दिये जा सकते थे।

(स) वर्ण-भेद या जात-पाँत

ऋग्वैदिक काल के 'वर्ग' ने उत्तरवैदिक काल में वर्ण का रूप धारण कर लिया था यह तो हम अभी वर्णन कर आये हैं। इस वर्ग का जटिल जात-पाँत के रूप में परिवर्तन होने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि इस वर्ण की उत्पत्ति कैसे हुई। इस वर्गीयकरण का क्रम भारतवर्ष में इस प्रकार चलता रहा है कि प्रारम्भ के चार वर्ण आजकल के लगभग ३००० जातियों में बँट गये हैं।

इस जाति के उत्पत्ति के बारे में मतैक्य न होने के कारण भिन्न-भिन्न विचारों का विवेचन कर लेना ही समुचित होगा।

(१) **वर्ण या रंग**—वर्ण शब्द का अर्थ रंग है और इसी के आधार पर शाम शास्त्री ने अपने विचार प्रकट किये हैं कि आर्यों के सामाजिक जीवन में भिन्न-भिन्न रंग के वस्त्र पहनने वालों का एक-एक अपना वर्ण बन गया। उनका मत है कि सफेद वस्त्र ब्राह्मण पहनते थे, क्षत्रिय लाल, वैश्य पीला और शूद्र काला पहनते थे। शास्त्री जी के इस तर्क में हम देखते हैं कि उन्होंने उत्पत्ति के विषय में न बताकर वर्ण बन जाने के उपरान्त उनकी व्यवस्था पर विवेचन किया है। अतः यह रंग का तर्क वर्ण व्यवस्था का मूल नहीं हो सकता है।

(२) **ईश्वरीय विभाजन**—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मन्त्र से कुछ जाति के उत्पत्ति का संकेत है और उसी के आधार पर कुछ लोगों ने वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय या दैवी बतलाया है। मन्त्र इस प्रकार से है: "ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहु राजन्यः कृतः ऊरु तदस्य यद वैश्यः पद्भ्यां शूद्रों अजायत।" इस श्लोक का अर्थ निकलता है कि ब्राह्मण ब्रह्म मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघा से तथा शूद्र पैर से पैदा हुए। परन्तु यह श्लोक भ्रमात्मक है। इसमें यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो सामाजिक शरीर का विवरण है। मुख वाणी देता है। बाहु से हम अपनी रक्षा करते हैं। जंघा बल तथा शक्ति देता है। पैरों पर तो हम खड़े रहते हैं। इस प्रकार सामाजिक संगठन में चारों वर्णों की महत्ता तथा कर्तव्य को बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मन्त्र ऋग्वेद के १०वें मण्डल में है जो भाषा के आधार पर बाद में जोड़ा गया प्रमाणित हो चुका है।

परब्रह्म सब जीवों का समान उत्पत्ति करने वाला है। उसके लिये ऊँच-नीच, छोटे या बड़े का प्रश्न उठाना एक बड़ी भूल है।

श्रम सिद्धान्त—इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण की उत्पत्ति न तो रंग के आधार पर है और न ईश्वर या दैवी-सृष्टि है। इसका आधार श्रम विभाजन है। ऋग्वैदिक काल में आर्य के जनसमूह के हर एक व्यक्ति को लड़ना पड़ता था। उपासना साधारण होने के कारण विशेष रूप से पुरोहित वर्ग की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परन्तु कुछ काल बाद भारत में बस जाने के उपरान्त आर्य अपने सामाजिक संगठन में श्रम

विभाजन की आवश्यकता अनुभव करने लगे। बलशील और समर्थ पुरुषों को शस्त्र-संचालन की शिक्षा देकर समाज-रक्षा का भार दिया गया और इनको क्षत्रिय कहकर सम्बोधित किया गया। धर्म में कर्मकाण्ड की महत्ता आ जाने से जटिलता आ गई थी। यज्ञ की विधि भी जटिल बन चुकी थी। इसलिए धार्मिक क्रियाओं का भार उस वर्ग को सौंपा गया जिसके मानसिक विकास का स्तर औरों से अधिक था। इस वर्ग को ब्राह्मण कहने लगे। व्यापार, उद्योग तथा खेती में लगे लोगों का भी धीरे-धीरे एक विशेष वर्ग बनाया गया जिसे वैश्य कहने लगे। दास और निम्न काम करने वालों का भी एक भिन्न वर्ग बनाया गया। इस वर्ग में भारत के आधे आदि निवासी तथा विजित लोग जिनको आर्यों ने अपनी सेवा के लिये रख लिया था, रख लिये गये। इस वर्ग को शूद्र कहा गया।

कालान्तर में भिन्न-भिन्न कार्य करनेवालों की अपनी एक-एक जाति बनती गई। धार्मिक जटिलता के आधार पर सामाजिक जटिलता की वृद्धि के साथ-साथ अस्पृश्यता की मात्रा भी आती गयी। भारत में इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् हिन्दुओं ने अपने सामाजिक संगठन में छुआ-छूत को बढ़ा दिया और जातियों की मात्रा बढ़ती चली गई। राजनैतिक सत्ता खोने के साथ ही हिन्दुओं का आत्मविश्वास भी जाता रहा। उनमें उदारता के स्थान पर संकीर्णता आती गई। अपने धर्म को वे अब जाति के रूप में देखने लगे और हर एक वर्ग की एक-एक जाति बनती चली गयी। समाज का यह जाति विभाजन का क्रम चलता रहा। फलस्वरूप इतनी जातियाँ बन गईं।

वर्ग व्यवस्था का समाज पर प्रभाव

हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में वर्ण व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक काल में वर्ण व्यवस्था भारत की प्रगति के मार्ग में एक रुकावट मात्र बनकर रह गयी है परन्तु प्राचीन काल में समाज संगठन की यह एक प्रमुख आधार रही है। इस तरह हम देखते हैं कि वर्ण व्यवस्था में गुण तथा अवगुण दोनों ही हैं। अतः हमें उनके गुण और अवगुण का पृथक रूप से विवेचन कर लेना ही समुचित होगा।

गुण—जिस समय भारत पर विदेशियों का आक्रमण हो रहा था जाति के कठोर नियमों के कारण हिन्दुओं ने अपने आपको विदेशियों से पृथक् रक्खा। इस प्रकार हिन्दुओं की संस्कृति की काफी मात्रा में रक्षा हुई। विदेशियों पर इस संस्कृति का प्रभाव पड़ा और वे इसे अपनाकर हिन्दू समाज में अपना एक वर्ग बनाकर सम्मिलित हो गये।

वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन के आधार पर बनी होने के कारण हर एक वर्ण अपना-अपना कार्य नियमित रूप से करना अपना धर्म समझता था। हर एक वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति बचपन से ही अपने घर के धन्धों को देखता और सीखता। काम सीखने के लिये उसे किसी और के यहाँ नहीं जाना पड़ता था। पिता के कार्य में हाथ बटाते-बटाते ही वह निपुण हो जाता और इस प्रकार जवान होकर अपने पैत्रिक धन्धों को आरम्भ कर देता। इस प्रकार वंश परम्परा से उसकी योग्यता, कुशलता तथा कार्यपटुता चली आती रही। फलस्वरूप भारतवर्ष में कला की शैली, तथा निपुणता सभ्यता की एक विशेषता बन गई।

वर्ण व्यवस्था के कारण हर एक वर्ग अपना-अपना एक-एक संघ बना लेता था और अपने सदस्यों की आर्थिक समस्याओं की देखरेख करता था। इसके अपने

नियम होते थे जिन्हें सबको मानना पड़ता था। इस प्रकार लोगों में कर्तव्य पालन करने तथा अनुशासन में रहने का अभ्यास हो जाता था।

अवगुण—जहाँ वर्ण व्यवस्था से इतना लाभ था वहीं वर्ण व्यवस्था से भारतवर्ष को हानियाँ भी काफी पहुँची हैं। हर एक वर्ण अपना वर्ग और अपना स्वार्थ प्रमुख समझता था। आपस में एक वर्ग दूसरे वर्ग से द्वेष करता तथा स्पर्द्धा व ईर्ष्या की भावना रखता था। विपत्ति काल में उन्हें देश की विपत्ति का ध्यान न होकर अपने वर्ग का ही केवल ध्यान होता। इस प्रकार देश में राष्ट्रीयता की भावना न आ सकी। फलस्वरूप भारत विदेशी आक्रमणकारियों के आगे सदा सर झुकाता ही रहा।

वर्ण व्यवस्था जन्म पर आश्रित होने के कारण जहाँ इससे लाभ थे वहीं इससे हानि भी काफी थी। बहुधा योग्य व्यक्ति अपनी जाति के कारण दूसरे कार्य को नहीं कर सकता था। एक योग्य पिता का अयोग्य पुत्र अपने पिता का पद ग्रहण अवश्य कर लेता पर उसके कार्य को सुचारु रूप से चला नहीं पाता। फलस्वरूप देश की प्रगति में रुकावटें पैदा हो जाती थीं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था भारतवर्ष की सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षक तथा पोषक रही है। परन्तु आधुनिक काल में अब इसकी आवश्यकता नहीं रही है। आज के समाज की तो यह एक अभिशाप मात्र बनकर रह गई है। यह भारत की प्रगति के मार्ग में बाधक है।

प्रश्न

1. What do you know of the origin of the Caste system ? Discuss its effects on the social and economic development of Indian Society. (1949, 1957).

2. Give a brief account of the sacred literature of the Aryans. What is their importance. (1953).

3. Give a brief account of Vedic Literature and point out its importance to the historians. (1954,

अध्याय ७

महाकाव्य काल

हिन्दुओं के दो धार्मिक महाकाव्य रामायण तथा महाभारत सारे देश में आदर-पूर्वक देखे जाते हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन तथा मनन अधिकतर लोग धार्मिक दृष्टिकोण से ही करते हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी ये ग्रन्थ कम महत्व-पूर्ण नहीं हैं। इनके आधार पर हम उत्तर वैदिक काल के बाद की आर्यों की सभ्यता का विवरण पाते हैं। परन्तु खेद का विषय है कि हम इन ग्रन्थों की रचना का सही समय आज भी नहीं वता सकते। हाँ इतना अवश्य है कि ये ग्रन्थ सम्भवतः उत्तर वैदिक काल के बाद तथा बौद्धधर्म के जन्म से पूर्व रचे गए थे। यद्यपि साधारणतः रामायण महाभारत से पहले की रचना मानी जाती है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महाभारत में वर्णित सभ्यता रामायण में वर्णित सभ्यता से पहले की है। रामायण तथा महाभारत की कथा का विवरण तो विद्यार्थी स्कूल में ही जान लेते हैं। अतः हम यहाँ केवल उस काल की सभ्यता का ही उल्लेख करेंगे।

महाभारत में वर्णित सभ्यता

महाभारत काल में सामाजिक संगठन का आधार वर्णव्यवस्था ही थी परन्तु इस वर्ण व्यवस्था में अब राज्यों के विकास होने से क्षत्रियों का आधिपत्य अधिक था। ब्राह्मण राजाओं का आश्रित वन गया था। अब ब्राह्मण किसी भी अवस्था में राज्य नहीं कर सकता था। उदाहरण के लिए हमारे सामने द्रोणाचार्य तथा विराट का संघर्ष है। द्रोणाचार्य कौरव पांडव की सहायता से विराट को युद्ध में परास्त करने पर भी राज्य न कर सके। परन्तु वर्ण व्यवस्था में शिथिलता अवश्य आती जा रही थी। वन पर्व में युधिष्ठिर कहते हैं : "जातियों का सम्मिश्रण इतना ज्यादा हो गया है कि जन्म नहीं चरित्र ही प्रधान है।" कुछ राजाओं का शूद्र कन्याओं से ब्याह करने का उल्लेख भी मिलता है। महाभारत में शूद्रों का स्थान अपेक्षाकृत कुछ ऊँचा हो गया था और राजा के अभिषेक के समय शूद्र भी बुलाये जाते थे। शूद्र राजपद पर भी नियुक्त होता था। कर्ण जो सूतपुत्र कहलाता था राजा बनाया गया।

महाभारत के विभिन्न पर्वों से हमें आर्यों के सामाजिक सन्तुलन था समन्वय की भावना का बोध होता है। इस समन्वय के अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह, वर्ण-नियम का ढीला करना, आचरण को प्रधानता देना आदि आता है। राजधर्मानुशासन में यह स्वीकार किया गया है कि आपत्ति के समय वर्ण के नियम ढीले हो सकते हैं।

समाज और नारी—वैदिक कालीन स्त्रियों को अपने समाज में कितना ऊँचा स्थान प्राप्त था, हम इससे अवगत हो चुके हैं। क्रमशः इस स्थिति में जो कमी आती गई उससे भी हमें पिछले अध्यायों में परिचित हो चुके हैं। महाभारत की नारियों की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। कहीं तो इन्हें बहुत अधिक सम्मान, प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता दी गई है, पर कहीं इन्हें घर की चहारदीवारी में बाँधने का प्रयास किया गया है। कुछ विचारकों ने इनकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है, पर कुछ ने इनका खुलेआम तिरस्कार किया

है और इन्हें माया, अग्नि, सर्पिणी, गरल, विचारविहीना, चंचला, दुश्चरित्रा, कृतघ्ना आदि की संज्ञा दी है।

उत्सव आदि में स्त्रियों के स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने का प्रमाण हमें सुभद्रा-हरण की कथा से ज्ञात होता है। स्त्रियों की महत्ता का प्रमाण हमें महाभारत में अन्यत्र मिलता है। एक स्थल पर कहा गया है, "पत्नी ही घर है, जिस घर में पत्नी नहीं वह घर नहीं है, चाहे बेटी-बेटे, पोते-पतोहू कितने ही क्यों न हों। धर्म-अर्थ और काम में, देश में और परदेश में, सुख में, दुख में, हर बात में पत्नी ही साथी है।"

सूत्रकाल में विवाह की आठ पद्धतियाँ थीं। लगभग ये सारी पद्धतियाँ इस समय भी विद्यमान थीं। गान्धर्व विवाह का प्रमाण शकुन्तला तथा दुष्यन्त के सम्बन्ध से ज्ञात होता है। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण नहीं है—सामग्रियाँ मतभेदयुक्त हैं। माद्री अपने पति पाण्डु के साथ अपनी जीवन-लीला भी समाप्त कर देती है। पर दमयन्ती के दूसरे स्वयंम्वर की घोषणा का भी उल्लेख मिलता है जिसे सुनकर नल के अतिरिक्त और किसी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ।

महाभारत के समय में सम्भवतः सर्वप्रथम नियोग की प्रथा का प्रचलन ज्ञात होता है। नियोग पति की मृत्यु के पश्चात् या विशेष दशा में उसके जीवित रहने पर भी उसकी आज्ञा से किया जाता था।

तत्कालीन समाज पर एक दृष्टि—मांस-भक्षण समाज में अब अधिक बढ़ गया था। आदिपर्व तथा वनपर्व से ज्ञात होता है कि राजा रन्तिदेव की बधशाला में नित्य दो हजार पशुओं का बध किया जाता था तथा वह मांस सर्वसाधारण में वितरित कर दिया जाता था।

समाज में धर्म का वही महत्व था। अब भी यज्ञों को प्रधानता दी जाती थी। राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ आदि का उल्लेख बराबर मिलता है। हाँ देवी-देवताओं में कुछ नवीनता आ रही थी, नवीनता इस अर्थ में कि कुछ प्राचीन वैदिक देवताओं को कम महत्व दिया जाने लगा और नवीन देवताओं के महत्व में वृद्धि कर दी गई। यह सूत्रकाल की परम्परा का ही अनुसरण था।

आमोद-प्रमोद, मृगया, आखेट, जुआ, नृत्य-संगीत आदि अनेक वस्तुएँ इस समय के समाज में पाई जाती थीं। साथ ही वीरता, कलाप्रियता आदि भी सराहनीय मानी जाती थीं। शस्त्र-शिक्षा शास्त्र-शिक्षा से महत्वपूर्ण होती जा रही थी। क्षत्रियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व का ही यह परिणाम रहा।

वैश्यों तथा विभिन्न उद्योग वालों का अपना-अपना संगठन था जो अपनी उन्नति तथा रक्षा के लिए बनते थे। इन्हें श्रेणी कहते थे जिसका प्रमुख ज्येष्ठक या श्रेणिन कहलाता था।

राजनीतिक अवस्था

राजा—महाभारत में राजा और अधिराज दो शब्द आये हैं जिनसे यह भाव निकलता है कि कुछ तो बहुत बड़े-बड़े राजा थे जो सम्राट् या अधिराज कहलाते थे और कुछ उनके अधीन छोटे-छोटे राजा थे। सभापर्व में राजा तथा अधिराज का उल्लेख है। इसी प्रकार अश्वमेधपर्व में भी अनेक राजाओं को अपनी प्रभुता स्वीकार कराकर अश्व-मेध यज्ञ करने वाले सम्राटों या अधिराजों का उल्लेख है।

राजा का पद काफी ऊँचा माना जाता था। उसे देवता-तुल्य समझा जाता था। किन्तु साथ ही उस पर काफी उत्तरदायित्व भी लादा गया था। एक स्थल पर तो यहाँ तक

कहा गया है कि दुष्ट राजा को जनता पदच्युत कर देती थी या उसको 'पागल कुत्ते की भाँति मार डालती थी'। राजा के कर्त्तव्य भी बहुत विस्तृत थे। शान्ति पर्व में वर्णित उसके कुछ प्रमुख कर्त्तव्य इस प्रकार थे— (१) कृषि-भूमि तैयार कराना, (२) सिंचाई की व्यवस्था कराना, (३) कृषकों को तकावी देना, (४) सड़क-निर्माण, (५) दान देना, (६) शान्ति-स्थापन, (७) प्रजा के नैतिक उत्थान में सहायक होना आदि।

शासन-व्यवस्था—तत्कालीन शासन-व्यवस्था की जो रूप-रेखा महाभारत से प्राप्त होती है, उस आधार पर हम उसे पूर्ववर्ती कालों से उन्नत मान सकते हैं।

मंत्रिपरिषद—राजा की निरंकुशता पर मंत्रिपरिषद का तथा समाज का भारी अंकुश था। मंत्रिपरिषद की अनुमति बिना राजा कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करता था। बहुधा साधारण कार्यों में भी वह मंत्रणा लेता था। चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र तथा एक सूत का एक सचिवालय होता था।

परिषद के अतिरिक्त 'सभा' का भी उल्लेख किया गया है जिसका प्रधान 'सभाध्यक्ष' होता था। सभा न्याय सम्बन्धी मामलों की देखरेख करती थी।

ग्राम-शासन—शासन की न्यूनतम इकाई ग्राम को माना गया था। ग्राम का प्रधान अधिकारी ग्रामणी होता था। इसके ऊपर दशग्रामी, विंश, तथा शतग्रामी होते थे। ये क्रमशः १०, २० तथा १०० ग्रामों के अधिकारी होते थे। इन सब के ऊपर एक हजार ग्रामों का अधिकारी अधिपति होता था। ग्राम का पूर्ण शासन इनके अधीन था। ये ही कृषि-कर भी वसूल करके राजकोष में भेजते थे। सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर को गाँव में पाँच अधिकारी रखने की मंत्रणा दी है।

गणराज्य—महाभारत में पाँच गणराज्यों का भी उल्लेख किया गया है। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज के गण-राज्यों ने अपना एक संगठन बना लिया था। कृष्ण को इस संघ का 'संघमुख' बताया गया है।

राज्य पदाधिकारी—शासन-प्रबन्ध को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अनेक प्रकार के अधिकारी होते थे। सभापर्व में १८ अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। युवराज का शासन-प्रबन्ध में काफी हाथ था। राजमहल, कारागार, अरण्य, सीमावर्ती प्रवेश आदि के विभिन्न अधिकारियों का विवरण मिलता है। शान्तिपर्व में अनेक प्रकार के अफसरों का उल्लेख किया गया है। इनमें खान, नमक, नदी, सेना, शुल्क आदि के अधिकारी प्रमुख हैं। सेना में अनेक प्रकार के अधिकारी थे।

सेना—युद्ध के लिए सेना रखना आवश्यक था और साम्राज्य-निर्माण के लिए युद्ध आवश्यक था। सेना में पैदल, अश्वारोही, गजारोही, रथी आदि सम्मिलित थे। सेना के अधिकारी अभिजात कुलीन व्यक्ति होते थे।

राज्य की आय—आय के प्रमुख साधन कृषि कर, जो उपज का $\frac{1}{6}$ भाग लिया जाता था तथा व्यापार-वाणिज्य कर थे। जुर्माना से भी अच्छी आमदनी हो जाती थी। शान्तिपर्व में ब्राह्मण से कर न लेने की बात कही गई है।

रामायण की सामग्रियाँ तथा उनका ऐतिहासिक महत्व

यद्यपि रामायण-महाभारत की सामग्रियों का अध्ययन विद्वानों ने एक साथ ही किया है क्योंकि ये दोनों लगभग एक ही काल का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु विचारों की विभिन्नता के कारण इनका अध्ययन पृथक-पृथक करना अधिक उपयुक्त है। समाज की अनेक मान्यताएँ रामायण में परिवर्तित हो गई हैं, राजनीति का भी कलेवर कुछ

अंशों में बदला-सा है। कौटुम्बिक जीवन को एक नया महत्व प्रदान किया गया है। इन सब कारणों से इसका पृथक् अध्ययन ही अधिक सुगम है।

सामाजिक जीवन

शूद्रों के जीवन का जो चित्रण वाल्मीकि ने किया है उससे यह ज्ञात होता है कि महापुरुष लोग उन्हें हेय दृष्टि से नहीं देखते थे। राजनीति में इन्हें स्थान देकर इनका महत्व अधिक बढ़ा दिया गया था। अरण्य में राम तथा निषादों के व्यवहार से भी इस की पुष्टि हो जाती है कि उदारचित्त व्यक्ति शूद्रों को सम्मानित करने में कोई अपराध की बात नहीं समझते थे।

नारियों की दशा में कुछ विकास हुआ था, पर ध्यान रखना चाहिये कि रामायण में दो ऐसे पात्रों का चित्रण प्रत्येक क्षेत्र में किया गया है जिनमें से एक उत्तम तथा दूसरा अधम है। जहाँ एक ओर राम का आदर्श प्रस्तुत किया गया है वहीं दूसरी ओर रावण के पतित जीवन का भी चित्रण है, जहाँ सीता जैसी सौम्यमूर्त्ति हैं वहीं कैकेयी जैसी क्लेश-कलह-उत्पादिनी नारियाँ भी हैं। राजकुमारियों को स्वयंवर का अधिकार था पर स्वयंवर में पिता कुछ शर्तें रख देता था जिससे उनकी स्वतंत्रता का अन्त हो जाता था। पातिव्रत धर्म का बहुत अधिक महत्व था। पति की सेवा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण सीता है।

बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी यह कहने की आवश्यकता नहीं। स्वयं राजा दशरथ इसके प्रमाण हैं। सौतों के पारस्परिक सम्बन्ध भी अच्छे न थे, तभी तो राम के वन जाते समय कौशल्या उनसे कहती हैं कि अब उनकी सौतें उनकी अवहेलना करेंगी। अतः वे सौतों के साथ नहीं रह पायेंगी।

अन्य सब प्रथाएँ महाभारत काल-सी ही थीं।

राजनीतिक अवस्था

राजा का महत्व अब भी उसी प्रकार था। राजा अपनी प्रजा का पालन बहुत कष्ट सहकर भी करने को तैयार था। ब्राह्मणों का राजा पर अब अपेक्षाकृत प्रभाव अधिक बढ़ गया था। शासन-प्रबन्ध महाभारत-सा ही देखने को मिलता है। राजा अपनी प्रजा से बड़े-बड़े मामलों में राय लेता था पर उसे मानना या न मानना उसकी इच्छा पर निर्भर था। राजा का कर्त्तव्य बहुत विस्तृत था। उसे कृषकों की सहायता, अतिथि-सम्मान, जनता का बौद्धिक विकास आदि करना पड़ता था। उसकी सुरक्षा का पूर्ण भार उसी पर था। राजा को भी जनता बहुत ऊँची दृष्टि से देखती थी। अयोध्या काण्ड में तो यहाँ तक कहा गया है कि जहाँ राजा नहीं है वहाँ न धर्म है, न सुख है, न कुटुम्ब है और न ब्याह है; राजा ही सत्य है, राजा ही नीति है, राजा ही माँ है, राजा ही बाप है, राजा ही सबका भला करता है। राजपुरोहित राजा को सत्कर्मों का उपदेश करने को उसके पास रहता था। रामायण में १८ पदाधिकारियों का उल्लेख किया गया है—

(१) मंत्रि, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) चमूपति (सेनाध्यक्ष), (५) द्वारपाल, (६) अन्तदेशिक, (७) कारागाराधिकारी, (८) द्रव्यसंचय-कृत, (९) कृत्याकृतेषु चार्थानाम् विनियोजक, (१०) प्रदेष्टा, (न्यायाधीश) (११) नगराध्यक्ष, (१२) कार्यनिर्माणकृत्, (१३) धर्माध्यक्ष, (१४) सभाध्यक्ष, (१५) दण्डपाल, (१६) दुर्गपाल, (१७) राष्ट्रान्त-पालक (१८) अटवीपालक।

दोनों महाकाव्यों, रामायण एवं महाभारत, की सामग्रियों के आधार पर जिस सभ्यता एवं संस्कृति का निरूपण किया गया है वह लगभग छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर चौथी शताब्दी ई० पू० तक के काल की है। सम्भवतः इसके पूर्व भी यह तिथि हो सकती है किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चौथी शती ई० पू० के पश्चात् इसे नहीं रक्खा जा सकता।

प्रश्न

1. Briefly describe the social, economic, political and intellectual life of the Aryans during the Epic Age. (1952).

2. Discuss the value of the Epics as source material for the history of the Aryans after the Later Vedic Age.

3. Discuss the salient features of the civilisation as revealed in the Epics.

अध्याय ८

जैन धर्म तथा बौद्धधर्म

भाग १—जैनधर्म

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार जैन धर्म काफी पुराना है और महावीर के पूर्व भी २३ तीर्थंकर हो चुके थे। २४ तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) ऋषभदेव, (२) अजितनाथ, (३) संभवनाथ, (४) अभिनन्दन नाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) सुपद्मनाथ, (७) सुपार्श्व नाथ, (८) चन्द्रप्रभु, (९) पुष्पदत्त, (१०) शीतलनाथ, (११) श्रीयांस नाथ, (१२) वसुपद्म, (१३) विमल नाथ, (१४) अनन्त नाथ, (१५) क्ष्मनाथ, (१६) सन्त नाथ, (१७) कुम्भनाथ, (१८) अरनाथ, (१९) मल्लिनाथ, (२०) मुनिसव्रत नाथ, (२०) नूमिनाथ, (२२) नेमिनाथ, (२३) पार्श्वनाथ तथा (२४) वर्धमान महावीर।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में इनका कहना है कि ये एक राजा थे और अपने पुत्र भारत के लिए सिंहासन रिक्त करके ये संन्यासी हो गये। तेइसवें तीर्थंकर ही वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। इनकी तिथि अनुमानतः ई० पू० आठवीं सदी है।

पार्श्वनाथ—जैसा कि ऊपर बताया गया है पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। कल्पसूत्र के अनुसार ये इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामा तथा पत्नी का नाम प्रभावती था। इनके पिता बनारस के राजा थे। पार्श्वनाथ ने वहीं, आश्रमपद नामक उपवन में ३$\frac{1}{2}$ दिन तक उपवास करने के पश्चात्, संन्यास ग्रहण कर लिया। ८३ दिनों तक गहन चिन्ता के उपरान्त उन्हें ज्ञान (केवल कैवल्य) प्राप्त हुआ। पार्श्वनाथ के साथ आठ 'गण' तथा आठ 'गणधार' थे। इनके नाम इस प्रकार थे—(१) शुभ, (२) आर्यघोष, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मचारिन, (५) सौम्य, (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र तथा (८) यसस।

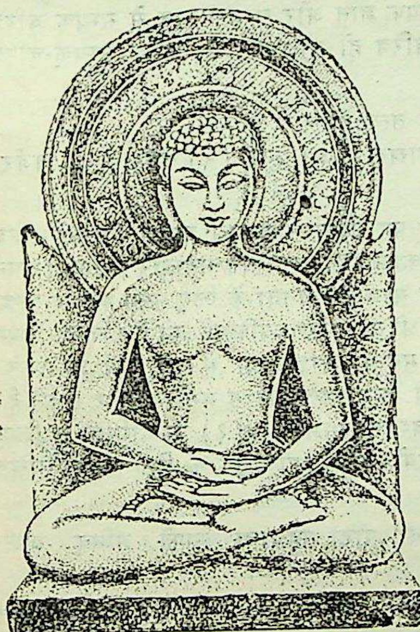
इनके साथ अनेक श्रमन तथा संन्यासियों का भी उल्लेख मिलता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार पार्श्वनाथ ने १०० वर्षों की आयु में सम्मेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। पार्श्वनाथ के प्रमुख चार सिद्धान्त थे—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय तथा (४) अपरिग्रह।

महावीर

महावीर का जन्म कास्यप गोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के घर में हुआ। सिद्धार्थ कुण्डग्राम (वैशाली) के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। ये किसी अपने ग्राम के एक छोटे से कुल क प्रधान थे जिसका नाम ज्ञात्रिक कुल था। सिद्धार्थ की प्रसिद्धि एवं उनका स्थान अपने समय के कुल प्रधानों में इसलिए ऊँचा हो गया था कि उन्होंने प्रसिद्ध लिच्छवी राजा चेतक की बहन से अपना ब्याह किया था।

महावीर का ब्याह यशोदा से हुआ था जिससे अनुज्जा या प्रियदर्शना नामक पुत्री भी उत्पन्न हुई।

तीस वर्ष गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् माता-पिता के स्वर्गवास के उपरान्त अपने बड़े भ्राता नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर वर्धमान ने गृहत्याग किया। घर छोड़ते समय उनके साथ असंख्य लोग चले जिन्हें वर्धमान ने शान्दवन में आकर लौटा दिया। बारह वर्षों तक की कठिन तपश्चर्या, शारीरिक यंत्रणा के पश्चात् उन्हें जृम्भिका ग्राम के निकट रिगुपालिका नामक नदी के तट पर शाल के वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ और वे 'जिन' या 'अरहत' हुए।



चित्र ४—महावीर स्वामी

महावीर धर्म प्रचारक के रूप में—महावीर के जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनमें जो कष्ट सहिष्णुता थी वह सचमुच अनुपमेय थी। महावीर ने अपने ज्ञान का प्रचार हर प्रकार की यातनायें सहकर भी करने का निश्चय किया। प्रारम्भ में तो वे अकेले ही घूमा करते थे पर कुछ काल पश्चात् उन्हें घोषाल नाम का एक सहयोगी भी मिल गया।

महावीर को धर्म-प्रचार करने में साधारण कठिनाइयों का ही सामना नहीं करना पड़ा। उस समय भारत में प्राचीन वैदिक धर्म के अनेक सम्प्रदाय तथा कुछ नवीन धार्मिक दल विद्यमान थे। इनमें बुद्ध, वार्हस्पत्य, नास्तिक या चार्वाक, वेदान्तीय, सांख्य, अपृष्ठवादीय, आजीविक, त्रैराशिक तथा शैव्य मत प्रधान हैं। इन समस्त वादों की प्रति-स्पर्धा में महावीर को अपना मत स्थापित करना था। महावीर के कुछ अनुयायियों का बुद्ध से मिल जाने का भी उल्लेख मिलता है।

जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान में योग देने वाला जो सबसे बड़ा कारण है वह राजाओं का सहयोग है। महावीर को धर्म-प्रचार करने में उनके कुछ प्रमुख शिष्यों ने काफी योग दिया। इनमें (१) आनन्द, (२) कामदेव, (३) चुलानिपिया, (४) सुरदेव, (५) चुल्लसयग, (६) कुण्डकोलिय, (७) संद्धालपुत्र, (८) महासयग, (९) नन्दिनीपिया, (१०) साल्हीपिया आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने अथक परिश्रम से असंख्य अनुयायी बनाकर तथा कुछ ऐसे शिष्य तैयार करके जो जैन-धर्म को स्थायी बना सकें, महावीर ने ५४६ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया। इस तिथि को उनकी निधन तिथि मानकर तथा ७२ वर्ष उनका जीवन-काल मानकर महावीर की जन्मतिथि ६१८ ई० पू० मानी गई है।

सिद्धान्त

आत्मा—आत्मा के सम्बन्ध में मत-निर्धारण ईश्वर में विश्वास या अविश्वास पर निर्भर है। जैन सिद्धान्त में सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता किसी अलौकिक व्यक्ति की कल्पना नहीं की गई। ईश्वर में उनका कोई विश्वास नहीं है। जब संसार अनादि और अनन्त

है तो जीव भी अनादि और अनन्त है। सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक चरित्र आत्मा या जीव के तीन स्वाभाविक गुण हैं। पर समस्त आत्माओं में ये तीनों गुण अपने स्वाभाविक रूप में इसलिए नहीं मिलते हैं कि कर्मों का गहन आवरण उन्हें ढके रहता है। इस प्रकार जो जीव समस्त स्वाभाविक गुणों से युक्त रहते हैं वे शुद्ध जीव हैं और उन्हें मोक्ष प्राप्त हो चुका है, जो जीव कुछ शुद्ध हैं और कुछ विकृत हैं वे मिश्र जीव हैं, पर जिनमें स्वाभाविक गुण बिल्कुल ही विकृत हो चुके हैं अशुद्ध जीव हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि जैन सिद्धान्त आत्मा को विकृत तो मानता है पर विकार दूर भी किया जा सकता है। सम्यक दर्शन से सम्यक ज्ञान और सम्यक ज्ञान से सम्यक् चरित्र प्राप्त होना बतलाया गया है। सम्यक् चरित्र ही मोक्ष-द्वार है। अतः सम्यक्-चरित्र पर जैनियों ने अधिक जोर दिया है।

तत्व--जैनियों ने सात प्रकार के तत्व बतलाये हैं :--

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा तथा (७) मोक्ष।

ऊपर जैन धर्म के दार्शनिक पहलू पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। अब उनके व्यावहारिक नियमों (आचार) पर प्रकाश डाला जायगा। महावीर स्वामी ने अपने आँखों देखा था कि हिन्दू दर्शन के सिद्धान्त साधारण जनता के लिए उसी प्रकार ग्राह्य नहीं जिस प्रकार कुछ चुने हुए धर्माधिष्ठाताओं या धर्मरत व्यक्तियों को हैं। जितने नियम हिन्दू विचारकों ने प्रस्तुत किये हैं वे सम्पूर्ण मनुष्यों द्वारा प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। सभी तप नहीं कर सकते, सब लोग योग नहीं कर सकते और न सभी यज्ञ कर सकते हैं। अतः उन्होंने दो प्रकार का उपदेश देना आवश्यक समझा :—(१) संन्यासियों के लिए, (२) गृहस्थ या श्रावकों के लिए। महावीर ने सर्वसाधारण के लिए निम्नलिखित पाँच (अणुव्रत) नियम बताये :—

(१) **अणुव्रत**—हिंसा-छेदना, बाँधना, पीड़ा पहुँचाना, काफी अधिक बोझा लादना, भोजन-पानी रोकना हिंसा है।

(२) **सत्य**—झूठ नहीं बोलना चाहिये। अप्रिय, निंद्य, कठोर एवं पापमयी बात का त्याग करना चाहिये।

(३) **अचौर्य या अस्तेय**—चोरी करना, चोरी का माल लेना, माल में मिलावट करना, कम तौलना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन चोरी में सम्मिलित है। चोरी स्वयं एक प्रकार की हिंसा है क्योंकि इससे भी किसी के हृदय पर आघात पहुँचता।है।

(४) **ब्रह्मचर्य**--काम-वासना को मारना ही ब्रह्मचर्य है।

(५) **अपरिग्रह**--माया के बन्धन से मुक्ति पाने को अपरिग्रह कहते हैं। धन-सम्पदा से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। दूसरों के धन में तनिक ममता नहीं रखनी चाहिये। जीवन के लिए आवश्यक धन तक ही मनुष्य को सीमित रहना चाहिये।

गुणव्रत—उपरोक्त पाँच अणु-व्रतों के अतिरिक्त तीन गुण-व्रत भी बताये गये हैं :—

(१) **दिग्व्रत**—दिशाओं में भ्रमण की मर्यादा बाँधना, (२) अनर्थ दण्ड-वत्—प्रयोजनहीन पाप-उत्पादक वस्तुओं का परित्याग तथा (३) भोगोपभोग परि-माण—भोग्य पदार्थों का परिमाण-निर्धारण।

शिक्षाव्रत--शिक्षाव्रत चार हैं :--

(१) **देशावकाशिक**--दिशाओं में भ्रमण की मर्यादा में कमी लाना, (२)

सामयिक—पाप-रहित होकर धर्म चिन्तन करना (३) प्रोषोधोपवास—विशेष समय पर उपवास करना तथा (४) वैयावृत्य—दान-पूजा आदि करना।

महावीर स्वामी के ग्यारह शिष्यों में से उनकी मृत्यु के पश्चात् केवल एक आर्य सुधर्मन बच गया था जो महावीर के पश्चात् जैन संघ का आचार्य हुआ। सम्भवतः महावीर के जीवन-काल में उनके जामाता जमालि तथा एक संन्यासी तीसमुत्त ने जैन संघ में कुछ उपद्रव मचाया था। इसका प्रामाणिक कारण नहीं ज्ञात होता है। यह संघ में प्रधानता प्राप्त करने के लिए तो नहीं रहा? जैन अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् भी इनके धर्म को राजकीय सहयोग मिलता रहा। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदयन को इन अनुश्रुतियों में जैन मतावलम्बी माना गया है। इस प्रकार शक्तिशाली मगध राज्य में प्रारम्भ से ही जैन धर्म की पहुँच होकर उदयन तक चलती रही और तत्पश्चात् जब नन्दों का उदय हुआ तो उन्होंने इसे भी प्रश्रय दिया, जैसा कि हाथीगुम्फा के अभिलेख में इसका संकेत मिलता है। उक्त अभिलेख में "प्रथम जिन की मूर्ति" को "नन्द राजा" के अधिकार में होना बताया गया है। मगध में जैन धर्म ने निश्चय ही अपनी जड़ जमा ली थी (यदि जैन अनुश्रुतियों पर विश्वास किया जाय) और मौर्य साम्राज्य का संस्थापक, रक्तिम विजयों का विजेता चन्द्रगुप्त ने भी अन्त में जैन धर्म स्वीकार कर लिया जैसा कि आगे बताया जायेगा।

पाटलिपुत्र की संगीति—कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहु तथा सम्भूतिविजय इन दोनों भेदों (स्थविरों) के निरीक्षण में बहुत दिनों तक जैन संघ चलता रहा। सम्भूतिविजय की मृत्यु चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में हुई थी। इधर भद्रबाहु मगध के १२ वर्षीय भीषण अकाल से संघ में उत्पन्न होने वाले अनैतिक आचरणों के भय से दक्षिण की ओर श्रवण-बेल्गोला को चल दिये। इनके साथ इनके संघ के अनेक संन्यासी गये थे। अकाल समाप्त हो जाने के पश्चात् इनके समस्त अनुयायी तो लौट आये पर केवल सम्राट् चन्द्रगुप्त ने वहीं एक सच्चे भिक्षु की भाँति उपवास द्वारा शरीर त्याग दिया था। ९वीं शताब्दी ईस्वी के एक अभिलेख से मैसूर में चन्द्रगिरि की चोटी पर भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त के पद-चिह्नों के पाये जाने का उल्लेख किया गया है। भद्रबाहु भी मगध लौटकर नहीं आये वरन् वे नैपाल चले गये जहाँ तप द्वारा उन्होंने शरीर त्याग दिया। अपनी मृत्यु के पूर्व ही इन्होंने स्थूलभद्र को संघ का नेतृत्व प्रदान कर दिया था। इसी बीच में जैन संघ में अनेकानेक परिवर्तन उपस्थित हो चुके थे। भद्रबाहु के साथ गये हुए जैन संन्यासी जब लौट कर मगध आये तो उनकी यहीं रुके हुए जैन संन्यासियों ने कटु आलोचना की क्योंकि उन्होंने धवल वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था। नियमों एवं सिद्धान्तों में मतैक्य न होने का कारण प्राचीन ग्रन्थों के ज्ञान की अल्पता ही थी। इस प्रकार के वाद-विवाद का अन्त करके धर्म के सिद्धान्तों को एक निश्चित रूप देने के अभिप्राय से ही मगध के संन्यासियों ने पाटलिपुत्र में एक बैठक की आयोजना की। यह प्रथम संघ-भेद जैन-धर्म के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। उक्त बैठक में लौटे हुए संन्यासियों ने भाग नहीं लिया। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में (जिनमें ११ अंग तथा १४ पूर्व सम्मिलित हैं) केवल भद्रबाहु को ही योग्यता प्राप्त थी। अन्य किसी व्यक्ति को इनका ज्ञान नहीं था। स्थूल-भद्र को भी भद्रबाहु ने केवल प्रथम १० पर्वों की शिक्षा का प्रचार लोगों में करने को कहा था, जब वे दोनों नेपाल में मिले थे। इस प्रकार पाटलिपुत्र में जो संगीति हुई और उसमें जिस सिद्धान्त का निरूपण हुआ वह काफी

विश्रृंखल था। अब वस्त्रधारी जैनियों को श्वेताम्बर तथा प्राचीन संन्यासियों को जो अब भी नग्न रहते थे दिगम्बर कहा जाने लगा।

वल्लभी की संगीति—पाटलिपुत्र के पश्चात् जैन धर्मानुयायियों की दूसरी बैठक गुजरात में वल्लभी नामक स्थान में हुई। यह काफी दिनों पश्चात् लगभग छठीं शती ई० पू० के आरम्भ में देवर्धिगणि या क्षमा-श्रमण के नेतृत्व में हुई थी। इस संगीति का उद्देश्य बिखरे हुए तथा अन्य नियमों को प्रामाणिक ढंग से लिपिबद्ध करना था। श्वेताम्बरों की पहली बैठक में संकलित सिद्धान्तों की ही यह पुनरावृत्ति (लिपिरूप में) रही। अतः इसमें भी प्राचीनतम जैन साहित्य नहीं आ सका।

जैन धर्म का क्षेत्र—यह बताया जा चुका है कि अपने समय में महावीर ने अंग, अवन्ति, मगध आदि राज्यों पर अपना प्रभाव छोड़ा था, गणराज्य में मल्ल, लिच्छिवी आदि उनसे बहुत प्रभावित थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी मगध के मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त के अन्त में, जैन होने का बोध होता है। पर जैन-धर्म का प्रसार-क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित न था। उज्जैन तथा मथुरा उन दिनों में जैन धर्म का केन्द्र हो गया था। मथुरा मे इतने अधिक अभिलेख प्राप्त हुए हैं कि उनसे उपरोक्त मत का समर्थन स्पष्टया हो जाता है। उज्जैन और जैन सन्त कालकाचार्य का सम्बन्ध तो एक बहुत ही रोचक कथा जोड़कर जैन अनुश्रुतियों में दर्शाया गया है। जैन धर्म का प्रचार भारत में काफी हुआ और वास्तव में यह अपने प्रतिस्पर्धी बौद्ध धर्म की अपेक्षा भारत में अधिक सफल हो सका। आज भी भारत में इस धर्म के अनुयायी काफी संख्या में पाये जाते है। जैन-धर्म की इस सफलता के मूल में हिन्दू धर्म से इसका साम्य ही है। इसमें कठिन तप, ज्ञान, मोक्ष आदि की जो बातें बताई गई हैं वे हिन्दुओं को नवीन या विचित्र नहीं लगीं और वे अपनी रूढ़िवादिता को न त्यागते हुए भी इस नवीन धर्म को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो सके। आज इसीलिए भारत के बड़े-बड़े नगरों में जैन मन्दिर, धर्मशालाएँ, पाठशालाएँ आदि काफी हैं।

भाग २—बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध का संक्षिप्त जीवन चरित्र—गण-राज्यों का उल्लेख करते हुए बताया गया था कि गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्यों के गण-राज्य के 'राजन' थे। इनकी माता का नाम मायादेवी था जो कोलिय गण-राज्य की राज-कुमारी थीं।

गौतम की जन्म-तिथि का निश्चय उनकी मृत्यु-तिथि के आधार पर इस प्रकार किया गया है:—

सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार गौतम की निधन-तिथि ५४३ ई० पू० है। वे ८० वर्ष तक जीवित रहे। अतः जन्म-तिथि ६२३ ई० पू० हुई। पर इस सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है और कुछ यह तिथि ५६६ ई० पू० बताते हैं। महा परिनिर्वाण की तिथि ४८३ ई० पू० भी मानी गई है।

जिस समय महामाया अपने मायके देवदह जा रही थीं उसी समय रास्ते में लुम्बिनी में गौतम का जन्म हुआ। दुर्भाग्यवश जन्म के सात दिन बाद ही माता का देहान्त हो गया। बालक का पालन-पोषण उसकी विमाता महाप्रजापती गौत्तमी द्वारा होने लगा।

गौतम बुद्ध का बाल्य-जीवन विलासिता की गोद में बीता। हर प्रकार के सुन्दर वस्त्रों का ये उपभोग करते थे और नृत्य-संगीत का भी आनन्द लेते थे। उनकी पत्नी के

कई नाम बताये गये हैं। मज्झिम निकाय की कथा काफी प्रचलित है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार जरा, रोग तथा मृत्यु आदि के दारुण सत्य का नग्न नृत्य देखकर गौतम जीवन के प्रति उदासीन हो गये थे।

जिस समय गौतम घर छोड़ने का निश्चय कर चुके थे उसी समय उन्हें पुत्रोत्पत्ति की सूचना मिली और गौतम के मुँह से निकला 'राहुल' (बंधन) जो बालक का नाम पड़ गया। पर ये सारे बन्धन गौतम को न बाँध सके और उन्होंने २९ वर्ष की अवस्था में घर छोड़ दिया।

ज्ञान की खोज में—शाक्य, कोलिय, मल्लों आदि के राज्यों को पार करते हुये वे अनुवेमेय नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ अपना समस्त आवरण उतार कर इन्होंने छन्दक को दे दिया और स्वयं पीत वस्त्र धारण कर लिया।

सर्व प्रथम गौतम आलार कालाम नामक संन्यासी के पास आये। इनके ३०० शिष्य थे। इन्हीं शिष्यों के साथ आलार कालाम से गौतम भी शिक्षा लेने लगे पर जिस प्रकाश की खोज में गौतम निकले थे वह यहाँ नहीं मिला। अतः वे और आगे बढ़े। इन्हें एक दूसरा धर्म-शिक्षक मिला। इस धर्माचार्य का नाम उद्रक रामपुत्र था जिसके ७०० शिष्य थे। यहाँ भी गौतम को निराश होना पड़ा। तत्पश्चात् गौतम मगध राज्याधीन उर्वेला नामक स्थान पर आये। यहाँ उन्होंने कठिन तपस्या आरम्भ कर दी। अन्न का बिल्कुल ही त्याग कर दिया और केवल रस से प्राण-रक्षा करने लगे। कुछ ही दिनों में उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया। यहाँ इनके साथ इनके पाँच ब्राह्मण साथी भी थे। पर गौतम ने देखा कि इस कठिन तपस्या से भी कोई लाभ नहीं होने को, अतः उन्होंने तपस्या भंग करके आहार ग्रहण किया जिस पर उनके ब्राह्मण साधुओं ने उन्हें पेटू कहकर उनका साथ छोड़ दिया। बुद्ध का छः वर्ष इसी प्रकार बीत गया। ३५ वें वर्ष में एक दिन जब वे एक पीपल के पेड़ के नीचे (जो आगे चल कर बोधिवृक्ष कहलाया) बैठे थे तो उन्हें 'बुद्धत्व' प्राप्त हुआ। गौतम को जिस प्रकाश की खोज थी वह मिल गया। इस ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व अनेक कथाएँ महावस्तु तथा जातक आदि में मिलती हैं।

धर्म-प्रचार—संसार के दुःख से क्षुब्ध होकर ही महात्मा बुद्ध ने भोग-विलास को ठुकराया था और अब वे उस प्रकाश को जिससे उन्होंने जीवन के सत्य का स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था, संसार के प्राणी-प्राणी को बताना चाहते थे जिससे विश्व का कल्याण हो सके। महात्मा गौतम बुद्ध को वे पुराने साथी स्मरण रहे। अतः सर्वप्रथम उन्होंने उनको ही अपने ज्ञान की शिक्षा देने का विचार किया। वे पाँचों ब्राह्मण बनारस के निकट सारनाथ के ऋषिपत्तन मृगदाव में मिले जहाँ बुद्ध भगवान ने उन्हें अपना प्रथम उपदेश दिया। यह धर्म चक्रप्रवर्त्तन के नाम से विख्यात है।

तत्पश्चात् महात्मा गौतम बुद्ध के अनेक अनुयायी बनारस में मिले जिनमें यस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्ध के अनुयायियों की संख्या अब लगभग ६० तक पहुँच गई। इनको प्रथम बौद्ध-संघ का भिक्षु कहा जा सकता है। बुद्ध बनारस से पुनः उर्वेला लौटे। मार्ग में इनको ३० अनुयायी मिले जिनमें भद्र प्रधान था। उर्वेला में तो गौतम बुद्ध के पहुँचते ही एक धार्मिक-क्रान्ति सी आ गई और जटिल कस्सब के ५०० शिष्य, नदी के ३०० शिष्य, गया के २०० शिष्य अर्थात् कुल १००० जटिल सम्प्रदाय वाले अपने गुरुओं के साथ बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। इनके साथ गौतम बुद्ध राजगृह को चल पड़े जहाँ उनकी बिम्बिसार से भेंट हुई। यहीं सारिपुत्र तथा मोग्गलायन नामक दो व्यक्ति मिले जिन्होंने महात्मा बुद्ध को धर्म-प्रचार में बड़ा योग दिया जिसके

फलस्वरूप संजय तथा उनके २०० अनुयायी बौद्ध हो गये। विभिन्न गण-राज्यों का भ्रमण करते हुए बुद्ध भगवान् अपनी जन्म-भूमि कपिलवस्तु आये। अब तक लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उनका प्रचार हो चुका था। कपिलवस्तु में उन्होंने धर्मोपदेश दिया। इनके उपदेश से इनका सौतेला भाई नन्द तथा पुत्र राहुल भिक्षु हो गये। नन्द उसी माता का पुत्र था जिसने गौतम बुद्ध का पालन-पोषण किया था। जिस समय नन्द भिक्षु हुआ उसी दिन उसका राज्याभिषेक तथा एक अत्यन्त रूपवती लड़की से ब्याह होना निश्चित था। तत्पश्चात् जब भगवान् बुद्ध, कपिलवस्तु से राजगृह लौट रहे थे तो मार्ग में अनुपिय नामक स्थान पर उन्होंने शाक्य 'राजा' भद्रिक को उसके सहचरों अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि तथा देवदत्त के साथ बौद्धधर्म में दीक्षित किया और वे बौद्ध-धर्म के इतिहास में अपना प्रमुख हाथ रखते हैं। धर्म प्रचार के इतिहास में एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण घटना राजगृह में हुई। बुद्ध भगवान् सीतावन (राजगृह) में रुके थे। यहीं उनसे प्रभावित होकर सुदात्त नामक एक व्यापारी ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया। हमें सुदात्त के दान की महती कथा का बोध होता है। फिर इससे ज्ञात होता है कि सुदात्त ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए जेत्-राजकुमार के उपवन को लेने की इच्छा प्रकट की पर जेत ने उस उपवन का मूल्य बताया उसको पूर्णतया ढक लेने भर सोना। सुदात्त तैयार हो गया।

अब राजगृह कपिलवस्तु तथा श्रावस्ती तीनों स्थानों पर बौद्ध-संघ स्थापित हो चुके थे। यह महात्मा बुद्ध के केवल दो वर्ष के प्रयास का प्रतिफल था।

अब तक भगवान् बुद्ध ने केवल पुरुषों को ही भिक्षु बनाने की आज्ञा दी थी। पर धर्म प्रचार के पंचम वर्ष में एक ऐसी घटना घटी जिससे द्रवित होकर महात्मा बुद्ध ने नारियों को भी बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। भगवान् बुद्ध का भ्रमण चलता रहा और वे उत्तरी भारत के अनेक राज्यों में अपने उपदेश देते रहे। बौद्ध-ग्रन्थों में इन यात्राओं का बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। अन्त में महात्मा गौतम बुद्ध श्रावस्ती में स्थायी रूप से रहने लगे। अब तक आनन्द बुद्ध का वैयक्तिक सहायक के रूप में निर्वाचित हो चुका था। देवदत्त जो कभी बौद्ध था, बुद्ध भगवान् का विरोधी हो गया।

अजातशत्रु पाटलि ग्राम में लिच्छवियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए किले-बन्दी करवा रहा था। वहाँ महात्मा गौतम बुद्ध भी आये थे और उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यह बहुत ही उन्नतिशील जगह होगी। यहाँ से वे वैशाली गये जहाँ बेलुआ नामक गाँव में वे बीमार पड़े। यहाँ भी उन्होंने भविष्यवाणी की कि अब से तीसरे महीने के अन्त में उनका महा परिनिर्वाण होगा। यहाँ से बुद्ध अनेक ग्रामों से होते हुए पावा आये जहाँ चण्ड लुहार का दिया हुआ अन्तिम भोजन किया। भोजन करने के बाद ही उन्हें उदर-रोग हो गया। यह पेचिश बड़ी भयानक सिद्ध हुई। पर महात्मा बुद्ध ने यहाँ रुकना उचित नहीं समझा और उन्होंने कुशीनारा को प्रस्थान कर दिया। कुशीनारा पहुँच कर बुद्ध को अपने अन्तिम क्षण का आभास हुआ और उन्होंने भिक्षुओं से कुछ प्रश्न करने को कहा, पर सब मौन रहे। अन्त में उन्होंने आनन्द को बुलाकर कहा कि अब मेरा अन्तिम क्षण है, तुम कुशीनारा के मल्लों को सूचित कर दो। यहाँ ८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध ने महा परिनिर्वाण प्राप्त किया।

बुद्ध के मूल सिद्धान्त

गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों को समझने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि गौतम बुद्ध (१) ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, (२) आत्मा को नित्य नहीं मानते थे,

(३) किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण नहीं मानते थे तथा (४) जीवन-प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे।

चत्वारि आर्य सत्यानि—गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का निरूपण इस प्रकार किया—(१) दुःख, (२) दुःख समुदय, (३) दुःखनिरोध तथा (४) दुःखनिरोध-गामी मार्ग।

नीचे इन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

(१) **दुःख**—बुद्ध ने कहा—"जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण... शोक...रुदन...मन की खिन्नता...हैरानी दुःख है। अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग भी दुःख है, इच्छा करके जिसे नहीं पाता वह भी दुःख है। संक्षेप में पाँचों उपादान स्कन्ध दुःख है। पाँच उपादान स्कन्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान हैं।

(२) **दुःख समुदय**—दुःख का कारण तृष्णा है। काम की तृष्णा, भव (उत्पन्न होने) की तृष्णा, विभव की तृष्णा आदि ही दुःख के कारण हैं। काम की तृष्णा से दुःख किस प्रकार उत्पन्न होता है इसकी व्याख्या भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार की है—"काम (प्रिय भोग) के लिये ही राजा राजाओं से लड़ते हैं। क्षत्रिय क्षत्रियों से, ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपतियों से, माता पुत्र से, पुत्र माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, मित्र मित्र से लड़ते हैं। वे परस्पर कलह-विग्रह—विवाद करते हैं; एक दूसरे पर हाथ से, दण्ड से, शस्त्र से भी आक्रमण करते हैं। वे मर भी जाते हैं और मरण समान दुःख को भी प्राप्त होते हैं।

(३) **दुःख निरोध**—दुख के मूल तृष्णा के अन्त करने को दुख-निरोध कहते हैं। तृष्णा के अन्त हो जाने से उपादान का निरोध होता है। उपादान निरोध से भव (लोक) का निरोध होता है और भव निरोध से जन्म का निरोध हो जाता है। जन्म के निरोध से दुख के उपकरणों—बुढ़ापा, मरण, शोक आदि का अन्त हो जाता है।

(४) **दुख निरोधगामी-मार्ग**—दुख निरोधगामी मार्ग का प्रथम उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने पाँच साथियों को दिया था जो धर्मचक्र प्रवर्त्तन के नाम से विख्यात है। भगवान् बुद्ध ने कहा, "भिक्षुओ ? इन दो अतियों को.... नहीं सेवन करना चाहिए :

(१) ...**काम**—सुख में लीन हो जाना... (२) शरीर यातना में लग जाना। इन दोनों अतियों को त्याग... (मैंने) मध्यम मार्ग खोज निकाला है—(जो) आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला....शान्ति देने वाला है। ... वह (मध्यम मार्ग) यहीं आर्य अष्टांगिक मार्ग है... सम्यक दृष्टि (दर्शन), सम्यक संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृत्ति तथा सम्यक् समाधि।"

उपरोक्त आर्य अष्टांगिक मार्ग में प्रथम दो ज्ञान, अन्य तीन शील तथा अन्तिम तीन समाधि के अन्तर्गत आते हैं।

कायिक, वाचिक, मानसिक, भले-बुरे कर्मों के ठीक-ठीक ज्ञान को ही सम्यक दृष्टि कहा गया है। कायिक बुरे कर्मों में हिंसा, चोरी, यौन (व्यभिचार) आदि हैं और इनके विलोम भले कर्म हैं। इसी प्रकार वाचिक बुरे कर्मों में मिथ्या भाषण, चुगुली, कटु भाषण, बकवास हैं तथा उनके विलोम भले कर्म हैं—मानसिक बुरे कर्मों में लोभ, प्रति-हिंसा तथा झूठी धारणा है और इनके विलोम भले मानसिक कर्म। चत्वारि आर्यसत्यानि का ठीक-ठीक बोध करना ही सम्यक् दृष्टि कहलाता है। बुद्ध ने बताया कि सम्यक् संकल्प का अर्थ है राग—प्रतिहिंसा—रहित संकल्प। ये दोनों ज्ञान के अन्तर्गत है।

शील के अन्तर्गत सम्यक् वचन, सम्यक कर्म तथा सम्यक जीविका है। सम्यक वचन तथा सम्यक कर्मों के अन्तर्गत ऊपर बताये गये कायिक तथा वाचिक कर्म आते हैं। सम्यक जीविका से बुद्ध का अभिप्राय बुरे कर्मों से रहित जीविका से है। प्राणि हिसा सम्बन्धी जीविका ही बुरी जीविका है। अंगुत्तर निकाय पाँचवें के अनुसार हथियार का व्यापार, प्राण का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार, विष का व्यापार आदि ही झूठी जीविका है।

सम्यक समाधि के अन्तर्गत सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति तथा समाधि है। सम्यक प्रयत्न का अर्थ है, इन्द्रियों पर संयम करने का प्रयत्न, बुरी भावनाओं के दमन तथा सुन्दर भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न, उत्पादित उत्तम भावनाओं को स्थायित्व देने का प्रयत्न करना। 'काय, चितवेदना और मन के धर्मों की ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण विध्वंसी आदि होने का सदा स्मरण रखना' सम्यक स्मृति है। 'चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।'

अब तक जिन सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला गया है वे महात्मा गौतम बुद्ध के साधारण विचार थे, अब हम उनके दार्शनिक विचारों पर विचार करेंगे।

क्षणिकवाद—'अनित्य, दुःख, अनात्म' बुद्ध भगवान के सम्पूर्ण दर्शन का प्रतीक है। इसमें ही उनका सारा दर्शन आ जाता है। अनित्य उनके क्षणिकवाद का द्योतक है।

प्रतीय समुत्पाद—एक वस्तु के विनाश के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है। इसी नियम को भगवान् बुद्ध ने प्रतीय समुत्पाद कहा है।

अनात्मवाद—गौतम बुद्ध अनात्मवादी थे। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् आत्मा नाम की किसी स्थायी वस्तु में उनका विश्वास न था। उपनिषदों में आत्मवाद की जो वकालत की गई है, भगवान बुद्ध के मतानुसार वह असत्य है।

अभौतिकवाद—अनात्मवादी होते हुए भी भगवान् बुद्ध भौतिकवादी (जड़वादी) कदापि न थे। गौतम बुद्ध के विचार में भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधि का उसी प्रकार विरोधी है जैसे आत्मवाद का विरोधी है, अतः उन्होंने कहा—

वही जीव है, वही शरीर है, (दोनों एक है) ऐसा मत होने पर ब्रह्मचर्य वास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है,' ऐसा मत (दृष्टि) होने पर भी ब्रह्मचर्य वास नहीं हो सकता।

अनीश्वरवाद—जब-जब भी भगवान् बुद्ध से ईश्वर के सम्बन्ध में पूछा जाता था तो वे या तो बिल्कुल मौन हो जाते थे या कुछ परिहासमय वचनावली में इसके विद्यमान होने में सन्देह प्रकट करते थे। उन्होंने एक स्थल पर यह बताया है कि आदि मानव को ही परवर्ती मानव ने भ्रमवश ईश्वर मान लिया।

विचार स्वातंत्र्य—गौतम बुद्ध ने लोगों को अन्धानुकरण के स्थान पर स्वयं उचित-अनुचित पर विचार करने की अनुमति दी। केरापुत्र ग्राम के कलामों ने भगवान् बुद्ध से एक बार यह कहा कि विभिन्न श्रवण अपना-अपना मत बताते हैं। ऐसी अवस्था में "हमें सन्देह.... होता है—कौन... सच कहता है, कौन झूठ।" इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—"कालामों? तुम्हारा सन्देह... ठीक है, सन्देह के स्थान में ही तुम्हें संदेह उत्पन्न होता है। .... जब कालामों, तुम स्वयं ही जानों कि ये धर्म (काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञों से अनिन्दित हैं, यह लेने, ग्रहण करने पर हित, सुख के लिये होते हैं, तो कालामों, तुम उन्हें स्वीकार करो।"

निर्वाण—निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है बुझना। गौतम बुद्ध ने उस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना 'अव्याकृत' बताया है। तृष्णा के क्षीण हो जाने की अवस्था को ही बुद्ध ने निर्वाण कहा है। वास्तव के न रहने पर ही निर्वाण होता है।

बौद्ध धर्म की उन्नति के कारण

बौद्ध धर्म का इस देश में बहुत शीघ्र काफी अधिक प्रचार हो गया था। महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने जीवन-काल में ही अपने धर्म का लोगों मे प्रचार होते देखा था। **बौद्ध धर्म को सरलता के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे :**

(१) **बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की सफलता**—बौद्ध धर्म के सिद्धान्त अत्यन्त सरल और सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य थे। बुद्ध ने सरल और स्पष्ट शब्दों में समझाया कि मानव जीवन दुःखमय है, अतएव बार-बार जन्म ग्रहण करना दुःख का कारण है। मनुष्य की अन्तर्निहित वासनाओं के ही कारण उसे पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ता है। अतएव उसका कर्त्तव्य है कि वह उन वासनाओं का समूलोन्मूलन करे। इस कार्य के लिये उसे मध्यम पथ का सेवन करना चाहिए। कर्मवाद के सिद्धान्त का बुद्ध ने प्रतिपादन किया और बड़े सरल शब्दों में समझाया। उन्होंने मनुष्य को स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया। उनके इन उपदेशों में कोई ऐसी बात नहीं है जिसको समझने में कठिनाई का अनुभव करना पड़े।

(२) **यज्ञों और पुरोहितों का कुप्रभाव**—यह कहना अनुचित नहीं कि भारत में बौद्ध धर्म का उदय एक धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था। यह धार्मिक क्रान्ति वैदिक धर्म कर्मकाण्डों और पुरोहितों के प्रभाव के विरुद्ध हुई थी। जैसा कि पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि ऋग्वेद की प्रकृति-पूजा कालान्तर में अनेक जटिल धार्मिक क्रियाओं के साथ संयुक्त हो गई। ऋग्वैदिक काल में भी यज्ञ किए जाते थे परन्तु उनको प्रधानता नहीं प्राप्त थी और यही कारण था कि समाज में अभी पुरोहित वर्ग की शक्ति का संगठन भी नहीं होने पाया था। परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकी। उत्तरवैदिक काल में ही अनेक जटिल और खर्चीले यज्ञों के अनुष्ठान की व्यवस्था कर दी गई और ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता घोषित करना प्रारम्भ कर दिया। साधारण लोग इन खर्चीले और जटिल यज्ञों को नहीं कर सकते थे। अतएव जब बुद्ध ने वैदिक कर्म-काण्ड का विरोध करते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती देना शुरू किया तो अनेक लोग उनके उपदेशों से प्रभावित हो गए और उनका शिष्य बनना स्वीकार किया।

(३) **बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व**—बौद्ध धर्म के प्रचार में महात्मा बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व का बहुत बड़ा योग था। भारतीय जनता सदैव से ही त्याग का आदर करती रही है और और सबसे अधिक बहुमान उसने त्यागी व्यक्ति को ही दिया है। बुद्ध स्वयं एक राजकुमार थे। किन्तु उन्होंने राजसुखों को तिलांजलि देकर लोक-कल्याण के लिये सन्यास व्रत ग्रहण कर लिया था। इस कारण से सभी लोग बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभा-वित हो जाते थे। उनके समकालीन शासक उनके सम्मुख आसन त्याग कर खड़े हो जाते थे और हर प्रकार से उनका सम्मान करते थे। इसके अतिरिक्त बुद्ध में मानवीय गुणों की प्रचुरता थी, वे कभी क्रुद्ध नहीं होते थे। गालियाँ सुनने पर भी अपना मानसिक संतुलन बनाये रखते थे। अपनी प्रशंसा सुनकर कभी प्रसन्न नहीं होते थे, उलटे कुछ रुष्ट हो जाते थे। उनका हृदय दया, स्नेह और करुणा का अक्षय स्रोत था जिसमें घृणा और द्वेष आदि आसुरी प्रवृत्तियों के लिये कोई स्थान नहीं था। पापियों के प्रति भी उनके हृदय में अक्षय क्षमाशीलता थी। आम्रपाली नामक गनिका के भोजनामन्त्रण को उन्होंने बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया था। उनकी दृष्टि में मनुष्य मनुष्य में कोई भेद

नहीं था। इन सब गुणों के कारण बुद्ध के व्यक्तित्व में चुम्बकीय आर्कषण का समावेश हो गया था।

(४) **जाति प्रथा का विरोध और समानता की भावना**—बुद्ध ने जाति प्रथा का विरोध किया और बतलाया कि जाति भेद अनावश्यक ही नहीं वरन अस्वाभाविक भी है। उत्तर वैदिककालीन सामाजिक रचना में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को निश्चय ही वैश्यों और शूद्रों की अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त था। उधर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भी सामाजिक श्रेष्ठता के प्रश्न पर काफी वाद-विवाद हुआ करता था। ब्राह्मण धर्म अथवा वैदिक धर्म जाति प्रथा के औचित्य का पोषण करते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार करता था। ऐसा होने पर यह स्वाभाविक ही था कि अन्य जातियों का सामाजिक स्तर निम्न अथवा हीन प्रतीत हो। फल यह हुआ कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी जाति वालों के लिये बौद्ध धर्म अधिक हितकर मालूम पड़ा क्योंकि यह धर्म मानव-मानव की समानता के सिद्धान्तों का पोषक था।

(५) **लोक भाषा प्रयोग**—महात्मा बुद्ध ने कई भाषाओं पर अधिकार किया था और वे महान् विद्वान् थे। किन्तु उन्होंने विद्वानों और पण्डितों की भाषा में अपने उपदेश न देकर लोक भाषा में अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। यदि गोस्वामी जी ने अपने अमर महाकाव्य की रचना संस्कृत में की होती तो सर्वसाधारण में उसका इतना अधिक प्रचार नहीं हो सकता था जितना कि आज है। इसी प्रकार यदि बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं का प्रचार लोक भाषा में न किया होता तो उन्हें इतनी शीघ्र सफलता न प्राप्त हुई होती जैसी की उन्हें अपने जीवनकाल में मिली थी। किसी बौद्ध ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख मिलता है कि एक बार बुद्ध के किसी ब्राह्मण शिष्य ने उनसे प्रश्न किया कि आप संस्कृत में अपने उपदेश क्यों नहीं देते। इस पर तथागत ने उत्तर दिया, "मैं गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचना चाहता हूँ।

(६) **प्रचार-शैली की रोचकता**—लोकभाषा के साथ-ही-साथ बुद्ध ने जिस प्रचार-शैली को अपनाया वह नितान्त सरल, सुबोध और लोकरुचि के अनुकूल थी। उन्होंने लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और मुहाविरों का अपनी शिक्षाओं में प्रचुरता से प्रयोग किया। अपने सिद्धान्तों को समझाने के लिए वे जिन उदाहरणों और उपमाओं का प्रयोग करते थे, उनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से होता था। वे अपने उपदेशों में हास्य और व्यंग्य का भी उचित मात्रा में पुट दिया करते थे जिससे उनमें रोचकता आ जाती थी। बुद्ध संसार के उन थोड़े से व्यक्तियों में से थे जो गूढ़ तत्वज्ञानी होने के साथ व्यावहारिक जीवन में भी निपुण थे। एक बार एक ब्राह्मण ने क्रोध में आकर बुद्ध भगवान् को सैकड़ों गालियाँ सुनाई। बुद्ध चुपचाप गालियाँ सुनते रहे। ब्राह्मण अन्त में निराश होकर चुप हो गया। जब उसका क्रोध शान्त हो गया तो बुद्ध ने उसे अपने निकट बुलाया और कहा, "ब्राह्मण तुम्हारे घर कभी कोई अतिथि आया होगा।" ब्राह्मण ने सकारात्मक उत्तर दिया। फिर बुद्ध ने पूछा कि उसने उसका सत्कार भी किया होगा। इस पर उत्तर हाँ में ही था। फिर बुद्ध भगवान् ने पूछा कि यदि तुमने अतिथि के स्वागतार्थ जो भोजन बनाये, उसको वह ग्रहण न करे तो भोजन किसका समझा जायगा। ब्राह्मण ने उत्तर दिया "वह भोजन मेरा समझा जायगा और उसे मैं ग्रहण करूँगा।" बुद्ध ने कहा, "मैंने तुम्हारे द्वारा दी हुई गालियाँ अस्वीकार कीं। अब उन्हें तुम अपने साथ वापस ले जाओ।" इस पर वह ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ। उसने तथागत से क्षमा माँगी।

(७) **मठों की स्थापना**—महात्मा बुद्ध केवल एक महान् दार्शनिक और धर्म-प्रचारक ही न थे वरन् उनमें संगठन की भी पूर्ण क्षमता थी। उन्होंने यह भली भाँति समझ लिया था कि सुव्यस्थित संगठन के अभाव में कोई भी धर्म अधिक दिनों तक टिक

नहीं सकता। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियों को एक सुदृढ़ संगठन में बँध जाने की सलाह दी। अतएव उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए संघ-पद्धति की व्यवस्था की।

(८) **राज प्रश्रय**—यह पहले ही कहा जा चुका है कि बुद्ध का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था और उनका प्रभाव सभी वर्ग के लोगों पर था। उनके समकालीन नरेश उनको बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। बिम्बिसार (मगध का राजा) तथा प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे। कुछ दिनों बाद उदयन भी बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं से कुछ प्रभावित हो गया था। इसके अतिरिक्त वैशाली, शाक्य, मोरिय तथा बुद्ध के समय के गणतन्त्रों के शासकों पर भी उनका काफी प्रभाव था। अशोक महान् के प्रयत्नों ने गंगा की घाटी के एक सम्प्रदाय विश्वव्यापी धर्म में परिणत कर दिया। कनिष्क और हर्ष जैसे राजाओं का भी इस धर्म को प्रश्रय प्राप्त था। समाज के धनी-मानी लोग भी बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके दान से मठों का खर्च चलता था जिसमें रहने वाले भिक्षु उत्साह से अपने धर्म का प्रचार करते थे।

(९) **प्रचारकों का उत्साह**—महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों में अक्षय उत्साह का संचार किया था। स्वयं उन्हीं के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व से शिक्षा लेकर अनुयायी भी धर्म के प्रचारार्थ सर्व सुखों का त्याग करने को तैयार हो जाते थे। सब प्रकार की कठिनाइयों की अवहेलना करते हुए वे अपने गुरु और उपदेशक के दिव्योपदेशों का प्रचार करने के लिए सुदूर प्रान्तों की यात्रा करते थे और देश के बाहर भी जाते थे। बौद्ध भिक्षुओं के अदम्य उत्साह के फलस्वरूप ही इसका प्रचार न केवल देश के प्रत्येक भू-भाग में ही अपितु संसार के अन्य कई देशों में भी हो गया।

बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म का उदय हमारी संस्कृति के लिए कई विषयों में बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ। भारतीय संस्कृति की श्रीसम्पन्नता में इस धर्म के कारण काफी अभिवृद्धि हुई और इस देश के लोगों को जीवन के प्रति अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास करने में काफी सहायता प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म की देनों का विवेचन हम अध्ययन की सुविधा के लिए कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे।

(१) **कला की उन्नति**—बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख देन कला के क्षेत्र में है। यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि हमें सिन्धु घाटी की कला को छोड़ कर भारत में कला के जो नमूने प्राप्त होते हैं उनमें अधिकांश बौद्ध कला के ही नमूने हैं। मूर्ति कला और शिल्पकलाओं का तो उद्भव ही सम्भवतः बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि बौद्ध कलाकारों ने जिन कलाकृतियों का निर्माण किया उनका सौन्दर्य और सौष्ठव साधारण नहीं है। ईसा की छठी शताब्दी तक भारत की सबसे उत्तम कला बौद्ध कला है और जब से चीन तथा जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कला बौद्ध है, और लंका, बर्मा तथा स्याम की समस्त महती कला बौद्ध है, बोरबोदूर का स्तूप भी बौद्ध है और तिब्बत तथा नैपाल की धार्मिक कला भी उसी प्रकार बौद्ध कला है।

(२) **साहित्य-सृजन में बौद्ध धर्म की देन**—केवल कला ही नहीं वरन् साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण देन है। बौद्ध भिक्षुओं ने साहित्य ग्रन्थों के प्रणयन पर भी ध्यान दिया। 'बुद्ध चरित' नामक महाकाव्य तथा 'सरिपुत्रप्रकरण' नामक नाटक बौद्धों की ही देन है। संस्कृति के 'मंजु श्री मूलकल्प' तथा 'दिव्यावदान'

नामक ग्रन्थ जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास के विषय में काफी महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है, बौद्ध ग्रन्थ है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि बौद्ध साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा में भी ग्रन्थों का प्रणयन किया यद्यपि उनके आदि ग्रन्थ पाली में ही हैं। पाली के विस्तृत धार्मिक साहित्य का संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर संभव नहीं लेकिन इतना कहने में कोई हिचक नहीं कि बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों की उपयोगिता केवल इसीलिये नहीं है कि उनके द्वारा हमें इस धर्म के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है वरन् उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास के पुर्ननिर्माण जैसे दुरूह कार्य में विद्वानों की काफी सहायता की है। जातक कथाओं का महत्व इस दृष्टि से काफी है। इन कथाओं का प्रभाव विद्वानों ने अरेबियन नाइट्स की कथाओं पर खोजा है। 'थेरागाथा' और 'थेरीगाथा' के गीत बड़े मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं। 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डीक' जैसे संस्कृत ग्रन्थ विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण हैं यद्यपि मूलतः उनकी रचना धार्मिक उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति के लिए की गई थी। 'मिलिन्द पन्हो' तथा 'महा-वस्तु' नामक ग्रन्थों से भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। बौद्धों के सम्पूर्ण साहित्य को देखकर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि यह प्रचुर और विशाल है।

दर्शन की उन्नति—बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप भारत में एक नवीन दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत के ही नहीं निखिल विश्व के दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। प्रतीक्य-समुत्पाद, शून्यवाद योगाचार, सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और अनित्यवाद आदि कितनी ही दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो गया। असंग, वसुमित्र, और दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों की कृतियों का अध्ययन बिना किये हुए कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नहीं कहा जा सकता। बौद्धों के दार्शनिक विचारों का खण्ड करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए जिनमें भगवान् शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य है।

(३) **भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार**—बौद्धों की भारतीय संस्कृति की यह एक बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने भारतीय सीमाओं के बाहर सुदूर देशों में इसको प्रसारित किया। सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं के जत्थे पड़ोस के देशों में तथागत की शिक्षाओं का प्रचार करने गये थे। फिर उसके बाद कनिष्क के समय में महायान बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा सुदूर एशिया में हुआ। इन देशों में बौद्ध धर्म ने अपनी जड़ें बहुत गहरी जमा लीं। यहाँ के निवासियों के लिए भारत एक पवित्र देश हो गया—उन्होंने तथागत की शिक्षाओं के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों को भी ग्रहण किया। भारत का सुदूर पूर्वी एशिया के साथ घनिष्ठता का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ बौद्ध धर्म और उसके उत्साह-सम्पन्न प्रचारकों को ही दिया जा सकता है।

(४) **ब्राह्मण धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव**—यह कहा जा चुका है कि बौद्ध धर्म का उदय उस धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था, जो वैदिक धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड प्रधान पक्ष के विरुद्ध की गई थी। जब ब्राह्मणों ने अपने धर्म का प्रचार कम होते और बौद्ध धर्म का प्रचलन होते हुए देखा तो उन्होंने अपने धर्म में सुधार करने की ओर ध्यान दिया। ब्राह्मण धर्म में अहिंसा का महत्व बहुत अधिक समझा जाने लगा। यह ठीक है कि अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद में किया गया है तथापि उनका व्यापक प्रचार बौद्ध धर्म के द्वारा ही हुआ।

ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म की बहुत-सी श्रेष्ठ बातों को ग्रहण कर लिया और अपने धर्म का परिष्कार किया।

(५) **बौद्ध संघों की स्थापना**—इसमें कोई सन्देह नहीं की बौद्ध-संघों की स्थापना भगवान् बुद्ध के मस्तिष्क की मौलिक उपज थी और बौद्ध धर्म की यह एक प्रमुख देन थी। संन्यास का आदर्श बुद्ध ने उस समय की प्रचलित ब्राह्मण विचार-धारा से ग्रहण किया था परन्तु उन्होंने इसके फलस्वरूप में कुछ परिवर्तन किया। यह बात ठीक है कि बौद्ध धर्म के पूर्व भी ब्राह्मण सन्यासी लोक-कल्याण का जीवन बिताते थे, समाज को उनसे बहुत से लाभ होते थे। वे समाज की नैतिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं के नियामक तथा आवश्यकता उपस्थित होने पर उनके व्याख्याता भी होते थे, तथापि उनकी साधना बहुत कुछ करके एकाकी ही होती थी। बुद्ध ने अपने भिक्षु संन्यासियों को सामूहिक जीवन बिताने की शिक्षा दी और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने संघों को जन्म दिया। बुद्ध के पूर्व भारत में गणतन्त्र थे परन्तु धार्मिक संघ नहीं थे। धार्मिक संघ बौद्धों की अपनी विशिष्ट देन थी।

बौद्ध और जैन मतों की तुलना

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही उस सामान्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रतिफल थे जिसका उद्भव भारत में सातवीं अथवा छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लग-भग हुआ था। अतएव इनमें कुछ पारस्परिक समानताओं का होना स्वाभाविक है। दोनों धर्मों के समान रूप से वैदिक-कर्मकाण्ड, जाति-भेद तथा ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया। वेदों को अपौरुषेय न तो जैनियों ने ही माना और न बौद्धों ने ही। अहिंसा पर दोनों ही धर्मों ने जोर दिया। ईश्वर के प्रति दोनों ही उदासीन रहे। संन्यास धर्म की प्रधानता दोनों सम्प्रदायों में बतलाई गई है। दोनों धर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष (कैवल्य तथा निर्वाण) आदि विचार-धारा को स्वीकार करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह विचारधारा समस्त भारतीय धर्मों की सामान्य सम्पत्ति है तो कोई त्रुटि नहीं। संस्कृत भाषा के प्रयोग का दोनों ही सम्प्रदाय ने प्रारम्भ में बहिष्कार किया। बौद्धों ने अपने ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे और जैनियों ने प्राकृत में। परन्तु कालान्तर में दोनों ने ही संस्कृत भाषा को अपना लिया। बौद्ध और जैन धर्मों में से किसी ने भी हिन्दू देवी-देवताओं का विरोध नहीं किया। ब्राह्मणों की भाँति जैनियों और बौद्धों ने भी पौराणिक कथाओं की सृष्टि की। जैनियों और बौद्धों की पौराणिक कथाओं में कुछ सामान्य तत्व थे। यद्यपि संन्यास-जीवन की दोनों ही सम्प्रदाओं में प्रधानता बतलाई गई है तथापि गृहस्थ धर्म को आवश्यकता को दोनों ने ही स्वीकार किया है। गृहस्थें तथा संन्यासियों के लिए कतिपय विभिन्न आचार-नियमों का विधान दोनों ने ही किया है। विद्वानों की धारणा है कि जैन और बौद्ध धर्मों पर अनार्य-विचारधारा का प्रभाव है। डा० आर० सी मजूमदार का विचार है कि प्रतिमाओं का महत्व वैदिक आर्यों के धर्म में नहीं था। यह अनार्यों की हिन्दू धर्म की देन है। जैन और बौद्ध सम्प्रदाओं में मूर्ति के प्रभाव को स्वीकार कर लेना इसी तथ्य का द्योतन करता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अनार्य विचार-धारा से प्रभावित थे। यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों को आशावादिता का दोनों ही सम्प्रदायों में अभाव है और दोनों ही जीवन को आवश्यक रूप से दुःखपूर्ण समझते हैं।

इन उपर्युक्त समताओं के साथ-ही-साथ बौद्ध और जैन धर्मों में परस्पर विषम-

ताएँ भी हैं। यद्यपि दोनों ही जीवन को दुःखपूर्ण मानते हैं और इससे मुक्ति पाने का एक मात्र साधन कैवल्य या निर्वाण ही समझते हैं तथापि लक्ष-प्राप्ति के माध्यम या साधन के विषय में दोनों धर्मों की विचारधारा में महान् अन्तर है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म निर्वाण- प्राप्ति के लिए 'मज्झिमा पतिपता' अथवा मध्यम पथ की आवश्यकता बतलाता है किन्तु जैन धर्म में उपवास, उग्र तपस्या तथा प्राण-त्याग आदि कठिन कर्मों को कैवल्य-प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। बौद्धों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा जैनों की कैवल्य सम्बन्धी धारणा से काफी भिन्न है। बौद्धों के निर्वाण से अभिप्राय उस स्थिति से है जब मनुष्य के हृदय में कोई वासना नहीं रह जाती और वह अपने व्यक्ति को पूर्णरूप से समाप्त कर लेता है। बौद्ध लोग यह विश्वास करते हैं कि निर्वाण के लिए मृत्यु आवश्यक नहीं है। इस जीवन में भी इसकी प्राप्ति सम्भव है। जैन विचारधारा के अनुसार दुःखों से मुक्त हो जाने वाली स्थिति का नाम मोक्ष है अथवा कैवल्य है जिसकी प्राप्ति मृत्यु के बिना सम्भव नहीं है। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों में अहिंसा पर बड़ा जोर दिया गया है तथापि बौद्ध धर्म में अहिंसा का महत्व उतना अधिक नहीं है जितना कि जैन धर्म में। जैनियों के लिए हत्या आदि का विचार करना भी पातक है परन्तु भारत के बाहर बौद्ध लोग सदा से मांसाहार करते आये हैं। जैनियों की अहिंसावादिता पराकाष्ठा तक पहुँचा दी गई है और कुछ लोगों की दृष्टि में तो यह उपहासास्पद प्रतीत होती है। बौद्ध लोग अनात्मवादी हैं; किन्तु जैन विचारधारा के अनुसार प्रत्येक जीव में आत्मा का निवास है। डा० स्मिथ का कथन है कि बौद्ध धर्म में भिक्षुओं को जितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उतना उपासकों (गृहस्थों) को नहीं। किन्तु इसके विपरीत जैन धर्म में संन्यासियों की अपेक्षा गृहस्थों को ही अधिक महत्व दिया गया है। जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से कभी भी स्पष्ट पृथक्ता का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जब कि बौद्ध धर्म ने पृथक्ता की नीति का ही अवलम्बन किया। बात यह थी कि बौद्धों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही क्रान्तिकारी था जिससे वे प्रचलित धार्मिक विश्वासों के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके, परन्तु जैन धर्म का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था। यद्यपि जैन मत की शिक्षाओं में भी जाति-भेद का विरोध किया गया पर यह विरोध बौद्ध मत की तुलना में कहीं अधिक नर्म और हल्का है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कई स्थानों पर जाति-भेद की तीव्र शब्दों में निन्दा की और यज्ञ-योगादि का खण्डन भी किया, परन्तु जैनियों ने तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओं पर कोई प्रबल कुठाराघात नहीं किया। कालान्तर में जैनियों और वैष्णवों में आचरण की इतनी अधिक समानता हो गई कि उनमें भेद करना कठिन हो गया। आज भी जैनियों और वैष्णवों का आचरण प्रायः बिल्कुल एक-सा है। दोनों सम्प्रदायों में 'त्रिरत्नों' का विधान है।

प्रश्न

1. Give a brief sketch of the life of Buddha. What were the main teachings of Buddha and how do you account for the rapid spread of Buddhism. (1949, 1956, 1958)

2. Examine the effects of Buddhism (1950, 1953, 1956.)

3. What were the causes of disappearance of Buddhism from our country? (1951, 1953.)

4. Account for the rise of Buddhism and clearly bring out the essential difference between Buddhism and Brahmanism. (1952, 1955, 1958.)

5. Compare and contrast the teachings of Buddhism with those of Jainism. (1953.)

6. What are the main teachings of Jainism ? In what way did the teachings of Mahavira differ from those of Buddha ? (1957.)

अध्याय ९

बुद्धकालीन भारत

१. उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था

उत्तर भारत में आर्यकरण का कार्य बहुत ही वेग चल रहा था और छठीं से शताब्दी ई० पू० तक आते-आते यहाँ अनेक शक्तिशाली आर्य-केन्द्र स्थापित हो चुके थे जैसा कि हमने धर्म-सूत्रों में या इसके भी पूर्व पाणिनि की अष्टायायी में देखा था। उसमें २२ जनपदों का उल्लेख किया गया है जिनमें केकय, गांधार, कम्भोज, मद्र, अवन्ति, कुरु, साल्व, कोसल, भारत, उसीनर, यौधेय, प्राज्ञ तथा मगध सम्मिलित थे। इनमें से कुछ तो प्राचीन थे तथा कुछ का संगठन बाद में हुआ था। पांचाल, विदेह, अंग तथा बंग भी 'प्राच्य जनपद' के नाम से विख्यात थे। धर्मसूत्रों के समय में भी इस क्षेत्र में काफी प्रयास हुआ था। महाकाव्यों के रचना-काल तक आते-आते तो साम्राज्य की निर्माण की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि साम्राज्य के लिए ही कौरव-पाण्डवों का भीषण युद्ध होता है और उधर कैकयी को प्रपंच रचना पड़ता है। पर अब तक जितनी सामग्रियाँ मिलती हैं वे तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अवस्थाओं का ही सुन्दर रूप से परिचय कराने में सफल सिद्ध होती हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों एवं कुछ अंशों में शासन-व्यवस्था पर भी थोड़ा बहुत वे भले ही प्रकाश डाल दें पर राजनैतिक संगठनों का ठीक-ठीक उल्लेख करके तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का बोध कराने में वे उतना सफल नहीं होतीं प्रत्युत यह कहना चाहिए कि इस दृष्टि-कोण से वे पूर्णतया असमर्थ सिद्ध होती हैं। वास्तव में प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में ही हमें सर्वप्रथम राजनीतिक इतिहास की पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में 'अंगुत्तर निकाय' अधिक महत्वपूर्ण है, पर 'महावस्तु' तथा 'भगवतीसूत्र' में भी जनपदों की तालिका दी गई है जिनमें कुछ विभिन्नता है। यहाँ हम अंगुत्तर निकाय में दी गई सूची के आधार पर १० महाजन पदों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

महाजनपद

(१) अंग (२) मगध, (३) काशी, (४) कोशल, (५) वज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वंश, या वत्स, (९) कुरु, (१०) पांचाल, (११) मच्छ या मत्स्य, (१२) सूर सेन (१३) अस्सक, (१४) अवन्ति, (१५) गान्धार तथा (१६) कम्भोज आदि (१६) महाजनपद थे।

विद्वानों ने उपरोक्त जनपदों की स्थिति इस प्रकार बताई है—

(१) **अंग**—चम्पा इस जनपद की राजधानी थी। वह मगध के अन्तर्गत आधुनिक भागलपुर के निकट था। प्रारम्भ में इस जनपद के राजाओं ने ब्रह्मदत्त के सहयोग से मगध के कुछ राजाओं को पराजित भी किया था किन्तु कालान्तर में इनकी शक्ति क्षीण हो गई और इन्हें मगध से पराजित होना पड़ा।

(२) **मगध**—आधुनिक पटना तथा गया जिला इसमें सम्मिलित थे। इसकी

राजधानी गिरिव्रज थी। भगवान बुद्ध के पूर्व वृहद्रथ तथा जरासन्ध यहाँ के प्रसिद्ध राजा हुए हैं।

(३) **काशी**—इसकी राजधानी वाराणसी या बनारस थी। पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन किसी समय यहाँ राज्य कर चुके थे।

(४) **कोशल**—आधुनिक अवध के अनेक भाग इसके अन्तर्गत थे। श्रावस्ती इसकी राजधानी थी। सहेत-महेत (गोंडा) में आज भी इसके भग्नावशेष प्राप्त होते हैं। कंस कभी यहाँ का शासक रहा जिसका संघर्ष बराबर काशी से होता रहा और अन्त में कंस ने काशी को अपने अधीन कर लिया।

(५) **वज्जि**—कई जातियों के संगठन स्वरूप वज्जि राज्य की उत्पत्ति हुई थी। वैशाली इसकी राजधानी थी।

(६) **मल्ल**—मल्लों की दो शाखाएँ थीं—एक की राजधानी कुशीनारा (देवरिया जिले में आधुनिक कसिया) तथा दूसरे की पावा (आधुनिक पड़रौना) थी।

(७) **चेदि**—आधुनिक बुन्देलखण्ड तथा उसके समीपवर्ती भू-भाग इसमें सम्मिलित थे। शक्तिमती या सांथिवती इसकी राजधानी थी।

(८) **वंश या वत्स**—अवन्ति के उत्तर-पूर्व यमुना की तटवर्ती भूमि इसमें सम्मिलित थी। इसकी राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद से ३० मील दूर) थी।

(९) **कुरु**—दिल्ली की समीपवर्ती भूमि तथा मेरठ इस जनपद के अधीन था। इसकी राजधानी सम्भवतः हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ थी।

(१०) **पंचाल**—आधुनिक रुहेलखण्ड इसके अन्तर्गत था। मल्लों की भाँति इसकी भी दो शाखाएँ थीं, पहली शाखा उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र तथा दूसरी शाखा दक्षिण पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।

(११) **मच्छ या मत्स्य**—यह जनपद आधुनिक जयपुर रियासत में स्थित था। विराट इसकी राजधानी थी।

(१२) **सुरसेन**—इसकी राजधानी मथुरा थी।

(१३) **अस्सक**—यह अवन्ति का एक समीपवर्ती राज्य था। प्रारम्भ में अस्सक गोदावरी नदी के तट पर बसे हुए थे और पोतलि अथवा पोतन इनकी राजधानी थी।

(१४) **अवन्ति**—इसके अन्तर्गत आधुनिक मालवा था। उज्जैन इसकी राजधानी थी। हैहयों ने कभी यहाँ राज्य किया था। माहिस्मती इसकी राजधानी थी।

(१५) **गन्धार**—आधुनिक काश्मीर तथा तक्षशिला के प्रदेश इसके अन्तर्गत थे। तक्षशिला इसकी राजधानी थी।

(१६) **कम्भोज**—ये गान्धारों के पड़ोसी थे। इनमें निकट सम्बन्ध भी रहा होगा क्योंकि गान्धार-कम्भोज अनेक स्थलों पर साथ-साथ उल्लिखित हैं। राजपुर तथा द्वारका इनके दो प्रमुख नगर थे।

गण-राज्य

उपरोक्त १६ महाजनपदों के अतिरिक्त कुछ गण-राज्यों का उल्लेख भी प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। ये गण-राज्य निम्नलिखित हैं: —

(१) कपिलवत्थु (कपिलवस्तु) के शाक्य,
(२) अल्लकप्प के वुली,
(३) केसपुत्त के कालाम,
(४) सुंसमगिरि के भग्ग,
(५) रामगाम के कोलीय,
(६) पावा के मल्ल,
(७) कुशीनारा के मल्ल
(८) पिप्पलिवन के मोरिय
(९) मिथिला के विदेह,
(१०) वैशाली के लिच्छिवी तथा
(११) वैशाली के नाय।

इन गण-राज्यों पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जायगा।

(१) **कपिलवस्तु के शाक्य**—महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म इसी कुल में हुआ था, अतः यह स्वाभाविक है कि बौद्ध ग्रन्थों में इसका विस्तृत पर अतिरंजित वर्णन मिले। शाक्य नैपाल की सीमा पर हिमालय की तराई में रहते थे। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। शाक्यों का गण-राज्य काफी उन्नत था और उहोंने अनेक विशाल नगरों का निर्माण किया था। राइस डेविस के मतानुसार उक्त गण-राज्य में १०,००० कुटुम्ब (लगभग पाँच लाख मनुष्य) थे।

शाक्यों का शासक-प्रबन्ध अत्यन्त सुन्दर था। इनकी मंत्रणा-सभा काफी विषद थी। इस सभा द्वारा ही न्याय तथा शन्ति की व्यवस्था की जाती थी। इसका प्रधान 'राजा' कहलाता था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन भी इसके 'राजा' रह चुके थे। संथागार' में ५०० सदस्यों की सभा होती थी। किसी विषय पर मतैक्य न होंने पर 'शलाकाओं' (वोटिंग) द्वारा बहुमत लिया जाता था, जो सर्वथा मान्य था।

शाक्यों में विद्या एवं कला के प्रति विशेष अनुराग था। कपिलवस्तु उस समय शिक्षा एवं संस्कृति का केन्द्र माना जाता था। महात्मा बुद्ध ने यहीं विभिन्न प्रकार की कलाओं का अध्ययन सफलतापूर्वक किया था जिसके फलस्वरूप ५०० शाक्यों को प्रतियोगिता में पराजित करके ही वे यशोधरा को ग्रहण कर पाये थे। शाक्यों को अपनी कला एवं संस्कृति पर गर्व था और उसे स्थायित्व देने तथा उसमें किसी प्रकार का सम्मिश्रण न होने देने के अभिप्राय से ही वे अपने इतर वर्गवाले क्षत्रिय से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहते थे। यही कारण था कि उन्होंने कौशल नरेश प्रसेनजित को शाक्य कन्या न देकर एक दासी से व्याह कर दिया।

(२) **अल्लकप्प के वुली**—वुली वेथदीय राज के निकट हीं कहीं बसे थे। इनकी भूमि आधुनिक शाहाबाद तथा मुजफ्फरनगर के बीच कही थी।

(३) **केसपुत्त के कालाम**—महात्मा गौतम बुद्ध के गुरु आलारकालाम इसी कुल के थे। इनका सम्बन्ध सम्भवतः शतपथ में वर्णित पंचाल केशियों से है।

(४) **संसुमागिरि के भग्ग**—ये ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन भग्ग थे। डा० के० पी० जायसवाल के अनुसार इनकी भूमि में मिर्जापुर तथा उसका समीपवर्ती भू-भाग सम्मिलित था।

(५) **रामगाम के कोलीय**—इनका निवास-स्थान प्रसिद्ध शाक्यो के पूर्व में था। दोनों गणराज्यों के मध्य रोहिणी नदी थी। सिंचाई के लिए रोहिणी के जल के प्रश्न पर दोनों गण-राज्यों में संघर्ष हो जाया करते थे। इसी पारस्परिक कलह की शान्ति के लिए ही सम्भवतः महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन ने कोलियों की दो कन्याओं से व्याह किया था। महात्मा बुद्ध को भी इसी प्रकार के एक कलह को शान्त करना पड़ा था जिसका उल्लेख जातक में किया गया है।

(६) **पावा के मल्ल**—ये वशिष्ठ गोत्र के क्षत्रिय थे। इनकी दो शाखाएँ थीं। पहली शाखा पावा के मल्ल सम्भवतः आधुनिक पड़रौना में बसे थे। किन्तु डा० कनिंघम के इस मत के विरुद्ध कुछ इतिहासकार फजिलपुर को ही पावा मानते हैं। पावा में ही महात्मा महावीर ने पंचत्व प्राप्त किया था।

(७) **कुशीनारा के मल्ल**—यह मल्लों की दूसरी शाखा थी। आधुनिक कसिया ही कुशीनारा नाम से विख्यात था। यहीं महात्मा बुद्ध का परिनिब्बान (परिनिर्वाण) हुआ था जिसका प्रमाण कसिया में प्राप्त महात्मा गौतम बुद्ध की परिनिर्वाण मुद्रा में सोई हुई एक विशाल मूर्ति है।

मल्लों को भी शाक्यों की भाँति शिक्षा एवं कला से विशेष रुचि थी। सुदूर तक्षशिला में मल्लों के एक प्रमुख ने अपने पुत्र बन्धुल को विद्याध्ययन के लिए भेजा था। दर्शन के क्षेत्र में भी ये काफी आगे बढ़े थे और इनका एक नगर उरवेलकप्प तो दार्शनिक वाद-विवाद के लिए प्रसिद्ध था। धर्म के प्रति भी इनकी विशेष रुचि थी। बौद्ध धर्म के उत्थान में मल्लों की प्रशंसनीय देन है। अनरुद्ध, आनन्द उपालि आदि के नाम एवं कार्य इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

(८) **पिप्पलिवन के मोरिय**—महावंश टीका से ज्ञात होता है कि मोरिय पहले शाक्य थे पर कालान्तर में विड्डम की क्रूरता से ऊबकर ये स्थानान्तरण करके हिमालय के पर्वतीय भाग में चले आये जहाँ उन्होंने पिप्पलिवन नगर का निर्माण किया। इन्हें मोरिय की संज्ञा इसलिए दी गई थी कि इनकी नगरी सर्वदा मोरों के शब्दों से गुंजरित रहती थी। मगध साम्राज्य का निर्माता चन्द्रगुप्त इन्हीं मोरिय (मौर्यों) का वंशज था।

(९) **मिथिला के विदेह**—मिथिला इसकी राजधानी थी। जातक से ज्ञात होता है कि यह बहुत ही प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था और दूर-दूर के व्यापारी यहाँ व्यापार करने आते थे।

(१०) **वैशाली के लिच्छिवी**—लिच्छिवी क्षत्रिय थे। इनके वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर ही हम इन्हें क्षत्रिय मानते हैं। महावीर के पिता सिद्धार्थ ने इनकी कन्या से व्याह किया था। क्षत्रिय होने के कारण ही महात्मा बुद्ध के भस्मावशेष में ये अधिकारी हुए। वैशाली इनकी राजधानी थी। महावस्तु महाभग्ग, महापरिनिब्बान सुप्त आदि से ज्ञात होता है कि महात्मा गौतम बुद्ध के काल में लिच्छिवियों ने आशातीत उन्नति कर ली थी। इनके अनेक नगर अत्यधिक सुसज्जित एवं समृद्धशाली थे। नगर में चारों ओर अनेक चैत्य, विहार तथा राजप्रासाद थे। राजप्रासाद विभिन्न कुलीन सरदारों के थे।

लिच्छिवियों का शासन अत्यन्त सुव्यस्थित था। गण-राज्य में ७,७०७ 'राजा' अनेक 'उपराजा', सेनापति तथा 'भाण्डागारिक' थे। मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवी तथा नाय का ही एक संगठन 'अट्ठकुल' (अष्टकुल) के नाम से विख्यात था।

महापरिनिब्बान सुत्त से ज्ञात होता है कि लिच्छिवियों का गण-राज्य अनेक विशेषताओं से युक्त था। उनमें मतैक्य, सौहार्द्र, आदर, दृढ़ता आदि की भावना बलवती थी। इन गुणों के अतिरिक्त उनमें एक सर्वश्रेष्ठ गुण था राष्ट्रीयता की प्रबल भावना। महात्मा बुद्ध ने इनकी सहिष्णुता की काफी प्रशंसा की है। लिच्छिवियों पर बुद्ध तथा जैन के उपदेशों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा और अनेक राजकुमारों ने धार्मिक क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये।

(११) **वैशाली के नाय**--अष्टकुल का उल्लेख पीछे किया गया है। इसके अन्तर्गत आठ गण थे जिनमें विदेह, ज्ञात्रिक, लिच्छिवी तथा वज्जि सम्मिलित थे। उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु तथा कौरव अन्य चार गण थे। ज्ञात्रिक कश्यप गोत्र के क्षत्रिय थे। सूत्र-कृतांग से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी का जन्म इसी कुल में हुआ था क्योंकि उक्त ग्रन्थ ने उन्हें 'सर्वोच्चि जिन', ज्ञात्रिपुत्र महावीर' कहा है। ज्ञात्रिकों का अपना गण-राज्य वैशाली, कुण्डग्गाम तथा वनिय गाम से युक्त था और इसका केन्द्र कोल्लग नामक स्थान में था।

संघ की बैठक--'संथागार' या 'आराम' में 'आसनपन्नापक' नामक अधिकारी 'अदसक निसीदनम्' (चटाई या कम्बल) पर लोगों के बैठने का प्रबन्ध करता था। संघों में एक निश्चित सदस्यों की उपस्थिति वाञ्छनीय थी। यह संख्या ५, १०, २०, या इससे भी अधिक थी। निश्चित संख्या से कम उपस्थिति होने पर (कोरम पूरा न होने पर) सभा स्थगित करनी पड़ती थी अन्यथा उसकी कार्यवाही मान्य नहीं समझी जाती थी। कभी-कभी कोरम की पूर्ति स्थानापन्न व्यक्ति द्वारा कर ली जाती थी। जिसे 'गण-पूरक' कहते थे। संघ के प्रधान 'विनयधार' को कोरम के इतर समझा जाता था। इस कोरम में 'भिक्षुणियों', अजातीय व्यक्तियों तथा उस व्यक्ति को भी सम्मिलित किया जाता था जिसके विरुद्ध संघ की कार्यवाही होने को रहती थी। चुल्लवग्ग में संघ की कार्यवाही को मान्यता देने के लिए आवश्यक तत्वों का निरूपण किया गया है जिसके अनुसार कोई भी बैठक तब तक जायज नहीं मानी जाती थी जब तक (१) उसका कोरम पूर्ण न हो, (२) केवल योग्य व्यक्तियों से युक्त न हो, (३) उसमें मत न माँगा जाय, (५) विचाराधीन विषय पर संघ की अनुमति न ले ली जाय तथा (५) प्रस्ताव का पाठ तीन बार न किया जाय।

'ज्ञाप्ति' की 'स्थापना' से कार्यवाही आरम्भ होती थी और तत्पश्चात् इसकी घोषणा (अनुस्सावनम्) की जाती थी। 'अनग्र' (विषयेतर वार्ता) निषेध थी। 'ज्ञाप्ति द्वितीय' या 'ज्ञाप्ति चतुर्थकम्म' से ज्ञात होता है कि कभी-कभी दो बार और कभी चार-चार बार तक प्रस्ताव-पाठ होता था। महावग्ग से यह पता चलता है कि जो प्रस्ताव के समर्थक थे उन्हें मौन रहने को कहा जाता था और जो इसके विरोधी थे वे बोलते थे। कभी-कभी वाद-विवाद इतना अधिक बढ़ जाता था कि 'कलह' उत्पन्न हो जाती थी। जब किसी प्रश्न पर किसी स्थान (आवास') का संघ मतैक्य नहीं हो पाता था तो उसके समस्त सदस्य अपने निकटवर्ती किसी बड़े संघ में जाते थे और यहाँ भी मान्य निर्णय न होने पर समस्या हर प्रकार से कुशल एवं योग्य व्यक्तियों (सदस्यों) की चुनी हुई सभा (उद्वाहिका सभा) के सम्मुख रक्खी जाती थी। यदि उक्त सभा भी समझौता नहीं करा पाती थी तो मामला सम्पूर्ण संघ के सम्मुख रख दिया जाता था जिसमें 'वोटिंग' द्वारा निर्णय लिया जाता था जिसे 'येभ्भुय्यायिकेन' कहते थे। पोलिंग-आफिसर 'छन्द' ('पक्षपात) दोष, मोह, भय आदि से रहित होता था। 'शलाका' द्वारा वोट लिया जाता था, 'शलाकाग्राहापक' ('पोलिंग-आफिसर') इन शलाकाओं को एकत्रित

कर लेता था। संघ की जो बैठकें होती थीं उनका लेखा रखने लिए लिपिक होते थे। चार-चार ऐसे कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

गणतन्त्रों की विधान-निर्मात्री सभा का हमें कुछ स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त है। सम्भवतः केन्द्रीय समिति पर ही इसका उत्तरदायित्व था।

उपरोक्त विवरण से यह परिलक्षित होता है कि तत्कालीन भारत में संघ का महत्व बहुत अधिक था। इनकी बैठकों के इस विराट विवरण से हमें जनता की राजनीतिक जागरूकता का भी बोध होता है। आधुनिक युग में संघ-सरकार की सभाओं में जिन पद्धतियों का प्रचलन है उनमें लगभग सारी प्राचीन काल में प्रचलित थीं। स्वयं महात्मा बुद्ध भी गण-राज्यों की इस व्यवस्था से काफी प्रभावित हुए थे और इन्हीं संघों के आधार पर पश्चात् कालीन बौद्ध संघों का संगठन हुआ था।

राजतन्त्रीय राज्य

१६ महाजनपदों तथा ११ गण-राज्यों के अतिरिक्त चार विशाल राजतंत्रीय राज्यों का भी बोध हमें बौद्ध ग्रन्थों से होता है। यहाँ हम उन चार प्रमुख राज्यों का वर्णन करेंगे जो उस समय समस्त उत्तरी भारत में प्रसिद्ध थे, जिनकी शक्ति अपरिमित थी और जो साम्राज्यवाद की बलवती भावना से ओत-प्रोत थे। ये राज्य (१) वत्स, (२) अवन्ति, (३) मगध और (४) कोशल हैं।

वत्स—वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी जो इलाहाबाद से ३८ मील दूर कोसम गाँव की निकटवर्ती भूमि के पास या सम्भवतः उसी ग्राम में थी। महात्मा गौतम बुद्ध के काल में व्यापार में इसने आशातीत उन्नति कर ली थी। इसका व्यापारिक महत्व रखने का प्रमुख कारण यह था कि यह विदिसा होते हुये उज्जैन जाने के व्यापारिक मार्ग में पड़ता था। बुद्ध-काल में उदयन यहाँ का शासक था। पर वे इतिहास के कितने निकट हैं यह नहीं कहा जा सकता। उदयन के सम्बन्ध में कथासरित्सागर में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है पर जैसा कि डी० आर० भण्डारकर का मत है इसका अधिकांश अविश्वसनीय है।

उदयन की शक्ति के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थ बहुत उदार वृत्ति रखते हुए बताते हैं कि वह अत्यन्त शक्तिशाली था और उसकी सेना सर्वथा सशस्त्र सीमाओं पर तैयार रहती थी। कथासरित्सागर तथा प्रियदर्शिका से उदयन की दिग्विजयों का बोध होता है। इनके अनुसार उदयन ने कलिंग को हराया था। कोशल से भी उसकी शत्रुता थी। उदयन के पुत्र का नाम बोधि था जो सुसुमारगिरि के भग्ग नगर पर युवराज के रूप में शासन करता था। पर इसके आगे यह नहीं ज्ञात होता कि उदयन के पश्चात् उसके पुत्र ने वत्स पर राज्य किया अथवा नहीं।

उदयन बौद्ध भिक्षु पिण्डोल भरद्वाज द्वारा बौद्ध धर्म का समर्थक एवं उसका रक्षक बनाया गया था।

अवन्ति—अवन्ति राज्य के अन्तर्गत आधुनिक मध्य मालवा, निमार, मध्य प्रदेश तथा बरार के पड़ोसी देश सम्मिलित थे। बुद्ध काल में यहाँ का शासक प्रज्योत या प्रद्योत था। प्रद्योत को बौद्ध ग्रन्थों में क्रूर, महत्वाकांक्षी एवं युद्धप्रिय के रूप में चित्रित किया गया है। उदयन को किसी प्रकार पराजित करके उसके राज्य को अल्पसात करने की ही कामना निरन्तर प्रद्योत के हृदय में जोर मारती रही। प्रद्योत अपनी राजधानी उज्जैन से निरन्तर इस प्रकार का प्रयास करता रहा। वासवदत्ता

जिसका हरण उदयन ने कर लिया था इसकी रानी अंगारवती से उत्पन्न हुई थी। प्रद्योत ने धोखे से उदयन को बन्दी बना लिया था। उदयन ने भी इस छल का प्रत्युत्तर भली भाँति दिया और उसकी पुत्री वासवदत्ता को ही राज्य महल से चुपके से निकाल ले गया।

प्रद्योत के दो पुत्र गोपाल तथा पालक थे। गोपाल ने अपने छोटे भाई पालक के लिए गद्दी छोड़ दी थी। सम्भवतः कालान्तर में प्रद्योत महाकाच्यायन के प्रभाव से बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। तत्पश्चात् अवन्ति बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

मगध—इन चार प्राचीन नृपतंत्रों (वत्स, अवन्ति, मगध तथा कोशल) में मगध ही अत्यधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है। मगध के दो प्रसिद्ध राजाओं—बिम्बिसार तथा अजातशत्रु का इतिहास ही प्राचीन मगध का इतिहास है। अतः हम इन पर पृथक् पृथक् प्रकाश डालेंगे। पुराणों के अनुसार मगध का सर्वप्रथम ब्राहद्रथ वंश का शासन रहा। तत्पश्चात् वज्जिवंश वालों ने इसे बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया और बिम्बिसार ने इन्हें गंगा नदी की ओर भगा कर मगध पर अपना अधिकार स्थापित करके राजगृह को अपनी राजधानी बना लिया।

बिम्बिसार का शासन तथा उनकी विजएँ—बिम्बिसार की राजधानी गिरिव्रज थी पर बाद में उसने इसे बदल दिया और राजगृह में नवीन राजधानी की स्थापना की। महाभारत के अनुसार गिरिव्रज जरासन्ध की राजधानी थी। बुद्धघोष ने राजगृह को 'बिम्बिसारपुरी' बताया है।

बिम्बिसार ने कौशाम्बी का राज्य, स्तानीक द्वारा विजित अंग राज्य को अपने अधीन बनाकर अपने राज्य की सीमा काफी विस्तृत कर दी थी। उसने अंग को एक पृथक् प्रान्त बनाकर कुणिक को उसका गवर्नर बना दिया। कुणिक चम्पा में रहकर अंग का शासन-भार सभाँलता था। अंग के अन्तर्गत अनेक बड़े-बड़े नगर थे, अतः अब वे सभी बिम्बिसार की राज्य-सीमा के अन्तर्गत हो गये। इसके राज्य में ८०,००० गाँव सम्मिलित थे। इसका क्षेत्रफल लगभग ९०० मील से भी अधिक था और जिसे अजातशत्रु ने अपनी अन्य विजयों द्वारा १५००० मील कर दिया। बिम्बिसार के राज्य में कुछ गण-राज्य भी थे जिनके शासन 'राजकुमारों' के हाथ में थे।

विंम्बिसार का शासन बहुत ही कठोर था। दण्ड-विधान में किसी प्रकार की दया का स्थान न था। 'महामात्र', 'सब्बाकत्थक', 'बोहारिक, 'सेनापति' आदि राज कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।

बिम्बिसार का धर्म—जैन मतावलम्बियों का यह कहना है कि वह जैन था और महावीर स्वामी का अनन्य भक्त था। बिम्बिसार बहुत ही श्रद्धा एवं आदर के साथ महावीर स्वामी के पास गया था और पत्नियों, नौकरों तथा सम्बंधियों के साथ जैन मतावलम्बी हो गया। उसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि बिम्बिसार गौतम से गिरिव्रज में मिल चुका था और यद्यपि वे अभी बुद्ध नहीं हो पाये थे तथापि वह उनसे बहुत प्रभावित हुआ। महात्मा बुद्ध से भी वह अपनी नई राजधानी राजगृह में मिल चुका था और उसने बुद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

मृत्यु—अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का अन्त बुद्ध भगवान के निर्वाण के आठ वर्ष पूर्व अर्थात् ५५१ ई० पू० में कर दिया। सम्भवतः इसके पूर्व ही बिम्बिसार ने हत्या पर तुले अजातशत्रु को सिंहासन दे दिया था।

अजातशत्रु—बौद्ध ग्रन्थ विनय से हमें अजातशत्रु के काले कारनामे का बोध होता है। उक्त ग्रन्थ में यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध के विरोधी देवदत्त ने अजात-

शत्रु को भड़का कर बिम्बिसार के विरुद्ध कर दिया और उसने इस राजकुमार को इतना बरगलाया की एक दिन वह छूरा लेकर पिता की हत्या के लिए उसके अन्तःपुर में पहुँच गया, पर प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया। जब बिम्बिसार को पुत्र का यह कुकृत्य तथा उसका मन्तव्य ज्ञात हुआ तो उसने उसे न केवल क्षमा कर दिया वरन् अपना राज्य भी उसे दे दिया। पर अजातशत्रु को इस पर भी सन्तोष नहीं हुआ और उसने पिता का वध अपने हाथों ही कर दिया। देवदत्त ने उससे कहा था कि जीवन थोड़े दिनों का होता है और शासन-सूत्र उसके हाथों में काफी दिनों में आ सकता है। अतः राजकुमार ! अपने पिता का वध करो और राजा बनो। अजातशत्रु ने स्वयं ही महात्मा गौतम बुद्ध के सम्मुख यह स्वीकार किया कि उसने अपने पिता का बध राज्य के लिए किया था।

अजातशत्रु की विजय—लगभग ५५१ ई० पू० में अजातशत्रु सिंहासनारूढ़ हुआ। उधर पति की अकस्मात् मृत्यु से प्रपीड़िता कोशल देवी भी अधिक दिन तक वैधव्य न स्वीकार कर सकी और उसका भी देहावसान हो गया। प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशली देवी का ब्याह अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार से करने के पश्चात् ही काशी नगरी को दहेज रूप में दे दिया था। अब जो विकट परिस्थिति अजातशत्रु के सम्मुख उपस्थित होती है उसके मूल में यही दहेज में प्राप्त काशी नगरी है। अजातशत्रु पिता के राज्याधीन अन्य नगरों की भाँति काशी को भी अपने अधीन समझता था और इस प्रकार बहुत दिनों तक काशी नगरी से कर वसूल करता रहा। पर कोशल देवी की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई प्रसेनजित यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था कि पितृ-हन्ता अजातशत्रु का अधिकार काशी पर अब भी पूर्ववत् बना रहे। अतः उसने इसका विरोध किया और फलस्वरूप कोशल-मगध में संघर्ष छिड़ गया। प्रारम्भ में प्रसेनजित को पराजित होकर श्रावस्ती भाग जाना पड़ा पर बाद में वह अजातशत्रु की सम्पूर्ण सेना को उसके साथ बन्दी बनाने में सफल हो सका।

अन्त में दोनों में सन्धि हो गई है और प्रसेनजित ने अजातशत्रु की सेना, उसका राज्य आदि लौटा दिया, साथ ही अपनी पुत्री वाजिरा का ब्याह भी उससे कर दिया।

अजातशत्रु का दूसरा संघर्ष वैशाली के लिच्छिवियों से हुआ। हमें ज्ञात है कि अजातशत्रु वैदेही पुत्र था। अर्थात् उसकी माता वैदेही अर्थात् लिच्छिवि राजकुमारी थी। अब इन्हीं लिच्छिवियों (वज्जियों) से अजातशत्रु ने संघर्ष छेड़ दियां।

अजातशत्रु को इस द्वितीय संग्राम में बहुत बड़ी शक्ति का सामना करना पड़ा था जिसमें अनेक सम्मिलित शक्तियाँ थीं। केवल लिच्छिवी ही काफी शक्तिशाली हो चुके थे। उनकी सामरिक शक्ति, सच्चरित्रता, नियमितता तथा कष्ट-सहिष्णुता की चर्चा स्वयं भगवान् बुद्ध ने की है और कहा है कि वे अजेय और अभेद्य हैं क्योंकि वे गण-राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए सभी आवश्यक तत्वों का पालन करते हैं, स्वतंत्र एवं परिपूर्ण सभाएँ करते हैं, मत एवं नीति में एकता रखते हैं, प्राचीन प्रथाओं, रीति-रिवाजों एवं विश्वासों का पालन करते हैं, बड़ों का आदर करते हैं, नारियों तथा सन्यासियों का सम्मान करते हैं, आदि-आदि। निश्चय ही अजातशत्रु लिच्छिवियों को पराजित करने में काफी परेशान हो जाता और सम्भवतः अन्त में भी उसे विजय न मिलती पर उसे यह मूलमंत्र ज्ञात हुआ कि लिच्छिवियों के संघ में फूट उत्पन्न करके उनका नाश किया जा सकता है और अन्त में उसने किया भी यही। उसने अपने राज्य की सीमा पर स्थित पाटलिग्राम को, जो आगे चलकर पाटलिपुत्र हुआ, युद्ध केन्द्र बनाने का निश्चय किया और यहाँ पर अत्यंत सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण तेजी से किया जाने

लगा। इस दुर्ग का निर्माण अजातशत्रु के दो योग्य एवं कुशल मंत्री सुनीध तथा वस्सकार के निरीक्षण में हुआ। वहाँ उक्त मंत्रियों ने गौतम बुद्ध को आमंत्रित भी किया और तभी महात्मा बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि पाटलिपुत्र आर्यावर्त की एक प्रमुख नगरी होगी। दुर्ग बन जाने के बाद अजातशत्रु ने रण-भेरी बजा दी। उसकी कुटनीति वास्तव में पूर्णरूप से सफल हुई। लिच्छिवियों में परस्पर वाद-विवाद होने लगा कि कौन पहले आगे बढ़े। अन्ततोगत्वा अजातशत्रु की विजय हुई पर उसे इस युद्ध में जैनग्रन्थों के कथनानुसार १६ वर्ष लगे।

अजातशत्रु की बढ़ती हुई ताकत का प्रतिस्पर्धी अवन्ति का चण्डप्रद्योत था। चण्डप्रद्योत तथा अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार में सुन्दर पारस्परिक व्यवहार था—क्योंकि **बौद्ध ग्रन्थों** से यह ज्ञात होता है कि जिस समय चण्डप्रद्योत पाण्डु रोग से प्रपीड़ित था उस समय चिकित्सा के लिए बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था। किन्तु अजातशत्रु से इसके सम्बन्ध अच्छे नहीं जान पड़ते क्योंकि प्रद्योत के आक्रमण के भय से ही उसने राजगृह की किलेबन्दी करवाई थी।

अजातशत्रु का धर्म—ज्ञात होता है कुणिक (अजातशत्रु) अपनी पत्नी तथा अपने सहचरों के साथ महावीर स्वामी के पास आया करता था। जब वह वैशाली में था तब भी उसने महावीर स्वामी से भेंट की थी। यहाँ उसने जैन भिक्षुओं के प्रति अपने शुभ हार्दिक उद्‌गार प्रकट किये थे। उसने महावीर द्वारा प्रशस्त मार्ग की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की। तत्पश्चात् वह कब बौद्ध हो गया, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही वह बौद्ध हुआ।

कोशल—कोशल का इतिहास कंस से आरम्भ होता है। कंस के सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि इसने काशी राज्य को कोशल में मिला लिया था। पर इसका भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं प्राप्त है। कोशल का सर्वश्रेष्ठ बुद्धकालीन राजा पसेनिद या प्रसेनजित कंस के ही वंश का था। वास्तव में प्रसेनजित के शासन-काल में ही कोशल का विकास हो सका।

प्रसेनजित ने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री का ब्याह मगध-नरेश बिम्बिसार से कर दिया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध से प्रसेनजित और बिम्बिसार में पारस्परिक मेल था पर कालान्तर में बिम्बिसार की मृत्यु के पश्चात् यही सम्बन्ध अजातशत्रु तथा प्रसेनजित के संघर्ष का कारण बना जिस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

कोशल के तीन प्रसिद्ध नगर अयोध्या, साकेत तथा श्रावस्ती थे। जैसा कि प्रारम्भ में बताया गया है प्रसेनजित अत्यन्त उदार और दानी था। महात्मा बुद्ध और उसके सम्बन्ध का उल्लेख हमें बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं।

प्रसेनजित के पश्चात् उसका पुत्र विडुडभ कोशल के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। विडुडभ ने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था। ज्ञात होता है प्रसेनजित ने बुद्ध भगवान् के प्रति असीम श्रद्धा भाव से प्रेरित होकर उनके ही कुल शाक्य कुल से एक शाक्य कुमारी विवाह में माँगी। शाक्यों ने आत्माभिमान में चूर होकर शाक्य कुमारी न देकर एक दासी कन्या भेज दी। इसी दासी कन्या वासभ-खत्तिया से विड्डभ उत्पन्न हुआ था और जिस समय प्रेसेनजित को इस रहस्य का बोध हुआ तो उसने इन दोनों को राज्यच्युत कर दिया। किन्तु महात्मा बुद्ध के समझाने-बुझाने पर प्रसेनजित ने उन्हें पुनः सम्मानित किया। इन सारे कार्यों ने विड्डभ को विद्रोही

बनाने में योग दिया। किन्तु अपने अपमान का प्रतिकार केवल पिता से लेकर ही वह मौन रहने वाला न था। इस अपमान के मूल कारण शाक्यों को भी वह भली-भाँति ध्वंसित कर देना चाहता था। अतः उसने इन पर आक्रमण कर दिया। अचिरवती नदी पर विड्डभ तथा शाक्यों की मुठभेड़ हुई। कहा जाता है कि उसने शाक्यों को पूर्णतया ध्वंसित कर दिया पर अचिरवती नदी में ऐसी बाढ़ आ गई कि उसमें विड्डभ समस्त सेना सहित वह गया।

अन्त में मगध कोशल की बढ़ती हुई ताकत में विलीन होकर उसका एक विजित प्रदेश हो गया।

बुद्धकालीन भारत की इस राजनीतिक अवस्था के अवलोकन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अनेक छोटे-छोटे गणराज्य विद्यमान थे जिनमें आधुनिक प्रजातंत्र के अधिकांश तत्व विद्यमान थे। यद्यपि उन गण-राज्यों में कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही शासन होता था तथापि बहुमत मान्य था। गण-राज्यों के साथ-साथ स्वतन्त्र राज्य भी उन्नत अवस्था में थे। मगध राज्य उत्थान के प्रथम सोपान पर पदार्पण कर रहा था। गण-राज्यों को अपने में विलीन करके तथा कुछ नृपतन्त्र राज्यों को भी पराजित करके वह शक्तिशाली राज्य बनता जा रहा था।

भाग २–बुद्धकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

सामाजिक अवस्था

पिछले परिच्छेद में हमने बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन किया था, यहाँ हम तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का विवेचन करेंगे। पहले सामाजिक अवस्था पर ही विचार किया जायगा।

सामाजिक वर्गीकरण—रूढ़िवादी जाति-व्यवस्था के समर्थक एवं निर्माता ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए महात्मा गौतम बुद्ध ने जाति-भेद एवं वर्ग-भेद का समूल विनाश करने के लिए सतत् प्रयास किया था जिसके प्रमाण में उनके अमर उपदेश आज भी विद्यमान हैं। किन्तु जड़ता के आगे चेतनता की यह चिनगारी उतनी प्रकाशयुक्त एवं प्रभावोवादक नहीं सिद्ध हो सकी जितनी जीवन के अन्य क्षेत्रों में इसने अपना जादू दिखलाया। समाज में अस्पृश्यता का रोग पूर्ववत् बना रहा जिसका उदाहरण श्वेतकेतु जातक में प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ में यह दिखलाया गया है कि एक ब्राह्मण किसी चाण्डाल के पास स्पर्श-भय से अभिभूत होकर भाग रहा है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण मातंग जातक में प्राप्त होता है जिसमें यह दिखाया गया है कि किसी चाण्डाल का घर नदी के बहाव की ओर (नीचे की ओर) केवल इसलिए करा दिया गया कि उसकी दातून स्नान करते समय किसी ब्राह्मण की शिखा में उलझ गई थी।

महात्मा गौतम बुद्ध के पूर्व लगभग सम्पूर्ण भारत में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित था। उनका वर्गीकरण समस्त देश में मान्य था किन्तु बौद्ध धर्म के उत्थान के पश्चात् सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन आ गया। उसी काल में राजनीतिक सत्ताधीनता में भी परिवर्तन आया, पश्चिमी भारत में तो अब भी ब्राह्मणों का वही दबदबा था और सम्पूर्ण जनता ब्राह्मणों, कर्मकाण्ड एवं ब्राह्मण-व्यवस्था को मानती थी। ब्राह्मणों के विरुद्ध चलने का साहस उनमें न था। इस प्रकार समाज में ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान था। उनके नीचे क्षत्रिय तथा अन्य लोग थे। किन्तु पूर्वी भारत में अवस्था कुछ भिन्न थी। यहाँ

क्षत्रियों का प्राधान्य था। वे अपने को ब्राह्मणों से किसी प्रकार नीचा समझने को प्रस्तुत न थे। वे स्वयं को ब्राह्मणों के समकक्ष मानते थे और ब्राह्मणों के समान ही धर्माधिष्ठाता तथा धर्म-रक्षक समझते थे। यह ब्राह्मण-क्षत्रिय विद्वेष भी समाज की जाति-भेद सम्बन्धी कुरूपता का अन्त नहीं कर सका और न तो इन दोनों की सत्ता का ही समूल नाश हो सका कि समाज में जाति-भेद का प्रश्न ही समाप्त हो जाता।

नारी का स्थान—नारियों को साधारणतया घर की चहारदीवारी में रहना पड़ता था। गृह-चातुर्य तथा संगीत उनके मुख्य गुण माने जाते थे। लड़कियों का विवाह बहुधा माता-पिता या अभिभावक ही निश्चित करते थे किन्तु किसी विशेष अवस्था में उन्हें अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार था।

ग्राम तथा नगर संगठन

ग्राम संगठन—"इन ग्रामों की आर्थिक अवस्था सरल थी। कोई भी वर आधुनिक शब्दों में धनी नहीं बन सकता था पर साथ ही यहाँ साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन थे, सुरक्षा और स्वतंत्रता थी। न तो वहाँ जमींदार थे और न भिखारी।"

ग्रामों में अपराध बहुत कम होते थे। बहुधा सरकार इन पर पूर्ण नियंत्रण रखती थी। डकैती जैसे बड़े-बड़े अपराधों को रोकने के लिए सरकार सदैव तत्पर रहती थी जिससे ग्रामीणों का जीवन शान्तिमय था।

नगर—बौद्ध ग्रन्थों में बहुत कम नगरों (निगमों) का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ प्रमुख नगर ये हैं—

मगध की राजधानी राजगह (राजगृह), वत्स की कौशाम्बी, कोशल की राजधानी सावत्थी (श्रावस्ती), वज्जियों की वेसाली (वैसाली) अंग की चम्पा, शाक्यों की कपिलवस्तु, अवन्ती की उजेनी (उज्जयिनी), वाराणसी, अज्जोझा (अयोध्या), मथुरा, पोतन, तक्षशिला आदि। मगध की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र अभी केवल एक ग्राम पाटलिग्राम के नाम से विख्यात थी। उपरोक्त नगर भारी-भारी नदियों के तटों पर ही बसे थे, अतः ये अन्तर्देशीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। दीघनिकाय के अनुसार उस काल के छः प्रमुख नगर ये थे—

(१) चम्पा, (२) राजगृह, (३) सावत्थी, (४) साकेत, (५) कौशाम्बी तथा (६) वाराणसी।

इन नगरों के अतिरिक्त जातकों में कुछ अन्य नगरों का भी उल्लेख किया गया है जिनमें तक्षशिला प्रमुख है। तक्षशिला प्राचीन भारत का सर्वोन्नत नगर था। इसका महत्व शिक्षा की दृष्टि से ही बहुत बड़ा था। तक्षशिला विश्वविद्यालय से ही पाणिनि, जीवक, कौटिल्य जैसे विद्वान् स्नातक निकले थे जिन्होंने भारतीय दर्शन एवं साहित्य की अभिवृद्धि में अद्वितीय योग दिया।

नगरों में बाजारों की पंक्तियाँ थीं जहाँ दूकानें साधारण रूप में सजी रहती थीं। बाजारों का पृथक्-पृथक् क्षेत्र रहा होगा, यह भी सम्भव है।

नगरों में बरसाती पानी निकालने के लिए छोटी-छोटी नालियाँ थीं और बड़े-बड़े दुर्गों में बड़ी प्रणालिकायें रहीं जिनसे पानी बाहर जाता था। नगर में सफाई रखने के लिए साधारण व्यवस्था थी।

आर्थिक अवस्था

कृषि-सम्बन्धी उद्योग-धन्धे तथा अन्य सहायक उद्योग-धन्धे—कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में बसता था जिसका प्रमुख पेशा कृषि था; किन्तु कृषि के अतिरिक्त लोग तत्सम्बन्धी उद्योग तथा सहायक उद्योग-धन्धे भी किया करते थे।

जातक में कुल १८ प्रकार के उद्योग-धन्धों का उल्लेख किया गया है पर दुर्भाग्य से उनकी सूची प्राप्त नहीं है, केवल चार प्रकार के उद्योगों का ही नामांकन किया गया है—जैसे वड्ढकी, लौहकार, चर्मकार तथा चित्रकार। डेविड्स महोदय ने इन अट्ठारह प्रकार के उद्योग-धन्धों की सूची (अनुमान से) इस प्रकार दी है :—

(१) बढ़ई, (२) लुहार, (३) प्रस्तरकार, (४) बुनक, (५) चर्मकार, (६) कुम्भकार, (७) हाँथी दाँत के कारीगर, (८) रंगरेज, (९) जौहरी, (१०) मछुये, (११) कसाई, (१२) बहेलिया, (१३) बावर्ची, (१४) नाई, (१५) माली, (१६) नाविक, (१७) टोकरी बनाने वाले, आधुनिक 'धरिकार' जो ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी टोकरी बनाने का काम करते हैं तथा (१८) चित्रकार।

उपरोक्त शिल्पियों में से कुछ ने अपनी श्रेणियाँ स्थापित कर ली थीं और कुछ असंगठित रूप में ही कार्य करते थे। इनमें अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते थे और कृषक उनकी आय के प्रमुख साधन थे। उच्चकोटि के कलाकार नगरों में रहते थे।

निगम या श्रेणी—शिल्पियों के संगठन का निर्देशन ऊपर किया गया है। इन संगठनों को निगम अथवा श्रेणी कहा जाता था। लगभग सभी प्रमुख उद्योगों के कारीगरों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। इन श्रेणियों में प्रशिक्षा प्राप्त करने वालों को 'अन्तेवासिक' कहते थे। अन्तेवासिक का शाब्दिक अर्थ 'वहाँ के रहने वाले' हैं। निगम का प्रधान जेट्ठक' (ज्येष्ठक) कहलाता था।

सेट्ठि—कुछ ग्रन्थों में 'सेट्ठि' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो संभवतः प्रमुख अथवा प्रधान व्यापारी थे। श्रेष्ठ के अर्थ में ही सेट्ठि का प्रयोग होता रहा होगा। जातकों में 'महासेट्ठि' तथा 'अनुसेट्ठि' शब्द आये हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि 'सेट्ठियों' में भी उनकी स्थिति के अनुसार छोटे-बड़े पद थे।

वाणिज्य और व्यापार—अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों व्यापार उन्नत अवस्था में थे। रेशम, मलमल, मूल्यवान वस्तु, अस्त्र-शस्त्र, पिन, जरी के काम या नक्काशी, कालीन, औषधि, हाँथी-दाँत की वस्तुएँ, आभूषण आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ थीं। व्यापार के सम्बन्ध में डेविड्स महोदय ने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है जिससे ज्ञात होता है कि काफिला बनाकर अथवा नाव द्वारा व्यापारी दूर-दूर तक यात्रा करते थे और हर देश में प्रवेश करते समय उन्हें चुंगी देनी पड़ती थी।

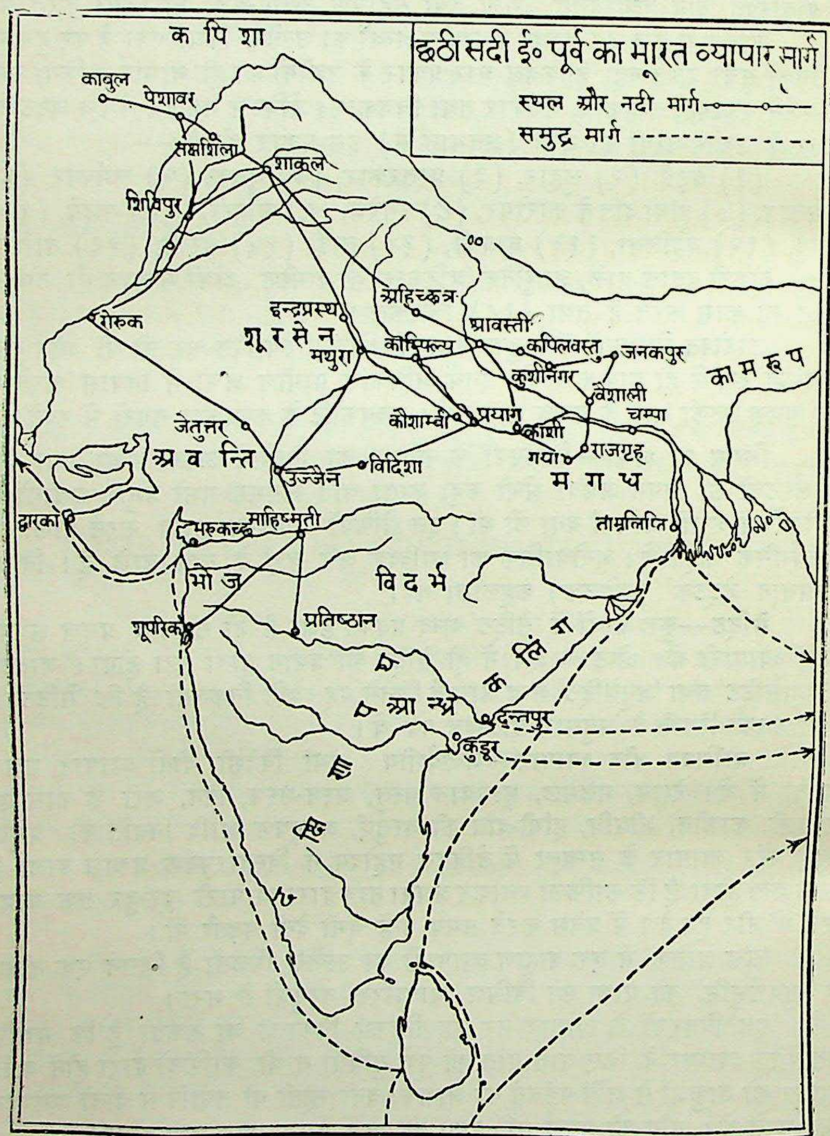
'संख जातक' में एक ब्राह्मण व्यापारी का उल्लेख मिलता है जिसने एक नौका को "सुवर्णभूमि" की यात्रा को विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं से भरा।

इन विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि अन्तर्देशीय व्यापार के लिए यातायात की पूर्ण सुविधा न थी, काफिलों द्वारा होने वाले व्यापार को डाकुओं से क्षति पहुँचने की आशंका बनी रहती थी तथापि ये दोनों व्यापार हुआ करते थे। माँग की प्रबल शक्ति का ही इनमें प्रमुख हाथ रहा होगा।

भाषा और साहित्य

बुद्धकालीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं पर विचार कर लेने के पश्चात् हम तत्कालीन भाषा और साहित्य की गतिविधियों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

लेखन-कला का उदय और विकास—यहाँ हम भारत के उस इतिहास पर विचार कर रहे हैं। जो लगभग एक हजार बारह सौ वर्ष पूर्व से सभ्यता के क्षेत्र में विश्व में अपना प्रमुख स्थान रखता चला आ रहा था, जिसके प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण



चित्र ५

हो चुका था और उनकी धाक अनेक धार्मिक ग्रन्थों पर जम चुकी थी। यह वह काल है जहाँ तक पहुँच कर भारत ने अनेक बौद्धिक विकास के अनेक अद्वितीय उदाहरण

प्रस्तुत किये थे। पिछले परिच्छेदों में हमने ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में पढ़ा था, ये सारे ग्रन्थ अपनी विशालता तथा साहित्यिकता के लिए आज भी विख्यात हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि भारतीयों ने अब तक लिखना-पढ़ना नहीं सीखा था। ये सारे ग्रन्थ बिना लिखे-पढ़े ही रचे गये थे। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रारम्भ में लेखनी से अछूते रहे और वे केवल ब्राह्मणों के मस्तिष्क पर उनकी जिह्वा के बार-बार पिष्ठपेषण से लिखे गये थे। अनुमानतः सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० से पहले भारत में लेखन-कला का विकास नहीं हो सका था।

भाषा—संस्कृत भाषा के नाटकों के अध्ययन से हम इस सम्बन्ध में यह अनुमान लगा सकते हैं कि संस्कृत तो किसी प्रकार भी जनभाषा नहीं थी। संस्कृत नाटकों के उच्च कुलीन पात्र तो शुद्ध संस्कृत में संभाषण करते हैं किन्तु साधारण पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्राकृत ही जनसाधारण की भाषा थी। वास्तव में साहित्यकारों की 'जनभाषा' में भी बनावट, कलात्मक और साहित्यिकता का पुट होता है। संस्कृत भाषा उच्चकुलीन ब्राह्मणों तथा विद्वानमंडली में, प्राकृत साहित्यकारों की रचनाओं में तथा उसका विकृत रूप कुछ क्षेत्र के लोगों में और पाली उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग में प्रचलित रही होगी।

साहित्य—पाली ग्रन्थ—हिन्दू ग्रन्थों के सम्बन्ध में पहले ही विचार किया जा चुका है। जैन ग्रन्थों की रचना सम्भवतः इस काल में नहीं हो सकी थी, यद्यपि जैनी अपने धार्मिक ग्रन्थों की प्राचीनता घोषित करते हैं। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ पाली में हैं और उनकी रचना-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अनुमानतः इनकी रचना पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० के अंतिम चरण के बीच में हुई। कुछ पुरातात्विक प्रमाणों (भरहुत-साँची आदि के अभिलेख) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौर्य तथा शुंगवंश के उत्थान के पूर्व धर्म और विनय की रचना हो रही थी। साहित्यिक साक्ष्य मिलिन्दपन्हों से भी यह ज्ञात होता है कि तीनों पिटक तथा पाँचों निकाय उसके पूर्व विद्यमान थे। महाबग्ग तथा चुल्लबग्ग की रचना अशोक के पूर्व हो चुकी होगी क्योंकि तृतीय बौद्ध संगीति के सम्बन्ध में ये मौन हैं। चुल्लबग्ग में सुत्तविभंग तथा पाँचों निकाय का उल्लेख किया गया है। अतः ये ग्रन्थ और भी प्राचीन सिद्ध होते हैं। त्रिपिटक में से अन्तिम अभिधम्मपिटक का उल्लेख नहीं है। अतः छठी शताब्दी ई० पू० के शीघ्र पश्चात् से लेकर ३५० ई० पू० के बीच में विनयपिटक के पर्याप्त भाग तथा सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों की रचना हो चुकी थी।

छठी शताब्दी ई० पू० के कुछ प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय

पिछले पृष्ठों में हमने महावीर तथा गौतम बुद्ध के विषय में प्रकाश डाला है। वास्तव में बौद्धिक क्रान्ति का इतिहास न तो उक्त दो धार्मिक नेताओं तक ही सीमित है और न इनसे ही इसकी इतिश्री होती है। महावीर तथा गौतम के पूर्व तथा उनके समय में भी भारत में अनेक विचारकों के सम्प्रदाय विद्यमान थे। इन सम्प्रदायों की संख्या अतिरंजित रूप में बताई जाती है। पाली ग्रन्थ 'ब्रह्मजाल' में बताया गया है कि जिस समय भगवान् बुद्ध ने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय देश में ६२ विभिन्न सम्प्रदाय थे। जैन-ग्रन्थ 'सूत्रकृतंग' में तो यह संख्या ३६३ बताई गई है। 'अंगुत्तर

निकाय' की तालिका जिसमें दस सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है काफी प्रमाणित है। तालिका इस प्रकार है—

(१) आजीविक, (२) निगन्थ, (निर्ग्रन्थ), (३) मुण्डसावक, (४) जटिलक, (५) परिब्राजक, (६) मागन्धिक, (७) तेदान्दिक, (८) अविरुद्धक, (९) गोतमक तथा (१०) देवधम्मिक।

बौद्ध ग्रन्थों में अबौद्ध सम्प्रदाय के छः प्रसिद्ध देवताओं के नाम दिये गये हैं और वे तिथ्थकर (सम्प्रदायों के जन्मदाता) कहे गये हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में इन धार्मिक नेताओं का विवरण प्रभावोत्पादक रूप में दिया गया है।

ये नेता भगवान् बुद्ध के पहले थे क्योंकि स्वयं बौद्ध ग्रन्थों ने यह स्वीकार किया है कि उनकी तुलना में बुद्ध कम आयु के थे और धार्मिक जीवन में अभी बिलकुल नये थे। नीचे इन धार्मिक नेताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा :

(१) **पुराण-कस्सप**—पुराण-कस्सप किसी प्रकार के शुभ-अशुभ कार्य की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते थे, अतः कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता उनके लिए कोई महत्व नहीं रखती थी। ये ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि अपने ज्ञान की पूर्णता के कारण ही इनका 'पुराण' नाम पड़ा था।

(२) **मक्खलि गोसाल**—इन्होंने कर्म और उसके प्रभाव दोनों का खण्डन किया है। उनके मतानुसार चौरासी लाख योनियों में निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़े रहने से मूर्ख तथा विद्वान् सभी अपने दुःखों से छुटकारा पा लेंगे।

(३) **अजित केसकम्बलिन**—इनका मत था कि मृत्यु के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है और कर्म द्वारा किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है।

(४) **पकुध्ध कच्चायन**—इनका सिद्धान्त था 'सतोनच्छि विनासी असतोनच्छि सम्भावों' अर्थात् जो कुछ है उसका विनाश नहीं किया जा सकता और जो नहीं है उसके (होने की) सम्भावना नहीं।

(५) **निगन्थनाथपुत्त**—समस्त बन्धनों से मुक्त होने के कारण ही इन्हें निगन्थ (निर्गन्थ) कहा जाता था। ये जैन धर्म के संस्थापक थे।

(६) **संजयवेलट्ठपुत्त**—इन्होंने अनेक जटिल प्रश्नों का विचित्र उत्तर ढूँढ़ निकाला जो मगध के प्राचीन निवासियों के लिए तर्क और चिन्तन का विषय बने हुए थे, जैसे 'क्या अच्छे और बुरे कर्मों का परिणाम होता है' के उत्तर में वे कहते हैं—

(१) परिणाम होता है, (२) परिणाम नहीं होता है, (३) परिणाम होता भी है और नहीं भी होता है, (४) न तो परिणाम् होता ही है और न यही है कि परिणाम न हो। संजय के उक्त उत्तरों में बचाव की कितनी सम्भावना है यह स्पष्ट है। सम्भवतः वे कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहना चाहते थे।

अध्याय १०

मगध साम्राज्य का उदय

पिछले अध्याय में हमने छठी शताब्दी ई० पू० की राजनीतिक अवस्था का वर्णन करते हुए मगध पर कुछ प्रकाश डाला था। चौथी शती ई० पू० तक मगध एक साधारण राज्य के रूप में रहता है। बिम्बिसार तथा उसके पुत्र अजातशत्रु के समय में मगध के उत्थान का विवरण दिया जा चुका है। यहाँ अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों पर प्रकाश डाला जायगा।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी—अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के सम्वन्ध में विभिन्न अनुश्रुतियों या ग्रन्थों में प्रतिवाद है। बौद्ध साक्ष्य अधिक प्रामाणिक हैं जिनके आधार पर अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

उदयभद्र या उदयिन—पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र दर्शक सिंहासनारूढ़ हुआ। पुराणों ने दर्शक का राज्य २५ वर्षबत तक ाया है।

महावंश के आधार पर अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयभद्र था। बौद्ध ग्रन्थों ने इसे अजातशत्रु का पुत्र स्वीकार किया है। अवन्तिराज को संभवतः उदयभद्र ने पराजित किया था। अवन्ती तथा मगध की परम्परागत शत्रुता का यहीं से अन्त होता है और अब उत्तर में मगध राज्य के समान दूसरा कोई राज्य न था। एक अनुश्रुति के अनुसार उदयभद्र एक षड़यंत्र द्वारा मार डाला गया था।

उदयभद्र के उत्तराधिकारी—इन्होंने ८ वर्ष तक राज्य किया था, अर्थात् ४९५ ई० पू० तक राज्य किया था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार मुण्ड के पश्चात् नागदाशक राजा हुआ। इसने २४ वर्षों तक, ४७१ ई० पू० तक राज्य किया।

पुराणों में उदयिन के उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन तथा महानन्दिन थे। जैन साक्ष्यों के अनुसार उसका कोई उत्तराधिकारी ही नहीं था।

उदयभद्र, अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदाशक आदि का उल्लेख पुराण कहीं नहीं करते हैं। पुराणों का दर्शक ही सम्भवतः नागदर्शक है। नागदर्शक के पश्चात् शैशुनाग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने १८ वर्षों तक (५२३ ई० पू० तक) राज्य किया। शैशुनाग के सम्बन्ध में बताते हुए कि वह एक मंत्री था और प्रजा द्वारा राजा बनाया गया। सिंहली अनुश्रुतियाँ भी सूचित करती हैं कि अजातशत्रु से लेकर नागदाशक तक सभी राजे पितृहन्ता थे और इसीलिये जनता ने विद्रोह करके मंत्री शैशुनाग को राजा बनाया। पुराणों में शिशुनाग राजा का उल्लेख है जिसने अवन्ति राज्य के प्रद्योत को पराजित करके मगध में मिला लिया। इसने अब राजधानी पाटिलपुत्र से हटाकर पुनः गृहव्रज में कर ली और अपने पुत्र को बनारस का प्रान्तीय शासक बना दिया।

शैशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक सिंहासनारूढ़ हुआ। कालाशोक का दूसरा नाम काकवर्ण तथा काकवर्णन भी मिलता है।

कालाशोक के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने २२ वर्षों तक ४०३ ई० पू० तक सम्मिलित राज्य किया।

नन्द वंश का उदय

कर्टियँस ने लिखा है कि 'अग्रमीज' का पिता नाई था जिसने किसी प्रकार रानी का प्यार पा लिया, अन्त में उसने राजा का बध कर दिया। राजा कालाशोक के बध

के पश्चात् वह उसके १० पुत्रों का अभिभावक बना और अन्त में उनका भी वध करके राजा बन बैठा। किन्तु 'अग्रमीज का पिता' से कर्टिस का क्या अभिप्राय है? महाबोधि वंश में नन्दवंश के संस्थापक का नाम उग्रसेन बताया गया है। उग्रसेन का पुत्र 'औग्र-सैन्य' सम्भवतः यूनानी भाषा का 'अग्रमीज' है। यूनानी लेखक नन्दवंश के संस्थापक को नाई बताते हैं।

कालाशोक के १० पुत्रों में से एक का नाम नन्दिवर्धन भी था जिसे पुराणों ने नन्द का पूर्वज माना है पर इसका खण्डन उपरोक्त घटना कर देती है।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने महाबोधिवंश द्वारा प्रस्तुत ९ नन्द शासकों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—उग्रसेन, पण्डक, पण्डुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविशांक, दास-सिद्धक, कैवर्त तथा धन।

पुराणों के अनुसार प्रथम नन्द-शासक का नाम महापद्म या महापद्मपति तथा महाबोधिवंश के अनुसार उग्रसेन था। पुराण इसे 'शूद्रगर्भोद्भव' बताते हैं।

महापद्म—पुराणों ने नन्दवंश के संस्थापक महापद्म को 'सर्वक्षत्रांतक' (समस्त क्षत्रियों का विनाशक) कहा है। उसे 'एकराट' की भी उपाधि प्रदान की है। इससे यह परिलक्षित होता है कि उसने शैशुनाग राजाओं के समकालीन इक्ष्वाकु, पांचाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, मैथिल, सूरसेन, वीतिहोत्र आदि राजाओं को पराजित कर दिया था। "नवनन्द देहरा" नामक नगर (गोदावरी तट पर नान्दर) से यह बोध होता है कि दक्षिण में नन्दों की सत्ता स्थापित थी।

महापद्म उग्रसेन के पश्चात् उसके आठ पुत्रों ने बारह वर्षों तक (पुराणों के अनुसार) राज्य किया। महाबोधिवंश द्वारा दी गई ९ नन्दों की तालिका पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत की गई है। इसमें अन्तिम धन ही संभवतः यूनानियों का अग्रमीज है।

नन्दों के सम्बन्ध में कुछ और अधिक प्रकाश जैन ग्रन्थ "आवस्यक-सूत्र" से पड़ता है। प्रथमनन्द का मंत्री कल्पक था। इसी ने प्रथम नन्द को क्षत्रिय राजवंश के विनाश के लिए प्रोत्साहित किया था। नन्दों के शासन-काल में मंत्री का पद वंशानुगत होता था। नवें नन्द के मंत्री का नाम सकताल (Sakatal) था जिसके दो पुत्र स्थूलभद्र तथा श्रीपक थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् स्थूलभद्र को पद दिया गया पर उसने इसका त्याग कर दिया और जैन भिक्षु बन गया। तब श्रीपक पदासीन हुआ।

नन्दवंश का अन्तिम शासक धननन्द सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध पर राज्य करता था और तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा उसका अन्त कर दिया गया जिससे मगध में दूसरा राजवंश प्रतिष्ठित हुआ।

नन्दों का महत्व राजनीतिक दृष्टिकोण से अधिक है। इन्होंने ही विभिन्न छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त भारत को राजनीतिक एकता के पथ पर अग्रसर किया जिससे भावी सम्राटों को एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने में पर्याप्त योग मिला। नन्दों के सामरिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, यद्यपि उनकी आर्थिक नीति शोषण पर आधारित थी। नन्दों के पतन तथा मौर्य वंश की स्थापना के इतिहास पर अगले परिच्छेदों में विचार किया जायगा।

प्रश्न

१. मगध साम्राज्य के उत्कर्ष का संक्षिप्त इतिहास लिखिये।
२. अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के विषय में आप क्या जानते हैं?
३. नन्दवंश के विषय में आप क्या जानते हैं?
४. अजातशत्रु तथा बिम्बिसार के अधीन मगध राज्य का वर्णन कीजिये।

अध्याय ११

विदेशी आक्रमण

पारसीक अभियान

पिछले परिच्छेद में हमने भारत की राजनीतिक एकता के निर्माण का वैभव-काल देखा था। मगध साम्राज्य में देश के आन्तरिक भाग के अनेक राज्य सम्मिलित हो चुके थे। छठीं-शताब्दी ई० पू० के द्वितीय चरण में उत्तरापथ मद्र देश तक विभिन्न राज्यों में विभक्त हो चुका था जिनमें कम्भोज, गान्धार तथा मध्य प्रमुख थे। पूर्व में तो उसी समय से मगध राज्य उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर था और अन्त में उग्रसेन-महापद्म ने समस्त पूर्वी राज्यों को एक सूत्र में बाँध दिया, किन्तु उत्तर या उत्तर-पश्चिम भारत में इस प्रकार कोई पराक्रमी सम्राट नहीं हुआ जो दुर्बलता के मूल इस राजनीतिक अनेकता को विच्छिन्न करके देश के महत्वपूर्ण भाग को, विशेषतया सामरिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण भाग को, राजनीतिक एकता स्थापित करके सशक्त बनाता। उनकी इस दुर्बलता का परिणाम भी उन्हें शीघ्र भुगतना पड़ा और फारस साम्राज्यवादी अखामनी (Achamenian) सम्राटों की लोलुप वक्र दृष्टि इन पर पड़ी। देश की राजनीतिक विशृंखलता ने उन्हें आक्रमण के लिये आमंत्रित किया।

साइरस—अखामनी साम्राज्य के निर्माता साइरस ने ५५० से ५२९ ई० पू० अपने राज्य-काल के बीच जिड़ोसिया होकर कभी भारत पर आक्रमण किया था किन्तु इतिहासकार स्ट्रैबो के कथनानुसार उसे किसी प्रकार केवल सात आदमियों के साथ आत्मरक्षा करके वापस लौट आना पड़ा। अपनी पूर्वी विजयों में उसने ड्रेनजिअना (Drangiana), सत्तगोड़िया (Sattagydia), गान्डारिटिस (गान्धार) पर अधिकार स्थापित कर लिया था। ये जिले ईरान और भारत की सीमा का निर्धारण करते थे। टीसियस के कथनानुसार साइरस की मृत्यु युद्ध में किसी भारतीय से लड़ते समय लगी हुई चोट से हुई।

साइरस की मृत्यु (५२० ई० पू०) के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी केम्बिसस ने आठ वर्षों तक शासन किया। किन्तु आन्तरिक विद्रोहों में बुरी तरह फँसे रहने के बाद उसे भारत की ओर ध्यान देने का बिलकुल ही समय नहीं मिला।

डेरियस—डेरियस (दारा या दारायवुश) अखामनी राजवंश का तृतीय सम्राट था। इसने ५२२ से ४८६ ई० पू० तक शासन किया। "उसने (डेरियस) ने यह जानने का इच्छुक होकर कि मगर उत्पन्न करने में द्वितीय स्थान रखने वाली सिन्धु नदी किस स्थान पर समुद्र से मिलती है.......केरियन्डा को स्काईलैक्स के जलयान में भेजा। तदनुसार कैस्पेटिरस (Caspatyrus) तथा पैक्टाइट नगर से चल कर वे (स्काईलैक्स) तथा उसके साथी नदी के बाहव पर पूर्व दिशा एवं सूर्योदय की ओर समुद्र को चले, तब समुद्र में पश्चिम की ओर चलकर तीसवें महीने में वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ मिस्र के सम्राट ने फूनीशियन को लीरिया की जलयात्रा को रवाना किया था। जब ये लोग यात्रा पूरी कर आये, डेरियस ने भारतीयों को पराजित कर दिया तथा समुद्र का परिभ्रमण किया।"

जरक्सीज (क्षयार्ष)—डेरियस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जरक्सीज (Xerxes–४६८–४६५ ई० पू०) सिंहासनारूढ़ हुआ। उत्तराधिकार में प्राप्त भारतीय राज्य को इसने अपने अधीन बनाए रखा।

पारसीक-भारतीय सम्पर्क का प्रतिफल

इन दोनों जातियों का सम्पर्क बहुत पहले से चला आ रहा था जिसके सम्बन्ध में बताया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों जातियों को एक ही माना है। और वे पारसीक ग्रन्थ अवेस्ता तथा हिन्दू ग्रन्थ वेद दोनों धर्मों के दो मूल स्तम्भों को ही इसके प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं।

यह तो प्रागैतिहासिक काल की बात रहीं। ऐतिहासिक काल में भी इनके पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण प्राप्त होता है जिसके विषय में परिच्छेद के प्रारम्भ में भी बताया जा चुका है। पारसी लेखकों ने भारत में 'अरेमिक' (Aramic) ढंग की लेखन-प्रणाली का प्रचलन किया जिसका विकास अशोक-काल तथा उसके पश्चात् 'खरोष्ठी' लिपि के नाम से हुआ। यह अरबी लिपि की भाँति दाहिने से बाईं ओर को लिखी जाती थी। भवन-निर्माण-कला के क्षेत्र में भी कुछ विद्वान पारसीक प्रभाव का अनुभव करते हैं और उनका ऐसा विचार है कि अशोक का पाटलिपुत्र का स्तम्भों वाला विशाल भवन, उसके स्तम्भों एवं शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख तथा स्तम्भों का घण्टा शीर्ष आदि ये सारी शैलियाँ पारसीक देन हैं। इस मत में काफी सत्यता भी प्रकट होती है। अशोककालीन तक्षण-कला का नमूना इसके पूर्व भारत में नहीं प्राप्त होता है और सम्भवतः अशोक के पूर्व तो स्तम्भ खड़ा करने की परिपाटी ही न थी।

कुछ विद्वान् भारतीय राजाओं के दरबारी जीवन पर भी इस सम्बन्ध का प्रभाव दिखाते हैं और उनका अनुभव है कि चन्द्रगुप्त का राज-दरबार में केश-सिंचन (फारस) के सम्राट की इसी प्रथा के आधार पर प्रचलित हुआ था। पारसीक आक्रमण और पारसीक सम्पर्क की स्मृति लगभग आगामी दो-तीन शताब्दी तक बनी रही इसका मान्य प्रमाण स्वयं अशोक अभिलेख हैं जिसमें राजा पारसीक सम्राटों की ओर संकेत करता है—

"देवानां पियो पियद से राजा एवं आह-थातीय रायवौ यगैषक्षयाथिय . . .।"

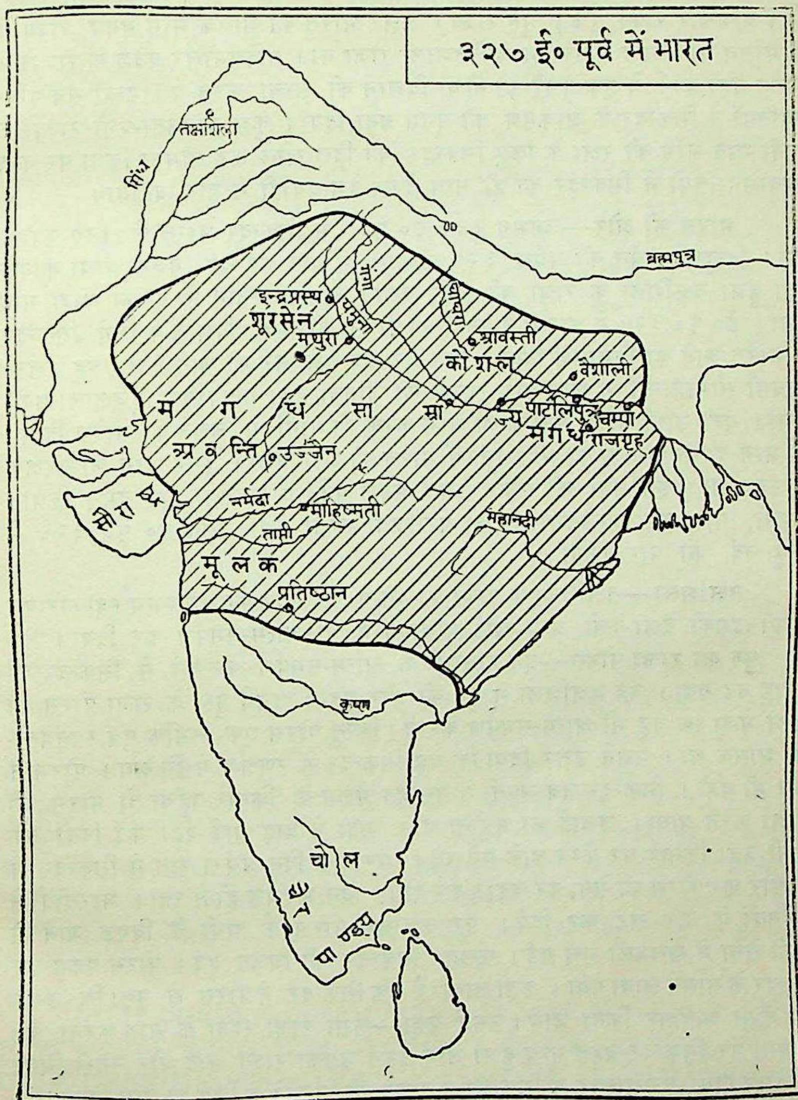
उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पारसीक आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा। यह प्रभाव अपना तत्कालीन परिणाम भी दिखा सका और यदि हम यह निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लेते हैं जैसा कि अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार किया है कि अभिलेख उकीर्ण कराना पारसीक देन है, तो हमें अपने को पारसीक प्रभाव का वास्तव में ऋणी समझना चाहिये, क्योंकि अभिलेखों के अभाव में हमारे इतिहास के अनेक क्षेत्र तिमिराच्छादित ही रह गये होते और कुछ इतिहासकारों को इतिहास लिखने के स्थान पर 'इतिहास गढ़ना' पड़ता।

यूनानी आक्रमण

सिकन्दर का आक्रमण

आर्य-भूमि पर यह पहला आक्रमण था जिससे विदेशियों को कालान्तर में भारत पर धावा करने का रास्ता खुल गया। यद्यपि उसके आक्रमण का कोई विशेष प्रभाव

हमारे देश पर न पड़ा तथापि देश की राजनीतिक अवस्था परिवर्तिन हो गई। छोटे-छोटे राज्यों का अन्त हो गया और एक प्रभावशाली मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। इसकी



चित्र ६

एक और देन हम भुला नहीं सकते; वह यह कि हमारे देश का इतिहास तभी से तिथि-क्रम के अनुसार लिखा जाने लगा। ऐसे महत्वपूर्ण आक्रमण का अध्ययन आवश्यक है।

आक्रमण के समय भारत की अवस्था—आक्रमण के पूर्व उत्तरी भारत अनेक राजतंत्रों एवं गणतंत्रों में विभक्त था जो परस्पर संघर्ष किया करते थे। मेगस्थनीज

के अनुसार उत्तरी भारत में ११८ राज्य थे, जिसमें उल्लेखनीय मालव, मुषिक, कठ, शिवि, सौभूति, शूद्रक तथा अम्बष्ठ थे। तीन विशेष प्रसिद्ध थे —(१) आम्भी राज्य, (२) अभिसार राज्य, (३) पुरु राज्य। उत्तर भारत का अधिक भाग मगध राज्य में सम्मिलित था। नन्द भारत का शक्तिशाली राजा था। पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्यों में संगठन नहीं था। वे एक दूसरे को नीचा दिखाने की सोचा करते थे। इन्हीं सब परिस्थितियों ने सिकन्दर के आक्रमण को सुगम बना दिया। कुछ स्वतंत्रता-प्रेमी राज्यों ने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिए सिकन्दर का दिल खोल कर सामना किया पर कुछ विश्वासघातियों ने सिकन्दर का ही साथ देकर देश-बर्बादी में हाथ बटाया।

भारत की ओर—लगभग ३३० ई० पू० में सिकन्दर भारत के लिए रवाना हुआ। हिन्दुकुश पर्वत को अप्रैल ३२९ ई० पू० में पार कर वह गजनी तथा काबुल होता हुआ तक्षशिला के राजा की ओर चला। अफगानिस्तान ने इसका लोहा मान लिया। ई० पू० ३२७ में आम्भी ने पुरु-राज्य पोरस को नीचा दिखाने के लिये सिकन्दर को भारत आने का निमन्त्रण दिया। सिकन्दर कब सुअवसर को जाने देता। वह उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्तों के छोटे-छोटे राज्यों को जीतता हुआ निकासिया (जलालाबाद) पहुँचा। यहीं उसने अपनी सेना के दो भाग करके दो मार्गों से चलने का आदेश दिया। एक भाग दो सेनापतियों की अध्यक्षता में भारत की ओर चला। दूसरे भाग का संरक्षक वह स्वयं था। इस सेना को लेकर उसने अनेक पर्वतीय जातियों का दमन किया। अस्यसी, नीसा तथा अस्सेकनोइयों को पराजित करता हुआ उसने ई० पू० ३२६ में सिन्धु नदी को पार किया।

तक्षशिला—तक्षशिला के राजा आम्भी ने सिकन्दर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसकी देखा-देखी अन्य छोटे राजाओं ने भी आत्म-समर्पण कर दिया।

पुरु का राजा पोरस—इन राजाओं के आत्म-समर्पण कर देने से सिकन्दर का उत्साह बढ़ गया। वह तक्षशिला से पुरु की ओर बढ़ा। उसने पुरु के राजा पोरस को कहला भेजा कि वह भी आत्म-समर्पण कर दे। किन्तु पोरस एक निर्भीक एवं स्वतंत्रता-प्रेमी शासक था। उसने उत्तर दिया कि वह सिकन्दर से रणक्षेत्र में मिलेगा। पोरस ने किया भी वही। सिकन्दर जब अपनी सेनासहित झेलम के किनारे पहुँचा तो पोरस को प्रतीक्षा करते पाया। जुलाई का महीना था। नदी में बाढ़ आई थी। कई दिनों तक यूनानी वहीं किनारे पर कैम्प डाले पड़े रहे। पर एक दिन अँधेरी रात में सिकन्दर ने नदी पार कर पोरस की सेना पर चढ़ाई कर दी। दिन भर युद्ध होता रहा। भारतीयों ने यूनानियों के दाँत खट्टे कर दिये। पर अचानक पोरस के हाथी के बिगड़ जाने से उसकी सेना में खलबली मच गई। फलतः सिकन्दर की विजय हुई। पोरस पकड़ कर सिकन्दर के सामने लाया गया। कहा जाता है कि सिकन्दर ने पोरस से पूछा कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय। उसने कहा—जैसा राजा राजा के साथ करता है। इस बात पर सिकन्दर बहुत मुग्ध हुआ और उसने उसका राज्य कुछ और नगरी मिला कर लौटा दिया, पर वास्तव में सिकन्दर ने पोरस को मिलाने के लिये ही ऐसा किया था।

ग्लाउसाई तथा कनिष्ठ पोरस—पुरु को जीत कर सिकन्दर आगे बढ़ा और उसने ग्लाउसाई तथा ग्लांउगनिक जाति के ३७ नगर जीत लिये। चिनाब पार कर उसने पोरस के भतीजे कनिष्ट पोरस को हरा कर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया।

विप्रमा तथा संगल—रावी नदी पार कर सिकन्दर ने अप्रैस्ते के दुर्ग विप्रमा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। आगे बढ़ने पर कठों के नगर संगल पर उसका

आक्रमण हुआ। कठों की वीरता देख सिकन्दर को जीत की कोई आशा न रही पर पोरस की सहायता ने उसे विजयी बनाया। पोरस को मिलाने का लाभ सिकन्दर को तुरन्त मिल गया।

ग्रीक सेना का विद्रोह

व्यास के तट पर पहुँच जाने के पश्चात् यूनानी सेना ने सहसा आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। महान् संगठनकर्त्ता, कुशल सेनानायक एवं वीर सिकन्दर की सुव्यवस्थित सेना का यह विद्रोह आश्चर्यजनक ही रहा। सिकन्दर के जोशीले भाषणों के सम्मुख भी सेना केवल आँसू बहाकर रह गई। सेना ने आगे बढ़ने से क्यों इन्कार कर दिया, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों ने दो प्रकार के कारण बताये हैं। पहला आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य। आन्तरिक कारणों में सैनिकों की शिथिलता, व्याधिग्रस्तता, वस्त्राभाव तथा उनका गृहोन्मुख होना सम्मिलित है, तथा बाह्य कारणों में भारतीय सैनिकों की रणकुशलता एवं भावी खतरे की आशंका है।

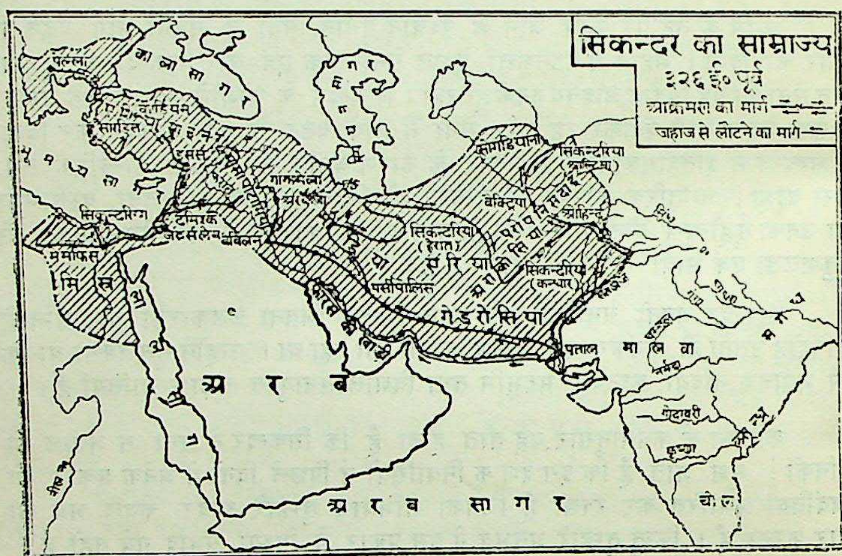
सिकन्दर अपनी सेना को आगे बढ़ने के लिये जितना ललकारता था, सैनिकों का विद्रोह उतना ही भयंकर रूप धारण करता जा रहा था। उन्होंने सुन रक्खा था कि आगे भयानक नदियाँ, कष्टकर मरुभूमि तथा विशाल सेनायुक्त लड़ाकू जातियाँ हैं।

कर्टियस के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने सेना से अपील की "सैनिकों! मुझे ज्ञात है कि इस देश के निवासियों ने पिछले दिनों में अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ प्रचारित कर रक्खी हैं जिनका अभिप्राय तुम्हारे अन्दर केवल भय का संचार करना है। किन्तु तुम्हारे अनुभव में इस प्रकार के मिथ्या संवाद नये नहीं हैं।" सेना पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और कोईनस ने कहा, "यद्यपि यह सत्य है कि बर्बरों की संख्या सम्बन्धी अफवाहों में सचेत अत्युक्ति है तथापि उन मिथ्या अफवाहों से भी हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीयों की संख्या काफी अधिक होगी।" "डाल दो मुझे गरजती नदियों के खतरे में, छोड़ दो मुझे क्रुद्ध गजों की दया पर और इन क्रूरकर्मा जातियों की प्रतिहिंसक औदार्य पर जिनके नाम तुम्हें आतंक से भर रहे हैं, मैं ढूँढ़ लूँगा ऐसे वीरों को जो मेरा अनुसरण करेंगे।" पर सिकन्दर के इन वाक्यों का उत्तर गोल-गोल आँसू की बूँदें मिलीं और तब उसने निराश होकर कहा, "निस्सन्देह बहरे कानों से मेरे शब्द टकराते रहे हैं, मैं ऐसे कायरों को उत्साहित करता रहा हूँ जिनके हृदय त्रास से भर गये हैं।" अन्त में सिकन्दर को स्वदेश की ओर सेना का मुँह मोड़ देना पड़ा।

सिकन्दर की वापसी—सिकन्दर ने पोरस को व्यास और झेलम के बीच के भाग का वाइसराय बनाया। लौटते समय सिकन्दर ने शिवि तथा शिवोइ जाति को हराया और आग्लोसोई, मल्ल तथा छुद्रकों पर विजय प्राप्त की। सिंध के शासक के उपहार न देने के कारण सिकन्दर ने सिन्ध पर आक्रमण कर दिया और असंख्य प्राणों का हनन कर अपनी घोर नृशंसता का परिचय दिया। पत्तन पहुँच कर सिकन्दर ने सेना के तीन भाग कर दिये। एक भाग सक्कर, क्वेटा, कान्धार और सीस्तान होता हुआ पर्सिया की ओर चल दिया। दूसरा भाग जल-मार्ग से चला और तीसरा भाग सिकन्दर के साथ बिलोचिस्तान के दक्षिणी भाग से होता हुआ आगे बढ़ा। मई ३२४ ई० पू० में वह फारस पहुँचा। मार्ग में ही ३३ वर्ष की आयु में ३२३ ई० पू० में बेबीलोन पहुँच कर सिकन्दर स्वर्गगामी हो गया।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव

सिकन्दर एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने विश्व-विजय का स्वप्न देखा था। इसी प्रेरणा से उसने भारत की ओर भी पैर बढ़ाया पर सेना के विद्रोह के कारण विवश हो लौट गया।



चित्र ७

राजनीतिक प्रभाव—उसके इस आक्रमण का कुछ प्रभाव भारत पर अवश्य पड़ा जो इस प्रकार है—

(१) सिकन्दर ने बहुत से स्कन्धवार और नगरों की स्थापना की जिनका अस्तित्व उसकी मृत्यु के पश्चात् भी बना रहा। इस प्रकार आदान-प्रदान का अवसर मिला और गान्धार-कला का जन्म हुआ।

(२) इस आक्रमण ने भारतीयों को यह पढ़ाया कि उनका सैन्य-संगठन तथा युद्धविधि विदेशियों के मुकाबले में दोषपूर्ण है। (३) सीमान्त प्रदेशों में तथा पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में यूनानी राज्य बन गया पर सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् ही उनकी सत्ता समाप्त हो गई। (४) इस आक्रमण ने पश्चिमी भारत की राजनीतिक दुर्बलता को स्पष्ट कर दिया। (५) आक्रवण द्वारा पददलित राज्यों की क्षीण दशा से चन्द्रगुप्त को अवसर मिला जिससे वह मौर्य-साम्राज्य की स्थापना कर सका। (६) आक्रमण के पश्चात् ही यूनानियों ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक सुसंगठित राज्य का निर्माण कर लिया जिससे भारतीयों को राजनीतिक एकता की शिक्षा मिली। (७) सिकन्दर की आक्रमण-तिथि ने भारत में भी तिथि का सूत्रपात कर दिया और तब से तिथि क्रमानुसार इतिहास चलने लगा। (८) अनेक विद्वान यूनानी लेखकों ने भी भारत में पदार्पण किया था जिन्होंने तत्कालीन भारत का इतिहास लिखा। इनके द्वारा हमको उस काल की घटनाओं का ज्ञान होता है।

सांस्कृतिक प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण का हल्का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर भी पड़ा—

(१) मुद्रा-निर्माण का कलात्मक ढंग यूनानियों ने भारत को दिया। (२) भवन-निर्माण की नवीन विधि का प्रभाव भी भारतीयों पर कुछ काल तक रहा। (३) कला की गान्धार शैली का अभ्युदय हुआ। (४) इसी प्रकार ज्योतिष पर यूनानी प्रभाव ज्ञात होता है। (५) भारतीय दर्शन पर यूनानी दार्शनिक पैथागोरस का प्रभाव पड़ा। (६) सिकन्दर द्वारा खोले गए मार्ग ने योरोप और भारत में जो सम्बन्ध स्थापित किया उससे योरपवासियों को भी अनेक लाभ हुए। कुछ विद्वानों का मत है कि ईसाई धर्म के परवती रूप पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा साथ ही योरोपीय दर्शन को भी भारतीय दर्शन ने प्रभावित किया।

आर्थिक प्रभाव—यातायात के साधनों को सिकन्दर के आक्रमण ने अधिक प्रोत्साहन दिया जिससे व्यापारिक उन्नति हुई।

(१) **यूनान-भारत के चार पथ**—एक जल से तथा तीन थल से खोज निकाले गये। इससे भारत और यूनान का व्यापार सुगम हो गया, (२) यूनानी सिक्कों का प्रचलन भारत में अधिक हो चला था। इससे व्यापारिक सम्बन्ध और भी गहरा हो गया और (३) भारत का व्यापार पश्चिमी देशों से भी होने लगा।

प्रश्न

1. Give a brief account of the Indian campaign of Alexander the Great and estimate its effects. (1958, 1957.)

(सिकन्दर के भारतीय अभियान का संक्षिप्त वर्णन दीजिये तथा इस अभियान का भारत पर प्रभाव का मूल्यांकन कीजिये।)

२. प्रारम्भिक पारसीक आक्रमणों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

३. सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक अवस्था का उल्लेख कीजिये।

४. सिकन्दर के भारतीय अभियान का संक्षित इतिहास लिखिये।

५. सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा ?

अध्याय १२

मौर्य-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य

यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर जिस समय भारतवर्ष के सीमान्त प्रदेशों पर अपना तूफानी आक्रमण कर रहा था और दुर्बल एवं वैमनस्य रखने वाले भारतीय राजाओं की शक्ति का अपहरण करने में लगा था उसी समय मगध के विशाल साम्राज्य में एक भारतीय नवयुवक अपनी राजनीतिक शक्ति संचय कर रहा था। वह युग राजनीतिक अनेकता का युग था। सम्पूर्ण भारतवर्ष में कम-से-कम उत्तरी भारत में मगध ही एक शक्तिशाली एवं सुसंगठित राज्य था। सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख करते हुए पिछले परिच्छेद में हमने यह बताया था कि विश्व-विजेता सिकन्दर की अजेय सेना ने किस प्रकार नन्द-सेना की विशालता की कल्पना मात्र से ही भयातुर होकर आगे बढ़ने में असमर्थता प्रकट की थी। दूसरी ओर एक अकेला व्यक्ति इस विशाल साम्राज्य को पराजित करने की सोच रहा था। उसकी महत्वाकांक्षाएँ कविकृत कल्पना मात्र न थीं वरन् उसने नन्दों को समूल नष्ट करके सचमुच भारतीय इतिहास में एक नये युग का निर्माण किया। इस उत्साही वीर पुरुष का नाम चन्द्रगुप्त मौर्य था तथा उसके साम्राज्य का नाम मौर्य साम्राज्य था।

चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन—इस अज्ञात पिता के विख्यात पुत्र चन्द्रगुप्त का जन्म लगभग ३४५ ई० पू० में हुआ था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के समय मौर्यों की महत्ता का अन्त हो चुका था। इन्हीं मौर्यों के प्रधान का पुत्र चन्द्रगुप्त अपनी विधवा द्वारा किसी प्रकार पाला जा रहा था। इतिहासकारों तथा अनुश्रुतियों एवं लोक-कथाओं में चन्द्रगुप्त की जाति पर मतभेद है। कुछ इसे क्षत्रिय मानते हैं तथा कुछ शूद्र घोषित करते हैं। यूनानी लेखक जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का जन्म एक ऐसे गाँव के प्रधान के घर में हुआ था जिसमें 'मयूर-पोषक' (मोर पालने वाले) रहा करते थे। 'मयूर-पोषक' कुल में उत्पन्न होने के नाते चन्द्रगुप्त को मौर्य की उपाधि प्राप्त हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य को निम्न कुल का बताने वाला दूसरा साधन विष्णु पुराण है। मौर्य शब्द के आधार पर ही विष्णु पुराण में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रगुप्त का जन्म नन्द राजा की मूरा नामक स्त्री से हुआ था। किन्तु संस्कृत-व्याकरण के अनुसार मूरा से 'मौरेय' शब्द बनेगा न कि मौर्य। टीकाकार वास्तव में चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध राजपूत से जोड़ना चाहता है, किंतु दंतकथाओं एवं अनुश्रुतियों की छाप उसके मष्तिस्क पर रही जिसके फलस्वरूप उसने चन्द्रगुप्त की माता का नाम शूद्रा-स्त्री सा रख दिया। वृहत्कथा में भी चन्द्रगुप्त को तुच्छ कुल का बतलाया गया है। विशाखदत्त द्वारा चित मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'वृषल' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जस्टिन साहब विष्णु पुराण की टीका, वृहत्कथा तथा मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त मौर्य को तुच्छ कुल का बताते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं उपलब्ध है जो चन्द्रगुप्त को शूद्र घोषित करते हों।

अब हम उन साधनों पर प्रकाश डालेंगे जो चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों का इस क्षेत्र में विशेष स्थान है। दिव्यावदान चन्द्रगुप्त के पुत्र विन्दुसार को मूर्धाभिशिक्त मानता है। इसी प्रकार एक अन्य बौद्ध ग्रंथ महावंश चन्द्रगुप्त को मोरीय क्षत्रिय कुल का मानता है। मोरीय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण हमें एक अन्य प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थ महापरिनिब्बान सुत्त से प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में मोरियों को पिप्पलिवन का शासक बतलाया गया है। इस ग्रन्थ में यह लिखा हुआ है कि पिप्पलिवन के मोरियो ने मल्लों के पास महात्मा गौतम बुद्ध के पावनावशेष का कुछ अंश माँगने के लिए एक दूत यह कहला कर भेजा "कि महात्मा बुद्ध क्षत्रिय वंश के थे और हम लोग भी क्षत्रिय हैं।" इस विवरण से मोरीय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण प्राप्त हो जाता है और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य निश्चय ही इन्हीं मौरियों से सम्बन्धित क्षत्रिय कुल का रहा होगा। दिव्यावदान, महावंश महा-परिनिब्बान सुत्त आदि बौद्ध ग्रन्थों तथा अन्य बौद्ध अनुश्रुतियों से चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना प्रमाणित होता है। इनके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों से भी चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना सिद्ध हो जाता है। इन जैन ग्रन्थों में परिशिष्ट पर्वण तथा कल्पसुत्त विशेष उल्लेखनीय हैं।

एलियन, सर जान मार्शल तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी भी चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय स्वीकार करते हैं।

मगध पर पहला आक्रमण—इधर चन्द्रगुप्त नन्दों से चिढ़ा था उधर एक भयंकर ब्राह्मण भी नन्दों का सर्वनाश करने लिए अपनी शिखा खोल चुका था। उस ब्राह्मण का नाम था चाणक्य या कौटिल्य। चाणक्य जैसा कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण का नन्द वंश से असन्तुष्ट हो जाना बहुत बड़ी बात थी। नन्दों को यह नहीं मालूम था कि चाणक्य में कौन सा गुण छिपा हुआ था नहीं तो वे उससे झगड़ा मोल न लेते। संयोगवश चणक्य और चन्द्रगुप्त की भेंट हो गई। फिर क्या पूछना था, दोनों ने एक बहुत बड़ी सेना एकत्रित की और नन्दों पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उनका मगध पर आक्रमण करना ठीक न था, क्योंकि केन्द्र में नन्दो की शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी। नन्दों ने चन्द्र-गुप्त को हरा दिया। चाणक्य और चन्द्रगुप्त को मगध से हटना पड़ा। चाणक्य बड़ा कूटनीतिज्ञ था। उसने तुरन्त तरकीब सोची।

सिकन्दर से भेंट—उस समय सिकन्दर का आक्रमण हो रहा था और यूनानी विजेता एक-एक करके छोटे-छोटे राज्यों को जीतता चला जा रहा था। सिकन्दर से मिल कर काम इस तरह बन सकता था कि सिकन्दर नन्दों का नाश करके चला जाता और तब चन्द्रगुप्त मौर्य मगध पर अपना अधिकार जमा लेता। इसी उद्देश्य से चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला पर चन्द्रगुप्त कायर, दब्बू या कापुरुष नहीं था। उसने सिकन्दर के सामने भी गर्वभरी बातें कीं जिससे सिकन्दर चिढ़ गया और उसने चन्द्रगुप्त के बध की आज्ञा दी। सिकन्दर के सिपाही चन्द्रगुप्त को पकड़ने के लिए बढ़े पर किसमें इतनी शक्ति थी जो चन्द्रगुप्त को पा सकता। चन्द्रगुप्त सिकन्दर के खेमे से बाहर चला आया।

मगध पर दूसरा आक्रमण—ज्योंही सिकन्दर स्वदेश लौट गया त्योंही उत्तरा-पथ की जनता में विद्रोह की आग भभक उठी क्योंकि यूनानियों ने उसे बहुत अधिक कष्ट दिये थे। छोटी-छोटी स्वतंत्र जातियाँ भी जिन्हें सिकन्दर ने पराजित कर दिया था, अब फिर स्वतन्त्र होने की चिन्ता करने लगीं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इस

परिस्थिति से लाभ उठाया। उन्होंने उत्तरापथ का नेतृत्व किया। शीघ्र ही सारे उत्तरापथ में चन्द्रगुप्त की धाक जम गई। यहीं चन्द्रगुप्त ने सैनिक संगठन किया। चाणक्य ने काश्मीर की पहाड़ियों के राजा पर्वतेश्वर से सन्धि की जिससे नन्दों के विनाश में सहायता मिले। तत्पश्चात् पूरी तैयारी के साथ नन्द-सम्राट घनानन्द पर आक्रमण किया गया। घनानन्द परिवार सहित मारा गया और मगध पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया। ३२१ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा।

सेल्यूकस की पराजय—सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया। सेल्यूकस इन सेनापतियों में प्रमुख था और भारत की पश्चिमोत्तर सीमा का भू-भाग उसके अधीन ही रहा। सेल्यूकस बहुत महत्वाकांक्षी था। वह सिकन्दर की भाँति विश्व-विजेता बनाना चाहता था। इसलिए उसने सर्वप्रथम भारत के उन राज्यों को अपने अधीन करने की इच्छा की जो सिकन्दर द्वारा अधीनस्थ बनाये जा चुके थे। ज्योंही चन्द्रगुप्त को यह सूचना मिली त्योंही वह तैयार हो गया और उसकी सेना ने युनानी सेना को सिन्ध नदी के पास रोका। सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के सामने घुटने टेक देने पड़े। यों तो यूनानी इतिहासकार युद्ध के परिणाम के बारे में कुछ नहीं बताते पर जो शर्त चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के बीच हुई उनसे ज्ञात होता है कि युद्ध में निश्चय ही सेल्यूकस की हार हुई थी। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को ५०० हाथी दिए। सेल्यूकस ने हिरात से बलूचिस्तान तक का भू-भाग चन्द्रगुप्त को दे दिया और अपनी पुत्री का ब्याह भी चन्द्रगुप्त से कर दिया। उसने मेगस्थनीज नामक एक राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार में रख दिया।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार—नन्दों को पराजित करके चन्द्रगुप्त ने उस तमाम भू-भाग पर अधिकार प्राप्त कर लिया जिस पर नन्दों का अधिकार था। इसके अतिरिक्त सेल्यूकस द्वारा प्राप्त भूमि कावुल, कन्धार, हेरात और बलूचिस्तान पर भी उसका अधिकार हो गया था। पंजाव से यूनानियों को निकालकर उसने बहुत पहले अधिकार कर लिया था। इस प्रकार उत्तर में उसका साम्राज्य अफगानिस्तान और पंजाब से लेकर बंगाल की सीमा तक फैला था। पश्चिम में उसकी राज्य-सीमा सौराष्ट्र या काठियावाड़ तक थी। दक्षिण में तिनेवली जिले तक उसका राज्य फैला हुआ था।

अन्तिम दिन—इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त के शेष जीवन का इतिहास नहीं मिलता है। उसके साम्राज्य-विस्तार को देखते हुये ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का शेष जीवन भी साम्राज्य विस्तार के लिए युद्धों में व्यतीत हुआ होगा। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन मतावलम्बी होकर अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में मगध में भयंकर अकाल पड़ने के कारण राज्य का परित्याग करके जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण में मैसूर की ओर चला गया था। मैसूर में अब भी कुछ अभिलेख भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त का जैन साधुओं की भाँति निवास करने का संकेत करते हैं। वहाँ जिस पहाड़ी पर भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त निवास करता था वह अब भी चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित चन्द्रगुप्त वस्ती नामक मन्दिर भी पाया जाता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने एक सच्चे जैन भिक्षु की भाँति उपवास करके अपना प्राणान्त कर दिया। इसकी मृत्यु-तिथि २९८ अथवा ३०० ई० पू० वतलाई जाती है। यूनानी लेखकों के विवरण से उक्त जैन अनुश्रुति का खंडन हो जाता है। इन लेखकों के मतानुसार चन्द्रगुप्त ने हिंसा को कभी नहीं छोड़ा था। ऐसी दशा में चन्द्रगुप्त का जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर आना तथा अनशन करके प्राण त्यागना सम्भव नहीं है। किन्तु जब तक

कोई तर्कसंगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता तब तक इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन-प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध के अध्ययन के पूर्व तत्कालीन असुविधाओं का निर्देशन कर देना आवश्यक होगा। चौथी शताब्दी ई० पूर्व में यातायात तथा संदेश-वाहन के साधनों की हीनावस्था की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। तब तक कोई भी विशाल साम्राज्य नहीं हो सका था और इसके अभाव में लम्बी-लम्बी सड़कों, सरायों आदि का होना असम्भव था। चन्द्रगुप्त मौर्य के सामने सबसे बड़ी असुविधा शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में यातायात, संदेश-वाहनों तथा साम्राज्य की विशालता की थी। प्रशा से लेकर दक्षिण भारत तक विस्तृत इस साम्राज्य का समुचित शासन-प्रबन्ध करना निश्चय ही एक कठिन कार्य था। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से साम्राज्य के कोने-कोने में शक्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव था। किन्तु चन्द्रगुप्त स्वयं एक कुशल शासक तो था ही सौभाग्यवश उसे चाणक्य जैसा राजनीतिज्ञ का सहयोग प्राप्त था। चन्द्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन केन्द्रीयकरण की पद्धति पर न करके प्रान्तीय शासन-व्यवस्था की नींव डालकर किया जिसके विभिन्न स्वरूपों पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध का ज्ञान हमें मेगस्थनीज की 'इंडिका' तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त होती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो चन्द्रगुप्त के शासन की मूलभूत प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। कुछ विद्वान् अर्थशास्त्र के रचयिता को तथा इस ग्रन्थ को चन्द्रगुप्त कालीन नहीं स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका यह सन्देह अधिक मान्य नहीं है और अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त कालीन अथवा उसके निकट का मानना ही युक्तिसंगत है।

साम्राज्य-शासन

चन्द्रगुप्त स्वयं शक्तिशाली था। वह शासन-सत्ता पूर्णतया अपने हाथ में रखना चाहता था। अतः इस शासन में साम्राज्य का केन्द्र और प्रधान राजा होता था जिसके हाथ में सेना, न्याय-व्यवहार आदि सभी कार्य थे। मेगस्थनीज के कथनानुसार राजा शासन में बहुत बड़ा हाथ बटाता था। उसके वर्णन से यह ज्ञात होता है कि राजा दिन-रात राज्य के कार्यों में लगा रहता था और अपनी प्रजा की प्रार्थना सुनने के लिए वह हर समय तैयार रहता था। युद्ध-काल में राजा को सेना का नेतृत्व करना पड़ता था और युद्ध सम्बन्धी नीतियों पर वह सेनापति से विचार विमर्श भी करता था। राजा का दूसरा महत्वपूर्ण काम यह था कि वह साम्राज्य के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति स्वयं करता था। आय-व्यय का निरीक्षण भी राजा के हाथ में था। परराष्ट्र-नीति शासन का महत्वपूर्ण अंग है; अतः राजा इस विषय पर राजदूतों से स्वयं परामर्श करता था। गुप्तचरों से देश की आन्तरिक अवस्था तथा भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना भी राजा का कर्त्तव्य था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को यह अधिकार था कि वह नये कानून का निर्माण कर सके। वह प्रजा के आचरण के लिए शासन की घोषणा भी करता था।

मन्त्रि-परिषद—राज-कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए एक 'मंत्रि परिषद्' भी थी। राजा योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन इस 'परिषद' में करता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें १८ पदाधिकारियों का बोध होता है। ये पदाधिकारी अपने-अपने विभाग के अध्यक्ष होते थे। ये निम्नलिखित थे :—

(१) मंत्री	(२) पुरोहित
(३) सेनापति	(४) युवराज
(५) दौवारिक 'द्वारों का रक्षक'	(६) अन्तरवेशिक 'अन्तःपुर का अध्यक्ष
(७) प्रशास्त्रीय 'कारागाराध्यक्ष'	(८) समाहर्ता 'अर्थसंग्रहकर्त्ता'
(९) सन्निधाता 'कोषाध्यक्ष'	(१०) प्रदेष्टा 'कमिश्नर'
(११) नायक 'नगर रक्षक'	(१२) पौर 'कोतवाल'
(१३) व्यावहारिक 'प्रधान न्यायाधीश'	(१४) कर्मान्तिक 'आकर तथा कारखानों का अध्यक्ष'
(१५) मंत्रि परिषदाध्यक्ष	(१६) दंडपाल 'पुलिस का प्रधान'
(१७) दुर्गपाल	(१८) अन्तपाल 'सीमाओं का रक्षक'

अधिकारियों की उपर्युक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तत्कालीन राज्य के लिए जिन आवश्यक विभागों का होना आवश्यक समझा उनकी स्थापना करके उन विभागों की देख-रेख के लिए योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। उपर्युक्त पदाधिकारी अपने विभाग के उपप्रधान थे। इनके अतिरिक्त कुछ विभागों के स्वामी भी थे जिन्हें 'अध्यक्ष' कहा जाता था।

प्रान्तीय शासन

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। प्रान्तीय शासन भी अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। राजधानी के निकटवर्ती प्रान्तों का शासन तो स्वयं सम्राट् की देख-रेख में होता था किन्तु दूरस्थ प्रान्तों का शासन 'राजकुमार' अथवा राजकुलीन व्यक्तियों द्वारा होता था।

चन्द्रगुप्त के समय में प्रान्तों की संख्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त है, किन्तु उसके प्रपौत्र के शासन-काल में सम्पूर्ण साम्राज्य निम्नलिखित पाँच प्रान्तों में विभक्त था—

१. उत्तरापथ	राजधानी	तक्षशिला
२. अवन्तिरथ	"	उज्जयिनी
३. दक्षिणापथ	"	सुवर्णगिरि
४. प्राच्य	"	पाटलिपुत्र
५. कलिंग	"	तोषलि

प्रान्तीय शासकों की वार्षिक आय १२००० पण थी।

पूर्वी तथा मध्य देशों के प्रान्तों का शासन महामात्रों की सहायता से सम्राट् स्वयं करता था। चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य कूटनीति के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। अतः इसकी मंत्रणा से चन्द्रगुप्त ने गुप्तचर विभाग की ओर विशेष ध्यान दिया था। प्रान्तीय शासकों तथा नौकरशाही के अधिकरणों की गति-विधियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के अभिप्राय से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल-सा बिछा दिया था। ये गुप्तचर प्रान्तीय शासकों के कार्यों की सूचना सम्राट् को बराबर दिया करते थे। इन गुप्तचरों का राजनीति में इसलिए विशेष महत्व था कि ये प्रान्तीय शासकों तथा अन्य

अधिकारियों की मनमानी से प्रजा की रक्षा करते थे। निश्चय ही इनके अभाव में प्रान्तीय शासक प्रजा पर अनाचार कर सकते थे और इस प्रकार प्रजा से धन-सम्पत्ति ग्रहण करके वे अपनी आर्थिक स्थिति को भी अच्छी बना सकते थे। यद्यपि प्रान्तीय शासक राजकुमार अथवा राजकुलीन व्यक्ति ही थे तथापि चन्द्रगुप्त यह कदापि नहीं चाहता रहा होगा कि वे इतने सबल हो जायँ कि मलयकेतु की भाँति विद्रोह या षड्यंत्र कर सके। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस विभाग का विशद वर्णन किया गया है।

नगर-शासन

यों तो चन्द्रगुप्त का केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों शासन उच्चकोटि का था किन्तु इसका नगर-शासन अपनी मौलिकता तथा विशिष्ट के लिए भारतीय इतिहास में अपना ऊँचा स्थान रखता है। नगर-शासन (म्युनिस्पल शासन) का पूर्ण विवरण हमें मेगस्थनीज के उल्लेख से प्राप्त होता है। ध्यान रहे कि राजदूत मेगस्थनीज ने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में ही निवास किया था। अतः उसका विवरण पाटलिपुत्र की नगरपालिका का ही वर्णन समझना चाहिये। सम्भव है पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी नगर-शासन रहा हो पर उनका शासन इससे कुछ भिन्न अवश्य रहा होगा। पाटलिपुत्र बहुत बड़ा नगर था, अतः इसके लिए विशेष प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता थी। इस बड़े नगर में ही शिल्पी कलाकारों, विदेशियों, व्यापारियों आदि की भीड़ लगी रहती होगी। इसी बड़े नगर में उद्योग-धन्धे भी थे जहाँ अधिक मात्रा में उत्पादन भी होता था। यहाँ की जनसंख्या भी अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक थी। उपर्युक्त दशाओं में यह आवश्यक था कि नगर में एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था की जाय।

नीचे मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर नगर-शासन का वर्णन किया जा रहा है।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि नगर के प्रबन्ध के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की ६ समितियाँ होती थीं। इन समितियों के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित थे--

(१) **शिल्प कला समिति**--जैसा कि पहले बताया जा चुका है पाटलिपुत्र में कलाकारों की भीड़ थी। औद्योगिक कला तो काफी उन्नति कर चुकी थी। अतः औद्योगिक कलाओं के निरीक्षण के लिए शिलपकला समिति का निर्माण किया गया था। यह समिति कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों का पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी। औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा के लिए भी यह समिति उत्तरदायित्व लिये थी। पर साथ ही साथ वह उनके उत्पादन की शुद्धता पर भी कठोर दृष्टि रखती थी।

(२) **वैदेशिक समिति**--यह समिति राज्य में निवास करने वाले विदेशियों की देख-रेख के लिए बनी थी। उसका कर्त्तव्य था कि विदेशियों के आवागमन, उनके निवास-स्थान, आवश्यकता पड़ने पर औषधि आदि का प्रबन्ध करे, सांथ ही इस समिति के ऊपर उनकी सुरक्षा का भी भार था। विदेशियों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्तिम क्रिया भी यही समिति करती थी तथा उनकी धन-सम्पत्ति उचित उत्तराधिकारियों को दे देती थी।

मेगस्थनीजे के इस विवरण से यह परिलक्षित होता है कि मौर्य साम्राज्य में विशेषकर पाटलिपुत्र में विदेशियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना करनी पड़ी थी। विदेशियों की उपस्थिति तत्कालीन भारत के सामाजिक जीवन पर निश्चय ही प्रभाव डालती रही होगी और इस प्रकार इसका

विशेष सांस्कृतिक महत्व है क्योंकि चौथी शताब्दी ई० पू० के विश्व इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय लगभग सभी देशों में छठीं शताब्दी ई० पू० में उदित धार्मिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जन-साधारण में नई चेतना एवं जागरण का प्रस्फुटन हो रहा था।

(३) **जनसंख्या समिति**—यह समिति जन्म-मरण का लेखाजोखा रखती थी। इसका अभिप्राय केवल जनसंख्या की गणना करना ही न था या इसके आधार पर केवल राज-कर ही नहीं लगाना था अपितु जन्म-मरण की रजिस्ट्री के आधार पर सरकार को नागरिकों के जन्म-मृत्यु, चाहे वह उच्च कुल की हो अथवा निम्न कुल की, का पूर्ण ज्ञान कराना भी था। जनसंख्या की वृद्धि अथवा कमी का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य स्पष्ट है और इसका केवल राजकीय कर से सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही इस जनगणना की रजिस्ट्री का राजनीतिक महत्व की अपेक्षा आर्थिक महत्व अधिक रहा होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। मौर्य कालीन औद्योगिक विकास का ध्यान रखते हुए यदि हम इस विषय को समझने का प्रयास करें तो हमें जनगणना का महत्व स्पष्ट हो जायगा।

(४) **वाणिज्य व्यवसाय समिति**—इस चौथी समिति का महत्व विशेष उल्लेखनीय है। यह समिति व्यापारियों एवं वणिकों के कार्यों की देख-रेख के लिए निर्मित की गई थी। एक ओर तो यह उनकी वस्तुओं को जनता की सूचना द्वारा उचित समय पर बिकवा देने का प्रबन्ध करती थी तथा दूसरी ओर जनता के हित के लिए इस बात का ध्यान रखती थी कि व्यापारी तथा बनियों के झूठे तौल या माप से जनता ठगी न जाय। कोई भी व्यक्ति जो बिना आज्ञा के एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करता था उसे अनुपात में अधिक कर भी देना पड़ता था।

(५) **वस्तु-निरीक्षक समिति**—पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य के औद्योगिक स्थानों में से प्रमुख था। अतः वस्तुओं के उत्पादन की देख-रेख के लिए एक पृथक् समिति की आवश्यकता थी। इसी अभिप्राय से उद्योगपतियों के उत्पादन पर निरीक्षण करना इस पाँचवीं समिति का मुख्य कर्त्तव्य निश्चित किया गया था। यह समिति इस बात की देख-रेख करती थी कि औद्योगिक उत्पादन में किसी प्रकार की मिलावट करके उद्योगपति अनुचित लाभ न उठावें। नई वस्तु पुरानी में किसी प्रकार भी नहीं मिलाई जा सकती थी और उक्त समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि ये पृथक्-पृथक् बेची जायँ। नियम भंग करने वाले व्यवसायियों को जुर्माना देना पड़ा था।

(६) **कर समिति**—यह समिति बिक्री की वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। यह भी काफी महत्वपूर्ण समिति थी। जो व्यापारी कर से बचने का प्रयत्न करता था उसे प्राण-दंड दिया जाता था।

ऊंपर नगर-शासन का जो विवरण दिया गया है वह यूनानी राजदूत के वर्णन पर आधारित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर-शासन अथवा उसके इस प्रकार के विवरण का उल्लेख नहीं मिलता है। किसी-किसी स्थल पर इसका निर्देशन मात्र है। इस विषय में अर्थशास्त्र का मौन रहना यात्री के विवरण अर्थात् ६ समितियों तथा उनके कर्त्तव्यों-अधिकारों के विवरण की सत्यता में किसी प्रकार भी संदेह नहीं उत्पन्न कर सकता। अर्थशास्त्र भी सर्वथा मौन नहीं है उसमें 'नागरिक' अथवा 'नगराध्यक्ष' को नगर का शासक बतलाया गया है और उसके अधीन 'स्थनिक' तथा 'गोप' नामक पदाधिकारियों का उल्लेख किया गया है।

मेगस्थनीज ने नगर-शासन का विवरण समाप्त करते हुए यह लिखा है कि वैसे तो अपने-अपने पृथक् विभाग का निरीक्षण ये समितियाँ करती ही थीं पर साथ ही सामूहिक रूप से सामान्य हित सम्बन्धी विषयों से भी उनका सम्बन्ध था। उदाहरणार्थ सार्वजनिक इमारतों की सुरक्षा तथा उनकी मरम्मत कराना, मूल्य सम्बन्धी नियमों पर ध्यान देना, बाजार-नियंत्रण, बन्दरगाहों तथा मंदिरों की देख-रेख करना सामूहिक उत्तरदायित्व का विषय था।

जिला-शासन

नगर-शासन के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के जिला-शासन पर भी प्रकाश डाला है। वह जिला-शासन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनके ऊपर नदियों की देख-रेख, भूमि की पैमाइश तथा सिंचाई की नगरों की शाखा-प्रशाखाओं के निरीक्षण का भार था। इन भूमि तथा सिंचाई के अधिकारियों के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने कृषि, जंगल, सड़क, खान आदि के अधिकारियों का भी उल्लेख किया है।

जनपद या देहात-शासन—ग्राम शासन की निम्नतम इकाई था। इसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था। पाँच या दस ग्रामों का शासक 'गोप' कहलाता था। गोप के ऊपर 'स्थानिक' नामक अधिकारी होता था। यह जनपद के चतुर्थ भाग पर शासन करता था। पूर्वलिखित पदाधिकारी 'प्रदेष्टा' और 'समाहर्ता' की देख-रेख में काम करते थे।

सैन-संगठन

नन्द वंश का अन्त कर देने के पश्चात् चन्द्रगुप्त को मगध की एक विशाल सेना प्राप्त हुई थी। इस सेना की विशालता के सम्बन्ध में किंवदंतियाँ सुनकर ही यूनानी विजेता सिकन्दर की अजेय सेना का साहस छूट गया था और उसने आगे बढ़ने से साफ इंकार कर दिया था। मगध की इस पुरानी सेना के अतिरिक्त साम्राज्य-वृद्धि एवं देश की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने काफी संख्या में नये सैनिकों की भर्ती भी की थी।

राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के सैन्यसंगठन का भी पूर्ण विवरण देता है। उसके कथनानुसार इस सेना में ६००,००० से भी अधिक पैदल सिपाही थे। मौर्य सेना के अन्य आँकड़े इस प्रकार हैं—

३०,००० अश्व, ९००० गज तथा ८००० रथ।

इतनी विशाल सेना के प्रबन्ध एवं देख-रेख के लिए अलग सैनिक विभाग की आवश्यकता थी। इस सैनिक विभाग का संगठन ६ समितियों द्वारा हुआ था। प्रत्येक समिति के ५-५ सदस्य होते थे। इनका पूर्ण विवरण इस प्रकार है—

समिति	नं०	(१)	नौ सेना
"	नं०	(२)	पदात-सेना
"	नं०	(३)	अश्व-सेना
"	नं०	(४)	रथ-सेना
"	नं०	(५)	गज-सेना
"	नं०	(६)	सेना-यातायात तथा युद्ध सामग्री वाहिनी

मेगस्थनीज ने छठीं समिति का कार्य बतलाते हुए लिखा है कि यह समिति सेना सम्बन्धी सामग्रियों को ढोनेवाली बैलगाड़ियों के अधिकारियों को सहयोग देती थी।

न्याय-विधान

मौर्यकालीन न्याय प्राचीन भारतीय इतिहास में उच्चकोटि का है। राजा सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश होता था। मौर्यकालीन दंड की कठोरता का उल्लेख मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने किया है। जुर्माना से लेकर अंग-भंग तथा प्राणदंड तक का विवरण प्राप्त होता है। प्राणदंड बहुधा कलाकार को पंगु कर देने अथवा बिक्री की वस्तुओं पर कर न देने के अभियोग में दिया जाता था। व्यभिचारियों तथा चोरों को अंग-भंग का दंड दिया जाता था। अपराधी से अपराध स्वीकार कराने के लिए अनेक प्रकार के कष्टदायक साधनों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त का दंड-विधान आवश्यकता से अधिक कठोर था जिसे यदि अमानुषिक कहा जाय तो अनुचित न होगा।

धर्मशास्त्र के अनुसार दो प्रकार के न्यायालय थे :—
(१) धर्मस्थीय (दीवानी) तथा (२) कंटक शोधन (फौजदारी)। इन दो न्यायालयों के अतिरिक्त ग्राम पंचायतें भी अपने प्रारम्भिक रूप में चल रही थीं जो छोटे-छोटे झगड़ों का अन्त बहुधा समझौता द्वारा करा दिया करतीं थीं।

आय-व्यय का साधन

भूमि-कर ही आय का साधन था। बहुधा उपज का $\frac{1}{6}$ भाग कर-रूप में लिया जाता था किन्तु देश-काल के अनुसार यह कम-बेशी भी हुआ करता था। भूमि-कर के अतिरिक्त बन सीमाओं पर लगने वाले बिक्री कर, घाटों पर लगने वाले कर, जुर्माना, आकर (खानें) भी आय के साधन थे।

व्यय के साधन भी बहुत थे। सेना, नौकरशाही प्रजाहितकारी आदि कार्यों में काफी आय खर्च हो जाती थी। राजा तथा राज-दरबार के ऊपर भी आय का काफी भाग खर्च हो जाया करता था।

सम्राट का नगर, राजमहल तथा उसका व्यक्तिगत जीवन

पहले हम चन्द्रगुप्त के नगर पाटलिपुत्र का वर्णन करेंगे।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र गंगा तथा सेना के संगम पर स्थित है। यह भारत का सबसे बड़ा नगर है। यात्री ने नगर की लम्बाई ८० स्तदिया (९$\frac{1}{2}$ मील) तथा चौड़ाई १५ स्तदिया (१मील १२७० गज) बतलाई है। नगर की सुरक्षा के लिए ६० फुट गहरी तथा २०५ गज चौड़ी खाई नगर के चारों ओर बनी हुई थी जो सदा सोन के पानी से भरी रहती थी। खाई के अतिरिक्त लड़की की एक दीवार भी बनी हुई थी। इस प्रकार नगर की सुरक्षा के लिए हर प्रयत्न किए गए थे। नगर की चहारदीवारी में ६४ फाटक तथा ५७० मीनारें थीं।

अब हम चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन तथा उसके राजमहल पर प्रकाश डालेंगे। पहले हम उसके राजमहल को ही लेंगे। चन्द्रगुप्त ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करना पसन्द करता था। अतः अपने निवास के लिए उसने एक बहुत विशाल एवं सुन्दर महल का निर्माण कराया था। राजमहल के चारों ओर सुन्दर उद्यान बना हुआ था। उसके स्तम्भ सुनहले थे। तत्कालीन भवन निर्माण कला की प्रचलित प्रणालियाँ तथा कुछ मौलिक शैलियों के सम्मिश्रण से बना हुआ यह राजमहल पूर्णतः काष्ठ का था। तत्कालीन भारतीय भवनों में इस राजमहल का स्थान बहुत ऊँचा था। इस राजमहल

के सौन्दर्य के समक्ष सूसा तथा इकबताना के ईरानी राज-प्रासादों की सुन्दरता भी फीकी पड़ जाती थीं।

चन्द्रगुप्त के चारों ओर शरीर-रक्षिकाओं की भीड़ लगी रहती थी। इतिहासकार स्ट्रैबो के कथानुसार ये नारियाँ एक प्रकार की गुलाम होती थीं जिन्हें उनके माता-पिता से खरीद लिया जाता था। चन्द्रगुप्त जब मृगया के लिए जाता था तब भी वह नारियाँ द्वारा रक्षित रहता था। मृगया के समय भी उसके पास दो या तीन शस्त्रयुक्त नारियाँ रहती थीं। राजा की रक्षा के लिए यवनियों की नियुक्ति की प्रथा भारत में मौर्यकाल के बहुत बाद तक चलती रही। इतना ही नहीं सम्राट की सुरक्षा के लिए अन्य उपाय भी किए गए थे। जिस समय सम्राट मृगया के लिए राज-प्रासाद से बाहर निकलता था उस समय उसका मार्ग रस्सियों से घिरा रहता था। जो व्यक्ति रस्सियों के लाँघने का प्रयास करता था उसे प्राण-दंड दिया जाता था। राजा केवल चार अवसरों पर राज प्रासाद से बाहर निकलता था––

(१) युद्ध, (२) यज्ञानुष्ठान, (३) न्याय-विधान तथा (४) आखेट, धार्मिक या अन्य सार्वजानिक उत्सव के अवसरों पर सम्राट सुनहली पालकी पर निकलता था। धार्मिक उत्सव के अवसरों पर शाही जलूस की चमक-दमक अद्वितीय होती थी। अनेक सोने-चाँदी से सुज्जित हाथी, रथ, चोबदार, वनपशु पालतू सिंहों एवं पक्षियों से यह जलूस भरा रहता था। चन्द्रगुप्त का अधिक समय राज-काज में व्यतीत होता था पर उसे खेल-कूद आदि से काफी शौक था। भेड़ों, साँड़ों, हाथियों, गैंड़ों आदि की लड़ाई देखने में उसे विशेष आनन्द आता था। रथ-दौड़ तथा घुड़दौड़ भी इसके मनोरंजन के साधन थे।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि सम्राट जहाँ एक ओर कुशल शासक, कठोर सैनिक तथा योग्य दर्बारी का जीवन व्यतीत करता था वहाँ दूसरी ओर विलासमय जीवन भी व्यतीत करता था।

चन्द्रगुप्त का भारतीय इतिहास में महत्व––इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य का अपना अलग स्थान है और उसका अपना महत्व भी है। चन्द्रगुप्त की इस महानता के मूल में उसके कुछ विशेष उल्लेखनीय गुण हैं। वह एक महान विजेता, उच्चकोटि का शासनकर्त्ता, राजनीतिज्ञ, प्रतिभाशाली व्यक्ति के साथ-साथ एक महान देशरक्षक था।

जो लोग नेपोलियन की तुलना समुद्रगुप्त से करते हैं वे यदि उसकी तुलना चन्द्रगुप्त मौर्य से करें तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि नेपोलियन की भाँति चन्द्रगुप्त मौर्य भी एक साधारण पद से अपनी भुजाओं के बल पर राज-पद पर पहुँच सका था।

भारतीय इतिहास में यह प्रथम सम्राट था जिसने समस्त उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण भारत के एक बहुत बड़े भाग पर सफलतापूर्वक राज्य किया। चन्द्रगुप्त की महत्ता का सबके बड़ा कारण तो यह है कि उसने देश को विदेशियों के चंगुल से छुड़ा कर उसे स्वतंत्र बनाया। यूनानियों को देश से निकाल कर छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर तथा राजनीतिक एकता स्थापित करके चन्द्रगुप्त ने देश को शक्तिशाली बना दिया था।

सुन्दर शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था करके चन्द्रगुप्त ने देश में शान्ति स्थापित कर दी जिससे आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक एवं कला के क्षेत्रों में आशातीत उन्नति हुई। इसके दंड-विधान की कठोरता की निन्दा कुछ इतिहासकारों ने अवश्य की है किन्तु इसकी कठोरता को ही प्रजा की शान्ति का कारण कहा जा सकता है। यह चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध की ही सुन्दरता का फल था कि अशोक जैसे साधु प्रकृति का सम्राट भी उस घोर साम्राज्यवादी यग में शान्तिपूर्वक राज्य कर सका।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इतिहासकार बिन्दुसार को अनेक नामों से पुकारते हैं। ये सभी नाम संस्कृत के 'अभिघात' (रिपुघातक) के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। जैन ग्रंथ राजबलि कथा में बिन्दुसार को सिंह सेन कहा गया है। सभी विदेशी लेखकों तथा भारतीय ग्रन्थों ने चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र का जो नामकरण किया है उनमें पुराणों द्वारा दिया गया नाम ही ग्रहण किया गया है और उसके आधार पर ही हम उसे बिंदुसार कहते हैं। बिन्दुसार के शासन का पूर्ण विवरण नहीं प्राप्त होता।

विद्रोह—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि मौर्य साम्राज्य में अभी विद्रोहियों की संख्या काफी थी। गुप्त रूप से षड़यन्त्र रचनेवालों की संख्या तो और भी अधिक थी। दिव्यावदान के कथानुसार हमें बिन्दुसार के शासन-काल में होने वाले उपद्रवों का ज्ञान प्राप्त होता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त की अदम्य शक्ति के सम्मुख इन विद्रोहियों को झुक जाना पड़ा था और इन्होंने कभी सर उठाने का साहस नहीं किया, किन्तु नये राजा को दुर्बल समझ कर विद्रोहियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु हम इस साधारण साक्ष्य को अक्षरशः सत्य नहीं मान सकते क्योंकि दिव्यावदान तक्षशिला में होने वाले विद्रोह का वर्णन करता है। उसके दमनार्थ जिस समय बिंदुसार ने अपने पुत्र अशोक को भेजा तो वह तक्षशिला पहुँच कर मार्ग में ही जनता से मिला, जिसने निम्नलिखित बयान दिया—

'न तो हम लोग राजकुमार के विरुद्ध हैं और न सम्राट के ही, अपितु उन निर्दयी मंत्रियों के विरोधी हैं जो हमारा अपमान करते हैं।'

ब्राह्य नीति—बिन्दुसार का पालन-पोषण उस राजप्रासाद में हुआ था जिसमें न केवल एक यूनानी रानी थी अपितु यूनानी युवतियों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। सम्भवतः उन विदेशियों के प्रति बिन्दुसार का कुछ आर्कषण रहा होगा। उसने अपने पिता चन्द्रगुप्त तथा यूनानियों के सम्बन्ध को भी देखा था। बिन्दुसार ने यह भी देखा था कि विदेशियों की देख-रेख के लिए चन्द्रगुप्त ने एक पृथक विभाग का निर्माण किया था। यह थी उसकी ब्राह्य नीति को प्रभावित करने वाली पृष्ठभूमि। दुर्भाग्यवश हमें बिन्दुसार के विभिन्न वैदेशिक सम्बन्धों का विवरण न प्राप्त होकर केवल यूनानियों से उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। यूनानी इतिहासकारों ने अन्ति ओक प्रथम सोतर तथा बिन्दुसार के पत्रव्यवहार का एक नमूना सुरक्षित रखा है। उससे ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट बिन्दुसार ने सीरिया के सम्राट अन्तिओक से मधुर मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक की माँग की थी। उसके यूनानी मित्र ने बिन्दुसार की प्रथम दो माँगों की पूर्ति करते हुए जो उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

"मुझे इन्हें भेजने से तो बड़ी प्रसन्नता होती है, परन्तु अभाग्यवश आपकी तीसरी इच्छा पूरी कर सकूँगा; क्योंकि देश का कानून दार्शनिक भेजने के विरुद्ध है।"

मेगस्थनीज के पश्चात् डेमाकस नाम का एक दूसरा राजदूत सीरिया सम्राट द्वारा बिन्दुसार के दर्बार में भेजा गया था। लिपनी के कथनानुसार इजिप्ट के राजा टालमी द्वितीय फिलडिल्पफस (२८५-२४७ ई० पू०) ने भी डायोनीयस नामक राजदूत भारतीय राज-दर्बार में भेजा था पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि डायोनसिस बिंदुसार अथवा अशोक में से किसके राज-दर्बार में आया था।

बिन्दुसार का परिवार—केवल अशोक ही बिन्दुसार का अकेला पुत्र न था क्योंकि अशोक ने पाँचवें शिलालेख में यह बतलाया है कि उसके कई भाई और बहनें थीं। दिव्यावदान में अशोक के दो भाइयों का नाम सुसीम तथा विगताशोक बतलाया गया है।

प्रश्न

१. चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में आप क्या जानते हैं? उसके प्रारम्भिक जीवन पर विशेष रूप से प्रकाश डालिए।

२. चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए उसकी सैनिक सफलताओं का उल्लेख कीजिए।

३. चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश डालिए। मेगस्थनीज के विवरण की प्रधानता देते हुए उसके नगर-शासन पर सविस्तार प्रकाश डालें।

४. चन्द्रगुप्त मौर्य का भारतीय इतिहास में महत्व बताइए।

५. बिन्दुसार की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

6. Sketch briefly the rise of Chandra Gupta Maurya to power and give a brief account of the Central administrative machinery during his reign. (1958.)

7. Give a brief account of the civil and military administration of Chandra Gupta Maurya. What are our chief sources of information for this? (1957, 1953, 1950.)

अध्याय १३

अशोक

बिन्दुसार के पश्चात् पाटिलपुत्र के सिंहासन पर उस महान सम्राट का पदार्पण हुआ जो भारतीय ही नहीं वरन् विश्व-इतिहास में अपने वैयक्तिक चरित्र तथा आदर्श के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इस महान् सम्राट को इतिहास में अशोक महान् कहा जाता है। अशोक ने जिस साम्राज्य पर शासन किया वह भारत का सबसे बड़ा साम्राज्य था। विश्व में विशालता के दृष्टिकोण से अनेक साम्राज्य तथा उनके शासक प्राप्त हो सकते हैं किन्तु विस्तृत साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ, सम्राट होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ मानव होना कठिन ही नहीं असम्भव है। श्रेष्ठ सम्राट, कुशल शासक तथा आदर्श मानव एक साथ एक व्यक्ति ही हो यह और कुछ नहीं प्रकृति का आश्चर्य है। इस परिच्छेद में हम उसी महान् विभूति अशोक के विषय में पढ़ेंगे।

अशोक का राज्याभिषेक––चन्द्रगुप्त ३२४ ई० पू० में गद्दी पर बैठा और ३०० ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई। तदुपरान्त बिन्दुसार सिंहासनारूढ़ होता है जिसने पुराणों के अनुसार २५ वर्ष तक राज्य किया। इस साधन से तो बिन्दुसार की निधन-तिथि २७५ ई० पू० मानी जा सकती है। ये सारे विवरण पुराणों के आधार पर दिये गये हैं जिनके अनुसार अशोक के राज्याभिषेक की तिथि २७५ ई० पू० होनी चाहिए, किन्तु बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार बिन्दुसार ने २७-२८ वर्ष तक राज्य किया। यदि हम इस साक्ष्य को सत्य माने तो बिन्दुसार की निधन-तिथि २७२-७३ ई० पू० सिद्ध होती है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष पश्चात् अर्थात् २६८-६९ ई० पू० में हुआ।

राज्याभिषेक का यह चार वर्ष का अन्तर––यदि वास्तव में कोई अन्तर रहा भी हो, इतिहासकारों के समक्ष एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित कर देता है जो सीधे अशोक के चरित्र से सम्बन्धित है। इस चार वर्ष के अन्तर का कारण भी सिंहली अनुश्रुतियों से आभासित हो जाता है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक अत्यन्त निर्दयी तथा रक्त-पिपासु था जिसने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ९९ भाइयों की हत्या करके गद्दी प्राप्त की थी। डा० स्मिथ इतना तो स्वीकार करते हैं कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा और इसीलिए राज्याभिषेक में देर हुई, किन्तु ये ९९ भाइयों की हत्या करना स्वीकार नहीं करते। केवल सौतेले बड़े भाई सुसीम से संघर्ष होना वे स्वीकार करते हैं। डा० भंडारकर भी सिंहली अनुश्रुतियों का खंडन करते हुए स्मिथ महोदय का समर्थन करते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों से यह भी ज्ञात होता है कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा था और उसने राधगुप्त की सहायता से अपने सौतेले भाई सुसीम के समक्ष विजय पाई थी।

सम्राट अशोक की कलिंग-विजय––महानदी तथा गोदावरी के बीच स्थित कलिंग राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजयी सेना से अछूता रह गया था और इस प्रकार वह अब भी स्वतंत्र था। अशोक के तेरहवें शिलालेख से हमें कलिंग-विजय का विवरण प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार डेढ़ लाख बन्दी बना लिए गए, एक लाख

व्यक्ति मारे गये और उनसे कई गुना उन रोगों और सामरिक परिस्थितियों से मृत्यु के शिकार हुए जो सामान्यतः युद्ध के पश्चात् उपस्थित होती हैं। युद्ध की भंयकरता तथा मृत्यु की संख्या से कलिंग राज्य के सैनिकों तथा वहाँ की जनता के त्याग एवं बलिदान का निर्देशन होता है किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा सुसंगठित सेना के सम्मुख कलिंग राज्य के सैनिकों को झुक जाना पड़ा और अशोक की विजय हुई। इस पर रक्तरंजित विजय ने अशोक के जीवन में एक ऐसा परिवर्तन ला दिया जिससे सम्राट अशोक संत अशोक हो गया।

धर्म-परायण अशोक––कलिंग युद्ध के नरसंहार के दानवी दृश्य ने अशोक के हृदय पर जो कुठाराघात किया उससे उसकी पैतृक सामरिक प्रवृति का अंत हो गया और उसके स्थान पर मानवोचित धर्म एवं नैतिकता का सहसा प्रस्फुटन हुआ। फलस्वरूप अशोक की नीति में पूर्णरूपेण परिवर्तन हो गया। अशोक ने यह घोषणा कर दी कि अब वह रणघोष के स्थान पर धम्मघोष करेगा। उसका यह निश्चय उसके तेरहवें शिला-लेख से ज्ञात होता है।

इस विशेष प्रतिभा सम्पन्न पूर्ण मानव अशोक को किसी सम्प्रदाय विशेष की संकीर्ण सीमा में बाँधना उसकी महानता पर पर्दा डालना है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी हो सकता है––उसी प्रकार जैसे महात्मा गौतम बुद्ध आर्य (हिन्दू) थे किन्तु अशोक का हृदय एवं मस्तिष्क सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न जीवधारियों का शुभेच्छु था।

अशोक के धर्म के विषय में साधारणतया यह कह दिया जाता है कि वह बौद्ध-मतावलम्बी था। कलिंग-विजय के पश्चात् निश्चय ही अशोक ने बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया था किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। अशोक वास्तव में एक ऐसे धर्म का अनुयायी था, यदि संस्थापक न कहा जाय जिसमें विश्व के समस्त धर्मों के मूल तत्वों का समावेश है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं हो सकता जिसकी मूल प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे धर्म से न मिलती हों। अतः यहाँ केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि अशोक एक ऐसे धर्म का मानने वाला था जो समस्त धर्मों का निचोड़ था और इस धर्म की संज्ञा और कुछ नहीं, केवल 'मानव-धर्म' या 'अशोक का धर्म' ही हो सकती है। अशोक के धर्म की कुछ विशेषताओं का उल्लेख आगे किया जायगा।

धार्मिक उपदेश के विषय––अशोक का धर्म सम्मानित नैतिक सिद्धान्तों तथा आचरणों का संग्रह है। अशोक के धर्म के उपदेश में कुछ विषय ऐसे थे जिनके आन्तरिक गुण निम्नलिखित हैं:––

(१) साधुता या बहुकल्याण, (२) दया, (३) दान, (४) सत्य, (५) शौच तथा (६) मार्दव (माधुर्य)।

उपरोक्त आन्तरिक गुणों को प्राप्त करने के लिए अशोक ने वाह्य उपकरणों का संकेत किया। इनके अभ्यास से ही मनुष्य आन्तरिक गुणों को प्राप्त कर सकता है। ये निम्नलिखित हैं:––

(१) पशु-बध का त्याग, (२) अहिंसा, (३) माता-पिता की सेवा, (४) बड़े-बूढ़ों की सुश्रूषा, (५) गुरुओं के प्रति आदर, (६) मित्र, परिचित जाति-भाई, ब्राह्मण श्रमणों का आदर, (७) सेवकों के साथ सद्व्यवहार, (८) थोड़ा व्यय तथा थोड़ा संग्रह। पाप से दूर रहने के लिए या किसी सीमा तक इससे बचने के लिए अशोक ने निम्नलिखित निषेधात्मक धर्म का भी उपदेश दिया––

(१) चण्डता, (२) निष्ठुरता, (३) क्रोध, (४) अभिमान तथा (५) ईर्ष्या।

अशोक के धर्म की विशेषता

अशोक के इस धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :—

(१) **सार्वभौमिकता**—अशोक का धर्म किसी जाति या वर्ग विशेष का धर्म न था। यह मानव-जाति का धर्म था। साम्प्रदायिकता को इसमें कोई स्थान न था। इसकी यह सार्वभौमिकता ही इसे प्रधान बनाती है।

(२) **आडम्बरहीनता**—अशोक स्वयं आडम्बरहीन व्यक्ति था, अतः उसके धर्म में भी आडम्बरों तथा धार्मिक बिडम्बनाओं का कहीं नाम न था।

(३) **प्रायोगिकता**—कोई दर्शन पर आधारित न रह कर अशोक का यह धर्म पूर्णरूपेण प्रायोगिक था। इसमें आचरण से सम्बन्धी नियमों पर विशेष जोर दिया गया था। दर्शन केवल मानसिक विकास के लिए उपयोगी हो सकता है पर धर्म के सच्चे उद्देश्य की पूर्ति के लिए तो शुद्धाचरण पर ही जोर देना अनिवार्य है जिस पर काफी जोर अशोक के धर्म में दिया गया है। उसके नियम ऐसे भी न थे कि सर्वसाधारण के लिए कठिन हो जाँय। शुद्ध नैतिकता पर जोर देना ही अशोक का मुख्य उद्देश्य था।

(४) **उदारता**—उदारता इस धर्म की सर्वश्रेष्ठ विशेषता थी। इतनी उदारता विश्व के किसी धर्म में नहीं पाई जाती। कोई व्यक्ति बौद्ध, जैनी, हिन्दू तथा मुसलमान साथ-साथ नहीं हो सकता किन्तु अशोक के धर्म में इतनी उदारता थी कि सभी धर्मों तथा सम्प्रदायों के अनुयायी अपना-अपना विश्वास रखते हुए इस धर्म को स्वीकार कर सकते थें।

धर्म-प्रचार

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अनेक साधनों का प्रयोग किया। यद्यपि कुछ इतिहासकारों का मत है कि अशोक ने केवल बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ ही इन साधनों का प्रयोग नहीं किया है अपितु स्वयं उसे अपने धर्म के प्रचार के लिए चिन्ता थी। हो सकता है कि मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उसने धर्म-प्रचार की ओर कदम बढ़ाया। अशोक अपने प्रयास में बहुत सफल हुआ। धर्म-प्रचार के निम्नलिखित साधन विशेष उल्लेखनीय हैं :—

१. **अशोक का व्यक्तित्व**—जिस प्रकार महात्मा गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व ने उन्हें धर्म-प्रचार में योग दिया ठीक उसी प्रकार (सम्राट होने के सम्भवतः कुछ अधिक) अशोक कें व्यक्तित्व ने उसे इस कार्य में विशेष सफलता प्रदान की। अन्य असंख्य गुणों के साथ किसी सम्राट का एक भिक्षु का जीवन बिताना प्रजा को उसके अनुकरण के लिए प्रेरित करने के लिए पर्याप्त है।

२. **बौद्ध धर्म को राजधर्म घोषित करना**—धार्मिक सहिष्णुता को बनाये रखते हुए भी अशोक ने बहुत ही सुन्दर ढंग से बौद्ध धर्म को राज धर्म बना दिया। अशोक के उत्तराधिकारियों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। राजधर्म हो जाने के वाद साधारण जनता की रुचि भी बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हो गई।

३. **मठों का निर्माण तथा यथोचित सहायता**—बौद्ध धर्म के प्रचार में जिन साधनों ने विशेष योग दिया उनमें बौद्ध मठों के निर्माण का विशेष हाथ है। देश के विभिन्न भागों में बौद्ध मठ तथा विहार बन जाने से अधिक संख्या में भिक्षु तथा भिक्षुणियों के रहने का प्रबन्ध हो गया जो धर्मोपदेश में निरतर 'संलग्न रहते थे।

४. **धर्म-विभाग की स्थापना**—अशोक ने अपने शासन-प्रबन्ध में धर्म को ऊँचा स्थान देकर बौद्ध धर्म को विशेष प्रश्रय दिया। धर्म महामात्य नामक पदाधिकारी की नियुक्ति करके अशोक ने सर्वसाधारण के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया। इससे लोगों की रुचि धर्म की ओर बढ़ती गई।

५. **धर्म-यात्रा**—अशोक ने आखेट तथा युद्ध यात्रा स्थगित कर देने के पश्चात् धर्म-यात्रा की व्यवस्था की। लुम्बिनीवन, कपिलवस्तु, कुशीनगर, सारनाथ आदि स्थानों में भ्रमण करके अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

६. **धर्म-श्रवण की व्यवस्था**—धर्म-प्रचार के लिए अशोक ने धर्म-श्रवण की व्यवस्था की। राजुक, प्रादेशिक, व्यूष्ट, मुक्त आदि बड़े-बड़े राज-कर्मचारियों को भी इस कार्य में सहायता देनी पड़ती थी।

७. **अहिंसा-व्रत का पालन**—अशोक ने अपने अभिलेखों में केवल इस बात का आदेश ही नहीं दिया कि पशुओं का वध न किया जाय अपितु स्वयं इसका उदाहरण उपस्थित किया। विभिन्न हिंसक समाज,आखेट तथा राजकीय रसोईघर में मांसाहारी भोजन को बन्द कराकर अशोक ने अहिंसा का उच्चादर्श जनता के सामने प्रस्तुत किया जिससे बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ।

८. **महादान**—सम्पूर्ण साम्राज्य में अशोक ने रोगियों, अवलाओं, दीन दुखियों तथा असहायों का उचित प्रबन्ध कर दिया था। उसके इस दान का जनता पर बहुत ही क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। दुर्बलों की सहायता की प्रवृत्ति सर्वसाधारण में उत्पन्न हुई।

९. **धर्म-अभिलेख**—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने धार्मिक उपदेशों को चट्टानों तथा गुफाओं एवं प्रस्तर-स्तम्भों पर उत्कीर्ण करा के साम्राज्य के चारों ओर प्रसारित किया।

१०. **धर्म-प्रचारकों की नियुक्ति**—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्षु-भिक्षुणियों को नियुक्त किया। चीन, जापान, सिंगलद्वीप आदि देशों में भी अशोक के धर्म-प्रचारक गए और उन्होंने धर्म-प्रचार किया। अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा ने भी पिता द्वारा प्रेरित होकर उसकी धर्म-विजय में योग दिया।

११. **लोकहित कार्य**—अशोक ने सर्वसाधारण के हित लिए असंख्य साधन एकत्रित किए जिनसे जनता में अशोक तथा अशोक के धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो गई। जनता यह जानती थी कि धार्मिक प्रेरणा के फलस्वरूप ही अशोक यह सब कर रहा है।

१२. **निरीक्षकों की नियुक्ति**—अभिलेखों पर अंकित आदेशों का अनुकरण जनता सुचारुरूप से करती है या नहीं इस निरीक्षण के लिए अशोक ने पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। जनता पर इस उचित अनुशासन ने काफी प्रभाव डाला।

१३. **बौद्ध संगीति**—अशोक ने बौद्ध धर्म के संगठन तथा प्रचार के लिए तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया। बौद्ध संघ के दोषों को दूर करने का सतत् प्रयास इस बैठक में किया गया। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में आने वाली शिथिलता का अन्त हो गया।

१४. **पाली भाषा में धार्मिक ग्रंथों का लिखवाना**—जनभाषा पाली में बौद्ध ग्रन्थों की रचना की व्यवस्था करके अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में विशेष योग दिया।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सतत् प्रयास किया।

अशोक के साम्राज्य का विस्तार

अशोक के साम्राज्य-विस्तार का बोध हमें उसके अभिलेखों द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाता है। अतः हम अशोक के साम्राज्य-विस्तार को उसके अभिलेखों

के आधार पर निर्धारित करेंगे। पहले हम यह देखेंगे कि दक्षिण-पश्चिम में उसका राज्य-विस्तार कहाँ तक था, क्योंकि दक्षिण-पश्चिम सीमा ही सैनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण थी। अशोक के चतुर्दश शिलालेख की एक प्रति कर्नाल जिला में इरागुड़ी नामक स्थान में प्राप्त हुई थी। धौली (पुरी) नौगढ़ (गंजाम) नामक स्थानों में चतुर्दश शिलालेख की दो प्रतियाँ मिली हैं। इसी प्रकार चित्तलदुर्ग (मैसूर राज्य) में भी लघु शिला लेखों की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं जिन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर-मैसूर अशोक के साम्राज्य की दक्षिण सीमा के भीतर था।

कालसी (देहरादून), रुमिनदेई निग्लीव (नैपाल की तराई) में अशोक के जो अभिलेख प्राप्त हुये हैं उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि हिमालय पहाड़ तक अशोक का साम्राज्य फैला हुआ था।

लुम्बिनी, सहबासगढ़ी तथा मनसेहरा के अभिलेखों से भी टेहरीगढ़वाल, पंजाब तथा सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्तों को अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत किया जा सकता है। उक्त अभिलेख के प्रमाण का समर्थन ह्वेनसाँग के वृत्तांत से हो जाता है। गिरनार (जूनागढ़ के निकट) तथा सोपारा (थाना जिला) में भी चतुर्दश शिलालेख की अन्य दो प्रतियाँ मिली हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि सौराष्ट्र तथा दक्षिणी पश्चिमी भारत पर अशोक का आधिपत्य स्थापित था। रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले शिलालेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र पर तुषास्य नामक अशोक का प्रान्तीय शासक शासन करता था। काश्मीर पर अशोक का आधिपत्य होने का वृत्तान्त कल्हण के राजतंरगिनी से प्राप्त होता है: ह्वेनसाँग भी इसका समर्थन करता है। इसी प्रकार ललितपाटन तथा रामपुरवाले स्मारकों से चम्पारन जिला तथा नैपाल की घाटी पर अशोक का अधिकतर ज्ञात होता है। बंगाल पर भी अशोक का अधिकार था। इसका बोध हमें दिव्यावदान तथा हेनसाँग के वृत्तान्त से होता है। अशोक के द्वितीय एवं त्रयोदश शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि चण्ड्य, पांडय, केरलपुत्र, सतियपुत्र उसकी सत्ता के अधीन नहीं रहे।

अशोक के अभिलेख

विश्व-इतिहास में अशोक के उच्च स्थान प्राप्त करने के प्रमुख कारणों में उसके अभिलेख भी हैं। अभिलेखों के विषय अशोक की महानता का निर्देशन मात्र ही नहीं करते अपितु ये मौर्य कालीन भारतीय इतिहास पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हैं। अत: अशोक का अध्ययन करते समय हमें उसके अभिलेखों का अध्ययन करना आवश्यक है।

नीचे हम अशोक के अभिलेखों के महत्व पर प्रकाश डालेंगे। निम्नलिखित दृष्टिकोणों से अशोक के अभिलेखों का काफी महत्व है:—

साम्राज्य-सीमा का निर्धारण—अशोक के साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते समय हमने देखा था कि इस विषय में हमें पूर्णतया उसके अभिलेखों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। अभिलेखों के प्राप्ति स्थान के आधार पर हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि सुदूर दक्षिण के पांडय, चोल, सतियपुत्र, केरल पुत्र आदि को छोड़कर सम्पूर्ण भारत अशोक के अधीन था।

अशोक के धर्म का निर्धारण—यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी था, इस मत के समर्थक इन्हीं अभिलेखों का सहारा लेते हैं। अशोक के व्यक्तिगत धर्म का बोध भी हमें इन्हीं अभिलेखों से होता है।

अशोक के चरित्र का निरूपण—इन अभिलेखों में अशोक का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। दान, सेवा, आदि नैतिक आदर्शों के पोषक के रूप में अशोक हमारे सम्मुख इन्हीं अभिलेखों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कलिंग-विजय के पश्चात् अशोक ने अपने अभिलेखों में उस हृदय द्रावक घटना तथा युद्ध न करने के निश्चय का प्रकाशन किया जिससे उसके दृढ़ निश्चय तथा कोमल हृदय का बोध होता है। अभिलेखों से ही हमें उसके महादानी होने का ज्ञान प्राप्त होता है।

अशोक का वैदेशिक सम्बन्ध—अशोक के अभिलेख हमें इस बात का ज्ञान कराते हैं कि अशोक ने सीरिया, एपरिस, मिश्र, सीरीन आदि देशों में अपने राजदूत भेजकर इन राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। इन अभिलेखों से हमें अशोक की विदेशी नीति का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

अशोक कालीन शासन-व्यवस्था का अनुशीलन—यद्यपि अशोक के अभिलेखों का उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक (नैतिक) था, तथापि उनसे तत्कालीन शासन-सम्बन्धी राज्यज्ञाओं का बोध होता है जिन्हें अशोक ने समय-समय पर प्रकाशित की थीं। अशोक ने प्रजा के हित के लिए जो कुछ किया उसका भी बोध हमें अभिलेखों से होता है।

अब हम अशोक के अभिलेखों पर पृथक-पृथक प्रकाश डालेंगे। मोटे तौर पर अशोक के अभिलेखों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(अ) शिलालेख,
(ब) स्तम्भलेख, तथा
(स) गुहालेख।

(अ) चतुदर्श शिलालेख—इनकी संख्या १४ है। अतः इन्हें चतुर्दश शिलालेख की संज्ञा दी गई है; यह १४ शिलालेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुये हैं—

(१) सहवासगढ़ी (पेशावर जिला), (२) मनसेहरा (हजारा जिला), (३) कालसी (देहरादून जिला), (४) गिर्नार (जूनागढ़ के निकट), (५) धौली (पुरी जिला), (६) जौगढ़ (गंजाम जिला), इरागुड़ी (कर्नाल जिला), (८) सोपारा (थाना जिला)।

कलिंग के लेख—एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश शिलालेखों के बजाय लिखे हुये धौली जौगढ़ के दो पृथक कलिंग अभिलेख हैं।

दो लघु शिला लेख—इनमें से प्रथम लघु शिलालेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुआ है—

(१) रूपनाथ (जबलपुर जिला,) सहसराम (आरा जिला), (३) बैराट (जयपुर के निकट), (४) मसकी (रायचू जिला), (५) सिद्धपुर, (६) ब्रह्मगिर, (७) जतिंग। ये तीनों स्थान मैसूर राज्य के चीतल द्रुग जिले में हैं। द्वितीय लघु शिलालेख (१) सिद्धपुर, (२) जतिंग तथा ब्रह्मगिरि में पाया गया है।

(ब) स्तम्भ-लेख—स्तम्भ-लेख के अन्तर्गत सप्त स्तम्भ-लेख तथा लघु-स्तम्भ लेख सम्मिलित किये जाते हैं। सप्त स्तम्भ -लेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुये हैं :—

(१) टोपरा—दिल्ली	(२) मेरठ—दिल्ली
(३) कौशाम्बी—इलाहाबाद	(४) राम पुरवा
(५) लौरिया—नन्दगढ़	(६) लौरिया—अरराज।

लघु स्तम्भ-लेख—ये लघु स्तम्भलेख साँची, कौशाम्बी (इलाहाबाद), सारनाथ (बनारस), रुम्मिनदेई तथा निगलिव आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं।

(स) गुहा-लेख—गुहा-लेख में 'बराबर' दरीगृह के तीन अभिलेख सम्मिलित हैं। गया से लगभग १९ मील उत्तर की ओर बराबर नामक पहाड़ी स्थित है। इसी पहाड़ी की चार गुहाओं की तीन दीवारों पर यह अभिलेख अंकित हैं।

अभिलेखों की भाषा एवं लिपि—मानसेहरा तथा साहवासगढ़ी के लेखों के अतिरिक्त शेष सभी अभिलेखों की भाषा प्राकृत तथा लिपि है ब्राह्मी-ब्राह्मी लिपि को वर्तमान नागरी लिपि का मूल कहा जाता है जो बाँई से दाहिनी ओर को लिखी जाती है। मानसेहरा तथा साबासगढ़ी के अभिलेखों की लिपि खरोष्ठी है। यह उर्दू की भाँति दाहिनी ओर से बाई ओर को लिखी जाती है।

अशोक का शासन-प्रबन्ध

अशोक को उत्तराधिकार के रूप में केवल एक विस्तृत साम्राज्य ही नहीं प्राप्त हुआ था अपितु सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था भी जो कुशल शासक चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा प्रतिपादित की गई थी, प्राप्त हुई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन एवं परिवर्धन करके ही अशोक ने शासन-प्रबन्ध किया। अशोक के शासन-प्रबन्ध का आधार चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-व्यवस्था है। अशोक को अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-प्रबन्ध में जो कुछ भी थोड़ा बहुत परिवर्तन-परिवर्द्धन करना पड़ा उसका मूल कारण उसकी नैतिकता एवं धार्मिकता है। अशोक के शासन-प्रबन्ध का अध्ययन करने के पूर्व हमें उसके राजत्व सिद्धान्त पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अशोक का राजत्व सिद्धान्त—अशोक एक आदर्श मानव था। उसकी नैतिकता उसके जीवन की अनुशासिका थी। कलिंग-विजय के पूर्व का अशोक साम्राज्यवादी था; किन्तु रक्तप्लावित घटना के पश्चात् का अशोक पहले मानव और तब सम्राट था—सम्राट् भी इस अर्थ में कि वह कम से कम अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रजा को अपना पुत्र समझ सके, उसका रक्षक बन सके।

अशोक अपने चौथे स्तम्भलेख में प्रजा के प्रति गद्‌गद् हो फूट पड़ने वाले अपने हार्दिक उद्‌गारों को इस प्रकार प्रकट करता है—"जिस प्रकार मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण धाय को सौंपकर निश्चित हो जाता है और सोचता है कि वह धाय मेरे बालक को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के अभिप्राय से रज्जुक (राजुक) नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" इससे अधिक स्पष्ट और कोई प्रमाण अशोक की प्रजाप्रियता का नाम नहीं हो सकता।

इस पृष्ठिभूमि में हम अशोक के शासन-प्रबन्ध को भली-भाँति समझ सकते हैं।

स्वायत शासन—अशोक के तेरहवें शिलालेख के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि अशोक के अधीन कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो अप्रत्यक्ष रूप में तो अशोक की अधीनता स्वीकार करते थे किन्तु उन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त था, जैसे यवन, कम्बोज, नामक, नाभपत्ति, आन्ध्रभोज तथा पारिन्द आदि। विद्वानों ने उक्त प्रदेशों में से कुछ की स्थिति का अनुमान इस प्रकार लगाया है—यवन तथा कम्बोज राज। सम्भवतः उत्तरी-पश्चिमी समुद्रतट अथवा बरार में और सम्भवतः कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के तटीय प्रदेश थे।

मंत्रि-परिषद––चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध के विषय में लिखते हुए यह कहा गया था कि उसके शासन-प्रबन्ध में भी मंत्रिपरिषद का बहुत बड़ा महत्व था। अशोक ने भी मंत्रि-परिषद को स्थापित रखा। वह भी राज-काज में मंत्रियों की राय को मान्यता प्रदान करता था। उसके छठें शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद को इस बात की काफी स्वतंत्रता थी कि सम्राट से किसी गूढ़ विषय पर वाद-विवाद कर सके तथा अपना मत सम्राट को उसकी इच्छाओं के विरुद्ध दे सके। उक्त लेख में उसने इस प्रकार घोषणा की है, "यदि परिषद में (महामात्रों के) कोई दान-सम्बन्धी अथवा मेरे द्वारा की गई किसी मौखिक घोषणा के सम्बन्ध में अथवा महामात्रों के सुपुर्द कर दिये गये किसी आवश्यक कार्य के विषय में विवाद या सुधार का प्रस्ताव उपस्थित किया जाय तो उसकी सूचना मुझे उसी क्षण मिलनी चाहिये चाहे मैं कहीं भी रहूँ और कोई भी समय हो।"

प्रान्तीय शासन––शासन के दृष्टिकोण से, जैसा कि अभिलेखों से ज्ञात होता है सम्पूर्ण साम्राज्य चार केन्द्रों में विभाजित था। ये निम्नलिखित थे:

(१) तक्षशिला, (२) उज्जैनी, (३) तोषली तथा (४) सुवर्णगिरी।

राजा का सहायक 'उपराज' होता था। यह राजकुलीन व्यक्ति होता था। अशोक का भाई तिष्य उसका उपराज था। 'युवराज' भी राजकाज में सम्राट की सहायता करता था। इसी प्रकार 'अग्रमात्य' भी राजा का प्रमुख सहायक था। अशोक के समय में राधगुप्त अग्रमात्य थे। राजकुमारों (कुमार अथवा आर्यपुत्र) से भी सम्राट शासन-प्रबन्ध में सहायता लेता था। इनकी नियुक्ति सुदूरस्थ प्रान्तों में की जाती थीं क्योंकि उनसे राजभक्ति की पूर्ण आशा थी और सुदूरस्थ प्रान्तों में इसी कोटि के शासक की आवश्यकता थी।

अशोक के पदाधिकारी––अशोक के अभिलेखों से हमें विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियों का बोध होता है, उनमें से अधिकांश अर्थशास्त्र में उल्लिखित पदाधिकारियों से मिलते-जुलते हैं। केवल धर्म-सम्बन्धी पदाधिकारी नवीन हैं। डा० हेमचंद्र राय चौधरी ने निम्नलिखित बारह प्रकार के पदाधिकारियों का उल्लेख किया है:––

(१) महापात्र, (२) राजुक, (३) रथिक, (४) प्रादेशिक, (५) युत अथवा युक्त (६) पुलिश, (७) पतिवेदक, (८) ब्रच भूमिका, (९) लिपिकार, (१०) दूत, (११) आयुक्त तथा (१२) कारणक।

नीचे इन पदाधिकारियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

धर्म महामात्र––चन्द्रगुप्त के शासन-काल में धर्म महामात्र नामक पदाधिकारी नहीं था। अशोक ने इनकी नियुक्ति सर्वप्रथम की थी। स्मिथ महोदय ने धर्म महामात्रों को 'निरीक्षक' (censor) कहा है। पर स्मिथ महोदय ने उनके कर्त्तव्यों को समझने में कुछ भूल की है। वास्तव में धर्म महामात्रों का कार्य केवल 'निरीक्षण' ही न था वरन् उनके ऊपर कुछ और भी धार्मिकता एवं नैतिकता सम्बन्धी उत्तादायित्व थे। अशोक का पंचम शिलालेख स्वयं ही धर्म महामात्रों कर्त्तव्यों का स्पष्टीकरण कर देता है––

"आज के पूर्व निकट में अतीत में कभी धर्म महामात्र नहीं रहे। अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष के पश्चात् मैंने ही उनकी नियुक्ति की। वे सभी सम्प्रदायों के बीच नियुक्ति किये गये हैं और उनका कार्य धर्म की स्थापना करना, धर्म की घोषणा करना तथा धर्मानुरागियों की सतत् सुरक्षा एवं आनन्द के लिए प्रयत्न करना है।" "सभी वर्ग के लोगों के बीच उपस्थित रह कर क्या ब्राह्मण, क्या गृहपति, क्या अनाथ और क्या वृद्ध

अथवा बहु संतान के भार से दबे हुए अथवा शोषित जन अथवा धर्म टेक ग्रहण कर मधुकरी या भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले सभी व्यक्तियों को उनकी आवश्यकतानुसार उचित सहायता देना इन्हीं धर्म महामात्रों का कर्त्तव्य था।''

महामात्र––साम्राज्य के जिले तथा नगरों में महामात्र स्वतंत्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। अशोक के शिलालेखों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तोषली, स्वर्णगिरी, तथा समाया में महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। विभिन्न प्रकार के महामात्रों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में किया गया है––उदाहरणार्थ कलिंग शिलालेख में 'नगलक' तथा 'नगल वियोहलक' महामात्रों का उल्लेख किया गया है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के मतानुसार में क्रमशः अर्थशास्त्र के 'नागरक' तथा पौर व्यवहारिक है। प्रथम स्तम्भलेख में भी अन्तमहामात्र का उल्लेख मिलता है। यह सम्भवतः अर्थशास्त्र का अन्तपाल है। इसी प्रकार बारहवें शिलालेख में 'इथिझक' महामात्र का उल्लेख किया गया है। यह सम्भवतः 'स्त्रीध्यक्ष' है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। ये महामात्र अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष थे तथा उस विभाग का पूर्ण उत्तरदायित्व इनके ऊपर था।

राजुक––डा० स्मिथ के कथानुसार राजुक भी गर्वनर होता था किन्तु उसका पद कुमार से नीचा था। ये भूमि तथा न्याय के अधिकारी थे। इनके अधिकार विस्तृत थे। अशोक के चतुर्थ स्तम्भलेख का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है ,जिसमें अशोक 'रज्जुक' (राजुक) की नियुक्ति की घोषणा करता है। इस अभिलेख से राजुकों के महत्व का बोध होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वह कई लाख मनुष्यों पर शासन करता था। जनपदों की देखभाल करना इनका प्रमुख कार्य था। किसी को सम्मानित एवं दंडित करने का भी इन्हें पूर्ण अधिकार था। रथिक तथा युक्त राजुकों की सहायता करते थे।

प्रादेशिक––प्रादेशिक का स्थान भी काफी महत्वपूर्ण था। अशोक के शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि ये प्रान्तीय शासन के प्रधान थे तथा वाइसराय के नीचे थे। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से मौर्यकालीन दो प्रान्तीय गवर्नरों के नाम प्राप्त होते हैं—(१) पुष्य गुप्त जो चन्द्रगुप्त के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था तथा (२)तुषास्प जो अशोक के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था। तुषास्प पारसिक नाम है, अतः इससे ज्ञात होता है कि राज कर्मचारी की नियुक्ति में सम्राट अशोक किसी प्रकार जातीय या देशी-विदेशी भेद नहीं रखता था। यह उसके धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचायक है।

युत अथवा युक्त––प्रादेशिक के बाद युत अथवा अर्थशास्त्र के युक्त का उल्लेख अभिलेखों में किया गया है। ये अपने सहायक उपयुक्त की सहायता से जिला कोष की देख-रेख, राजकीय सम्पत्ति का निरीक्षण, मालगुजारी वसूलने तथा खर्च करने, लेखा-जोखा रखने आदि का काम करते थे। मनु ने भी अपनी स्मृति में इस पदाधिकारी का उल्लेख किया है और उसका कर्त्तव्य खोई हुई वस्तुओं की पुनर्प्राप्ति के पश्चात् रक्षा करना बतलाया है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में 'युक्त' का उल्लेख करते हुये उसे 'राज सम्पत्ति का प्रबन्धक' बतलाया है।

अशोक के अधिकारी सर्वदा इस बात का ध्यान रखते थे कि वे कोई भी ऐसी कार्य न करें जिससे अशोक की धार्मिकता को ठेस पहुँचे। प्रतिवेदकों को उसने यह

आज्ञा दे रखी थी कि महामात्रों या मंत्रि-परिषद के कार्यों की सूचना उसे बराबर देते रहें। इसी प्रकार पूर्वलिखित पदाधिकारियों को भी उसने सदैव प्रजाहित कार्य में सचेष्ट रहने की आज्ञा दी थी।

अशोक के निर्माण-कार्य

अशोक केवल इसीलिए नहीं प्रसिद्ध है कि उसने धार्मिक क्षेत्र में अद्वितीय प्रगति कर ली थी अपितु वास्तु-कला के क्षेत्र में भी उसने आश्चर्यजनक प्रगति ला दी थी। इस क्षेत्र में अशोक ने सबसे महान् कार्य यह किया कि उसने लकड़ियों तथा इंटों के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग कराया। उसे नगरों का निर्माण तथा उन्हें सुसज्जित कराने का काफी शौक था। अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने काश्मीर में श्रीनगर तथा नैपाल में ललितपाटन नामक नगरों का निर्माण कराया था। अनुश्रुतियाँ अशोक को महान् निर्माता के रूप में उपस्थित करते हुए बतलाती हैं कि उसने नगरों की सज-धज का काफी प्रयास किया। महावंश के अनुसार अशोक ने अपने उपराजाओं द्वारा सम्पूर्ण भारत में चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। ह्वेनसाँग ने भी अनुश्रुतियों का समर्थन करते हुए लिखा है कि अशोक ने महात्मा गौतम बुद्ध के आठ स्तूपों में सुरक्षित अस्थि-अवशेषों को चौरासी हजार स्तूपों में रखवाया।

फाहियान ने पाटलिपुत्र में अशोक का राजभवन देखकर चकित होते हुए कहा था कि "इसे कोई भी मानव हाथ इस संसार में नहीं बना सकता।"

बराबर नामक जिन गुफाओं का निर्माण गया जिले में आजीविकों के निवासार्थ करवाया गया था उनकी छतें तथा दीवारें बज्रलेप के कारण शीशे-सी चमकती हैं। अशोक के भवन-निर्माण-कार्यों में स्तम्भ-निर्माण सर्वश्रेष्ठ है। ये स्तम्भ चुनार के पत्थरों के बने हैं जो नीचे काफी मोटे और ऊपर पतले हैं। इनकी ऊँचाई ४०-५० फुट तथा वजन लगभग ५० टन है। शिखर पिट्टियाँ पर ये घंटाकार हो गये हैं और बिल्कुल ऊपर सिंह, बैल, गज अथवा अश्व की आकृतियाँ बनी हैं। पशु-आकृतियाँ अत्यन्त सजीव हैं। इनकी पालिश तथा सजीवता को देखकर ही पाश्चात्य-कलाविशारदों ने इन्हें विदेशी ग्रीक अथवा पारसी शैली से प्रभावित बतलाया है। इनकी पालिश तो निश्चय ही आश्चर्यजनक है। अनेक विद्वानों ने प्रारम्भ में इन्हें पाषाण निर्मित्त न जानकर धातु-निर्मित समझने की भूल की थी। स्मिथ महोदय ने इन स्तम्भों की प्रशंसा में लिखा है कि इनका "निर्माण, स्थानान्तर तथा स्थापन मौर्य कालीन शिल्पाचार्यों एवं शिल्प तक्षकों की बुद्धि और कुशलता का अद्भुत प्रमाज प्रतिष्ठित करते हैं।" स्तम्भों की सुन्दरता से भी अधिक विलक्षण वस्तु उनका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना था। चुनार की पहाड़ियों को काटकर बनाए हुए पाँच स्तम्भ पाँच या छः सौ मील दूर मेरठ जैसे स्थान पर ले जाकर निर्मित किए जायँ और वह भी उस युग में जब यातायात के साधन बहुत सीमित थे, एक आश्चर्य ही था। स्मिथ महोदय ने तारीख-ए-फिरोजशाही के आधार पर स्तम्भों के स्थानान्तरण की कठिनाई का उदाहरण प्रस्तुत किया है। वर्णन इस प्रकार है कि फिरोशाह तुगलक अम्बाला के निकट टोपरा नामक स्थान से टोपरा-दिल्ली स्तम्भ को केवल बारह मील दूर दिल्ली लाना चाहता था, उसे ४२ पहियों वाली गाड़ियों में ८४ हजार आदमियों को लगाने की जरूरत पड़ी थी। सिरात-ए-फिरोजशाही के अनुसार सर्वप्रथम हाथियों का प्रयोग किया गया था और तब २० हजार मनुष्यों का। इसप्रकार हम देखते हैं कि जिन स्तम्भों को अशोक मध्य-प्रदेश की ऊँची-नीची पहाड़ियों तथा तीव्रगति वाली गहरी नदियों को पारकर आठ-नौ-

सौ मील दूर चुनार से हैदराबाद राज्य में २५१ ई० पू० के लगभग ले गया था उन्हीं स्तम्भों में से एक को केवल १२ मील दूर ले जाने में १३५१ ई० में फिरोज तुगलक को नाकों चने चबाने पड़े।

अशोक के उत्तराधिकारी—अशोक के पाँच पुत्रों का उल्लेख विभिन्न स्रोतों में किया गया है। इनके नाम हैं, कुणाल, तीवर, महेन्द्र, कुस्तान और जालौक। अशोक के राज्य-सिंहासन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुणाल हुआ जिसने आठ वर्षों तक शासन किया।

वृहद्रथ मौर्य वंश का अन्तिम सम्राट् था। यह विलासी और अकर्मण्य था और सेना के सम्पर्क से सर्वथा विलग रहता था। फलतः उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना के सामने उसका बध कर दिया और मौर्य साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

जिस विशाल राज्य की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने की, बिन्दुसार ने जिसमें आशातीत प्रसार किया तथा अशोक ने जिसे आध्यात्मिकता के अटूट बन्धन में बाँधा उसका पतन कुछ कारणों से अशोक की मृत्यु के कुछ समय बाद ही आरम्भ हो गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) शासन-सम्बन्धी, (२) सामाजिक तथा (३) वाह्य आक्रमण। नीचे इनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायगा।

(१) **शासन-सम्बन्धी**—अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य में अनेकानेक कुव्यवस्थाओं तथा दुर्बलताओं ने घर कर लिया जिनके परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य को पतन की ओर झुकना पड़ा। इनमें से कुछ दुर्बलताएँ अशोक के समय से ही चली आ रही थीं। शासन-सम्बन्धी दुर्बलताओं को यदि राजनीतिक कारण कहा जाय तो उचित होगा। मौर्य साम्राज्य के पतन में निम्नलिखित राजनीतिक कारण विशेष उल्लेखनीय हैं:—

(क) **अयोग्य उत्तराधिकारी**—अशोक के उत्तराधिकारी कुणाल, जालौक महेन्द्र, सम्प्रति, दशरथ, इन्द्रपालित, सोमशर्मा, शतधन्वा तथा वृहद्रथ आदि दुर्बल थे और उनमें इतनी क्षमता न थी कि मौर्य साम्राज्य को सँभाल सकते।

(ख) **साम्राज्य की विशालता**—दुर्बल उत्तराधिकारियों से सम्भवतः कोई छोटा-मोटा राज्य सँभाला जा सकता था पर मौर्य साम्राज्य से विशाल साम्राज्य को सँभालने के लिए किसी चन्द्रगुप्त की ही आवश्यकता थी। विशाल साम्राज्य में विद्रोहादि की आशंका अधिक रहती है। दक्षिण में साम्राज्य-विस्तार हो जाने के पश्चात् यह अनिवार्य था कि राजधानी केन्द्र में हो और केन्द्रीय शासन सुदृढ़ हो।

(ग) **कर्मचारियों की अयोग्यता, निर्दयता तथा उनमें राजभक्ति की अल्पता**—मौर्य साम्राज्य से सुदूर प्रान्तों के अधिकारी केन्द्रीय शासन को ढीला पाकर या यह जानकर कि हमारी निर्दयता का ज्ञान सम्राट् को न होगा अपनी प्रजा पर अत्याचार किया करते थे। बिन्दुसार के समय में भी तक्षशिला में प्रजा ने अधिकारियों के प्रतिकूल

विद्रोह किया था जिसके दमनार्थ स्वयं अशोक गया था इसी प्रकार अशोक के प्रकार काल में भी तक्षशिला में विद्रोह हुआ था जिसके दमनार्थ कुणाल भेजा गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सुदूर दक्षिण की प्रजा राज्याधिकारी के दुर्व्यवहारों से असन्तुष्ट थी और उसमें विद्रोह की आग सुलग रही थी। राज्य-कर्मचारी निर्दयी और साथ-साथ अयोग्य भी थे जिसने जनता में अधिक असन्तोष फैल जाता था और जनता के असन्तोष को दबाने में वे सर्वथा असफल रहते थे।

उत्तर कालीन राज कर्मचारी राज-भक्ति से बहुत दूर थे। उनमें स्वार्थ की भावना अधिक थी। वे विद्रोही होते जा रहे थे। पुष्यमित्र शुंग का उदाहरण हीइसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

(घ) **अशोक की अहिंसा की नीति तथा सैनिक दुर्बलता**—अशोक ने अहिंसा को इतनी प्रधानता दे दी थी कि मौर्य-सम्राज्य के बच्चे-बच्चे में अहिंसा की भावना जागृत हो उठी थी। हथियारों पर मुर्चा लग गया और शस्त्रालय में कूड़ा जमी हो गया। सामरिक प्रवृत्ति का अन्त हो जाना उन दिनों किसी भी सम्राट के लिए अहितकर था।

(ङ) **स्थानीय राजाओं की स्वतन्त्रता की भावना**—अशोक ने स्थानीय राजाओं की स्वतंत्रता प्रदान कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि शासन को दुर्बल होते देख इन राजाओं ने स्वतंत्र होने का प्रयास करना आरम्भ कर दिया।

(२) **सामाजिक कारण**—सामाजिक कारण में प्रथम ब्राह्मणों का विद्रोह आत है। ये ब्राह्मण अशोक के उत्तराधिकारियों से असन्तुष्ट थे क्योंकि इन्होंने बौद्धों तथा जैनियों का पक्ष लिया था।

आध्यात्मिकता का वायमण्डल भी इसी के अन्तर्गत है। अशोक ने जिस आध्यात्मिक वातावरण का सृजन किया था, उसमें यदि साम्राज्य-पतन नहीं होता है तो वृद्धि की सम्भावना भी न थी। राजनीतिक उदासीनता और आध्यतम की ओर विशेष रुचि साम्राज्य के लिए अधितकर सिद्ध हुए।

(३) **वाह्य आक्रमण**—उत्तर पश्चिम में बैक्ट्रिया के यवनों के आक्रमण का घातक प्रभाव इस साम्राज्य पर पड़ा। ढहते हुए साम्राज्य के लिए यह आक्रमण तूफान बन गया।

उपरोक्त कारणों से सुदृढ़ मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया। अन्तिम मौर्य-शासक बृहद्रथ की हत्या करके पुष्यमित्र शुंगने शासन अपने हाथ में कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मण (चाणक्य) द्वारा दिलाया गया साम्राज्य एक दूसरे ब्राह्मण (पुष्यमित्र शुंग) द्वारा छीन लिया गया।

प्रश्न

१. अशोक कौन था? उसने भारतीय इतिहास में क्यों इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

२. अशोक की महत्ता का उल्लेख करते हुए उसकी चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (१९५१)

३. अशोक के प्रारम्भिक जीवन का संक्षिप्त परिचय देते हुए उस घटना का उल्लेख कीजिए जिसने उसे बौद्ध धर्मानुयायी बनाया।

४. क्या अशोक एक बौद्ध था ? अपने मत के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत कीजिए।

५. अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचारार्थ क्या किया ? (१९५४)।

६. अशोक के धर्म के विषय में आप क्या जानते हैं ? (१९५५, १९५६)

७. अशोक कालीन भारतीय शासन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

८. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों की समीक्षा कीजिए। क्या यह सच है कि साम्राज्य के पतन में अशोक की शान्ति-नीति का भी हाथ था ?

9. "Asoka is one of the greatest monarchs in history." Discuss the statement. (1947, 1953.)

10. What do you know about the character and personality of Asoka ? Explain his idea of "Dharma." (1948.)

11. "Asoka's victories were victorics of peace and not of war." Discuss. (1949.)

12. Give your estimate of the character and achievements of Asoka. (1950, 1951.)

अध्याय १४

मौर्यकालीन सभ्यता एव संस्कृति

सामाजिक अवस्था

समाज की रचना—मौर्यकालीन समाज की रचना का ज्ञान हमे अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के विवरण द्वारा होता है किन्तु इन दोनों साक्ष्यों से जो सूचना प्राप्त होती है वह परस्पर कुछ विभिन्न प्रतीत होती है। अर्थशास्त्र में चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके कर्त्तव्यों और साधारण जीवन के वर्णन में अर्थशास्त्र अन्य धर्म-शास्त्रों से पर्याप्त समानता रखता है। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह चारों वर्णों और उनके आश्रम-धर्म की रक्षा करे। मेगस्थनीज ने जाति-व्यवस्था का वर्णन कुछ विचित्र प्रकार से किया है। उसने सात जातियों का उल्लेख किया है और लिखा है कि देश की सम्पूर्ण जनता इन्हीं जातियों में विभक्त है। ये जातियाँ निम्नलिखित थीं :—

(१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) गोपालक, (४) कारीगर, (५) सैनिकवर्ग, (६) गुप्तचर निरोक्षक और (७) अमात्य या राज्य के उच्च पदाधिकारी।

मेगस्थनीज ने इन जातियों का वर्णन कर चुकने के बाद लिखा है कि किसी को भी अपने जाति के बाहर विवाह करने का अधिकार नहीं है और न कोई व्यक्ति अपनी जाति या व्यवसाय परिवर्तित ही कर सकता है। जातिगत नियमों की यह कठोरता निःसन्देह ब्राह्मण ग्रन्थ का अनुसरण करती है परन्तु इस विषय में सन्देह किया जा सकता है कि मेगस्थनीज का यह कथन उस युग की वास्तविक स्थिति को सूचित करता है। अन्तर्जातीय विवाह मौर्ययुग में प्रचलित थे और लोगों के व्यवसाय-परिवर्तन के उदाहरण भी मिल जाते हैं। अन्तरजातीय विवाह की पुष्टि कौटिल्य ने भी की है। मेगस्थनीज के इस जाति-वर्णन के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि इससे यह प्रतीत होता है कि उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक अवस्था को समझने में त्रुटि की। उसने भ्रमवश लोगों के व्यवसायों और उद्यमों को उनकी जाति समझ लिया। मालूम होता है कि जातियों की अपेक्षा वह लोगों के व्यवसायों से ही अधिक परिचित था। मेगस्थनीज ने अपने विवरणों में कहीं भी चातुर्वर्ण का उल्लेख नहीं किया है। इससे कदाचित यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्य-युग में समाज का विभाजन अधिकांश रूप से जातियों और व्यवसायों के सम्मिश्रण पर ही आधारित था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में नियमों की जिस कठोरता का उल्लेख किया गया है वह समाज में प्रायः अज्ञात थी।

विवाह-प्रथा—पारिवारिक जीवन की आधार-शिला उन दिनों भी, आज की भाँति विवाह संस्था ही थी। अर्थशास्त्र में विवाह की आठ विधियाँ बतलाई गई हैं जिनके बारे में हम पहले ही पढ़ चुके हैं।

कौटुम्बिक जीवन और नारी के स्थान—मौर्य काल में संयुक्त परिवार

की प्रथा विद्यमान थी, यद्यपि कभी-कभी संयुक्त परिवार का विच्छेद भी हो जाता था। वैसे साधारण तौर पर पति-पत्नी का सम्बन्ध पारस्परिक स्नेह और सच्चाई पर आधारित था; किन्तु दाम्पत्य जीवन में कुछ कमियाँ भी आ गई थीं। बहुपत्नीत्व की प्रथा इन कमियों के लिए उत्तरदायिनी थी। अपनी ही जाति की कन्या से विवाह-सम्बन्ध द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होती थी उसका सामाजिक स्तर उन संतानों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा था जिनका जन्म अन्य जातियों की कन्याओं के गर्भ से होता है। उत्तराधिकार इत्यादि के प्रश्न पर इस प्रकार की असमानतायें काफी महत्वपूर्ण समझी जाती थीं जिससे पति-पत्नी के सम्बन्ध में कटुता अवश्य उत्पन्न हो जाती रही होगी। बहुपत्नीत्व की प्रथा ने न केवल पारिवारिक जीवन का रूप विकृत कर दिया अपितु इससे परिवार के जीवन में पत्नी का स्थान काफी निम्न हो गया।

पारिवारिक जीवन में पत्नी का स्थान अपेक्षाकृत निम्नतर हो जाने पर भी मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति कुछ विषयों में संतोषजनक कही जा सकती है। विधवा विवाह की भी इस समय व्यवस्था थी। पति के दुर्व्यवहार करने पर स्त्री न्यायालय में न्यायोचित व्यवहार की माँग कर सकती थीं। उसे परिवार की सम्पति में अधिकार प्राप्त था। विवाह के अवसर पर दहेज अथवा उपहार आदि के रूप में जो सम्पत्ति प्राप्त होती थी उस पर उसका पूरा अधिकार होता था और वह अपनी इच्छानुसार उनका प्रयोग कर सकती थी।

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र पुरुषों के कार्य-क्षेत्र से काफी भिन्न था। इस विषय में कौटिल्य का विधान अन्य ब्राह्मण स्मृतिकारों के विधानों से काफी मिलता जुलता है। कौटिल्य ने स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा को निषिद्ध बतलाया है। कौटिल्य का यह मत उनके दृष्टिकोण से स्वाभाविक ही प्रतीत होता है क्योंकि वे स्त्रियों को सन्तान उत्पन्न करने का साधन मात्र समझते थे। स्त्रियाँ प्रायः घर में ही रहा करती थीं। शिक्षा से वंचित होने पर साधारण रूप में स्त्रियों का मानसिक क्षितिज संकुचित होता था, वे नाना प्रकार के विधि-विधानों में विश्वास करती थीं। अशोक के एक शिलालेख से इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रायः स्त्रियाँ अपनी मंगलेच्छाओं की प्रतिमूर्ति के लिए विविध प्रकार के अन्धविश्वासों को अपनाती थीं।

नारियों को कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधायें प्राप्त थीं। कुछ स्त्रियाँ संगीत, नृत्य तथा चित्रलेखन आदि ललित कलाओं में निपुणता प्राप्त करती थीं। इतना ही नहीं सैनिक व्यवस्था अपनाने का मार्ग भी स्त्रियों के लिए सर्वथा अवरुद्ध नहीं था। मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त की महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया है। वह कहता है: "कुछ स्त्रियाँ रथों पर, कुछ अश्वो पर एवं कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती हैं और वे प्रत्येक प्रकार के शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिये जा रही हों।" परन्तु सैन्य व्यवसाय ग्रहण करने वाली स्त्रियों में अधिकांशतः विदेशी जातियों की होती थी। महिला-अंगरक्षिकाओं का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी हुआ है।

आमोद-प्रमोद—मौर्य काल के लोगों का जीवन अत्यन्त सुखी और आमोद-प्रमोदमय था। गाँवों में सार्वजनिक शालाएँ हुआ करती थीं जहाँ सामूहिक रूप से उत्सव आदि का आयोजन होता था। अशोक के शिलालेखों में उत्सवों तथा समाजों का उल्लेख मिलता है। इन उल्लास-अवसरों पर लोग मस्त होकर गाते-बजाते थे। विभिन्न

प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का वादन ऐसे अवसरों पर एक प्रमुख कृत्य समझा जाता था। समाजों और उत्सवों के संगठनकर्त्ताओं को इस कार्य के लिए राज्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। समाजों और उत्सवों का संगठन सरस्वती, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं के आदर में किया जाता था। ऐसे अवसरों पर मल्लयुद्ध हुआ करते थे, जिनमें भाग लेने के लिये दूर-दूर से पहलवान आया करते थे। एलियन नामक यूनानी लेखक ने इन मल्लयुद्धों के विषय में लिखा है। उसने मनुष्यों और हाथियों तथा अन्य पशुओं के द्वन्द्वों का उल्लेख किया है। उसने रथों की दौड़ के विषय में कहा है कि पाटिलपुत्र में ये रथ दौड़ अधिकता से हुआ करते थे जिनमें अच्छे-अच्छे बैल और घोड़े जुते रहते थे। मनुष्यों और पशुओं के मल्लयुद्धों में प्रायः भीषण रक्तपात हो जाया करता था। इसलिए अशोक ने ऐसे समाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। परन्तु अन्य प्रकार के आमोद-प्रमोदों की आवश्यकता को उसने भी समझा था। उसने मनोरंजन के साधनों को एक उच्चतर उद्देश्य—जनसाधारण के नैतिक-उन्नयन की प्रतिपूर्ति का साधन बनाया। अपने एक अभिलेख में अशोक कहता है कि उसने "मनुष्यों और पशुओं की मुठभेड़ बन्द करा दी और उसके स्थान पर उसने आकाश में भाँति-भाँति के दृश्यों के चित्रण की व्यवस्था की जिससे लोगों का मनोरंजन तो हो ही, साथ ही उससे उन्हें यथेष्ट नैतिक शिक्षा भी मिले।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में नाटकों द्वारा भी लोगों का मनोरंजन होता था।

भोजन-पान—मौर्य-कालीन भारत की आर्थिक समृद्धि का परिचय हमें उस समय के लोगों के भोजन पान के द्वारा भी प्राप्त होता है। लोगों का भोजन सुरुचिपूर्ण और पुष्टिकर होता था। सामान्य रूप से वे परिमित और स्वच्छ भोजन ही ग्रहण करते थे। भोजन में विविध प्रकार के अन्न, दूध और मांस का समावेश होता था। यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मों की अहिंसावादिता में मांस-भक्षण को कोई स्थान नहीं प्राप्त था तथापि अधिकांश लोग मांस खाते थे। नगरों में आजकल की भाँति अनेक दूकानें होतीं थीं जहाँ पर भोज्य-सामग्रियाँ हर समय तैयार मिलती थीं। इन दूकानों पर पक्वान्न, मांस, रोटी, चावल आदि वस्तुओं का विक्रय होता था। सुरा का प्रयोग प्रचलित था किन्तु इसके क्रय-विक्रय पर राज्य का नियंत्रण होता था। कौटिल्य ने विविध प्रकार की मदिरा का उल्लेख किया है और उनकी निर्माण-विधि भी बतलाई है। मेगास्थनीज ने भारतीयों के भोजन करने के ढंग पर लिखा है—"जब भारतीय भोजन करने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख तिपाई के आकार की मेज रख दी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे ऐसे उबले होते हैं जैसे उबले जौ। इसके बाद दूसरे बहुत से पक्वान्न रखे जाते हैं। जो भारतीय विधि से तैयार होते हैं।" वह आगे भी लिखता है कि भारतीय जन अकेले ही जब जिसकी इच्छा होती है भोजन करता है।

दास-प्रथा—दास-प्रथा अति प्राचीन काल से भारतीय सामाजिक जीवन की एक मान्य व्यवस्था रही है। मौर्य काल में भी यह प्रचलित थी,[1] यद्यपि यूनानी लेखकों के प्रमाण इसके विरुद्ध हैं। एरियन लिखता है कि सभी भारतीय स्वतंत्र हैं और उनमें से एक भी दास नहीं हैं। मेगास्थनीज ने भी इसी प्रकार की बात कही है और स्ट्रेबो ने उसके मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि कोई भी भारतीय दास नहीं रखता। परन्तु अन्य साक्ष्यों से दास-प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण इतनी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं कि यूनानी लेखकों का कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र तथा स्मृतियों में दास प्रथा का उल्लेख किया गया है। अशोक ने अपने अभिलेखों में दासों तथा भाड़े के

मजदूरों में विभेद किया है और सब के साथ दया का व्यवहार करने का आदेश दिया है। यह सम्भव है कि मेगास्थनीज को भारत के किसी विशेष भू-भाग में दास-प्रथा बिल्कुल न दिखाई पड़ी हो जिससे उसने समझ लिया कि भारतवर्ष में दास-प्रथा है ही नहीं। इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज के यह लिखने का कि, भारत में दास-प्रथा है ही नहीं, एक महत्वपूर्ण कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ पर यूनान के ठीक विपरीत, दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। प्रसिद्ध विद्वान् रीज डेविड्ज ने लिखा है कि भारत में दास अधिकांश रूप में घरेलू नौकर होते थे। एवं उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था और उनकी संख्या भी महत्वशून्य होती थी।

आर्थिक जीवन

मौर्य-काल में भारतवासियों का आर्थिक जीवन काफी विकसित और सुव्यवस्थित हो गया। आर्थिक जीवन का सर्वांगीण विकास होने से कृषि, उद्योग-धन्धों और व्यापार की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस युग के पहले भी आर्थिक जीवन काफी विकसित था। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध के समय में भी विभिन्न उद्योग-धन्धे और आन्तरिक एवं वाह्य व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था में थे। परन्तु मौर्य-युग में आर्थिक जीवन का इतना चतुर्दिक विकास हुआ कि यदि हम उस पर विचार करते हैं। तो हमें आश्चर्य होता है।

कृषि—सदा की भाँति मौर्य-युग का आर्थिक जीवन भी कृषि पर ही अवलम्बित था। कृषि गावों में होती थी और उस समय के ग्राम सुखमय जीवन तथा समृद्धि के केन्द्र थे।

कौटिल्य ने उस समय के ग्रामों का बड़ा यथार्थ चित्र खींचा है। ग्राम की भूमि का निर्माण इन भागों द्वारा होता था—(१) कृष्ट (जुती हुई भूमि), (२) अकृष्ट (बगैर जुती हुई भूमि), (३) स्थल (ऊँची और सूखी जमीन), (४) केदार—फसलों से बोये हुए खेत, (५) आराम-कुंज, (६) शण्ड—केले इत्यादि फल-वृक्षों के आरोपण, (७) मूल नाप—वे खेत जिनमें विभिन्न जड़ें या गाठें जैसे—अदरख, हल्दी, शलजम, मूली यादि उगाई जाती थीं। (८) वात-गन्ने के आरोपण स्थान, (९) बन—जहाँ से ईंधन की सामाग्री तथा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती थीं, (१०) विनीत—ग्राम पशुओं के लिए चरांगाह और (११) पंथि—राजमार्गों की भूमि। उपर्युक्त भागों के अतिरिक्त उस समय के ग्रामों में निम्नलिखित वस्तुओं का होना भी आवश्यक था—(१) वास्तु—वह क्षेत्र जिसमें घर बने होते थे। यह बस्ती का भाग होता था। (२) चैत्य—पवित्र वृक्ष, (३) देवगृह—मन्दिर, (४) सेतुबन्ध (बाध इत्यादि), (५) स्मशान, (६) सक्त—दानगृह, (७) प्रपा—पीने योग्य जल के एकत्र करने का स्थान, (८) पुण्यस्थान, पवित्र जगहें और (९) प्रेक्षागृह—जहाँ पर जन साधारण के लिए सार्वजानिक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था होती थी।

कृषि की उन्नति के लिए राज्य की ओर से हितकर कानूनो का निर्माण किया गया था। किसानों की सुविधाओं का ध्यान रक्खा जाता था और उन पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने पाता था। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। मेगास्थनीज सिंचाई-व्यवस्था का वर्णन करते हुए ऐसे अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनका कर्त्तव्य "भूमि का नाप और उन छोटी नालियों का निरीक्षण करना था जिनमें होकर पानी सिंचाई की नहरों में जाता था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना सही भाग मिल सके।"

एक स्थान पर यूनानी दूत ने लिखा है--भूमि का अधिकांश भाग सिंचाई के अन्तर्गत है जिससे वर्ष में दो-दो फसलें तैयार हो जाती हैं।

अर्थशास्त्र में उन तमाम फसलों का उल्लेख किया गया है जो इस समय उत्पन्न की जाती थीं। ये फसलें इस प्रकार थीं--विभिन्न प्रकार के चावल, कोद्रव—मोटा अनाज, तिल, प्रियंग, कई तरह की दालें जैसे मुदग, माश और मसूर, कुलुथ्थ, यव, गोधूम (गेहूँ), कलाय, अरसी, सर्षप, शाक, और मूल (तरकारियाँ) तथा विभिन्न प्रकार के फल जिनमें केले, अंगूर तथा गन्ना इत्यादि प्रमुख थे। कौटिल्य ने कृषि पर लगाये जाने वाले विभिन्न करों का भी उल्लेख किया है: (१) भाग—कृषि से होने वाली आमदनी पर राज्य का भाग, (२) बलि--यह ऐसा कर था जो भाग के अतिरिक्त भी कृषकों पर लगाया जा सकता था, (३) कर--यह समय-समय पर सम्पत्ति के आधार पर लगाया जाता था, (४) विनीत--चरागाहों पर लगाया जाने वाला कर और (५) रज्जु—फसल की उपज के नाप-जोख के लिए लगने वाला कर और (६) चोराज्जु का कर। युद्ध और दुर्भिक्ष के समय कृषि की फसलों पर अतिरिक्त कर भी लगाया जा सकता था। इसके अलावा किसानों से कभी-कभी बेगार भी कराई जाती थी।

उद्योग-धन्धे--मौर्य-युग में उद्योग-धन्धों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धा वस्त्र तैयार करना था। यद्यपि सूती वस्त्र का उद्योग-धन्धा सम्पूर्ण देश में प्रचलित था तथापि कुछ स्थानों में इस उद्योग के केन्द्र बन गये थे। प्रचीन बौद्ध-ग्रन्थों में बनारस के बढ़िया वस्त्र (कासीकुत्तम् या कासिकावत्थ) का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा सिवि देश के वस्त्र (सिव्येक) का भी जिक्र आता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूती-वस्त्र-उद्योग के केन्द्रों की कुछ अधिक विस्तृत सूची मिलती है। ये केन्द्र थे--(१) मदुरा-पाड्ण्य देश की राजधानी, (२) अपरान्त-कोंकन या पश्चिमी समुद्रतट, (३) काशी, (४) वंग, (५) वत्स (६) कौशाम्बी का निकटवर्ती प्रदेश और (६) महिषा।

ऊनी वस्त्रों का निर्माण भी इस देश का अपना एक प्राचीन धन्धा है। ऋग्वेद में ही गान्धार के मसृण तथा कोमल ऊन का उल्लेख आता है। एक ऊनी पोशाक 'सामूल्य' का भी जिक्र आता है।

जौहरियों और शीशे की वस्तुएँ बनाने की कला तीसरी शताब्दी ई० पू० के बहुत पहले ही श्रेष्ठता की ऊँची श्रेणी तक पहुँच चुकी थी। कौटिल्य के ग्रन्थ में सोने, चाँदी, हाथी दाँत तथा अन्य बहुमूल्य धातुओं के कार्यों का प्रचुरता से उल्लेख किया गया है।

पत्थर को काट कर सुन्दर वस्तुएँ बनाने की कला में इस युग के कारीगर बहुत बढ़े-चढ़े थे। अशोक के समय के आश्चर्यजनक पाषाण-स्तम्भ उस युग की तक्षण कला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सुगन्धित पदार्थों के निर्माण में भी मौर्य युग में काफी उन्नति हुई।

पृथ्वी के द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तुओं के प्रयोग पर मौर्य युग की शासन-व्यवस्था काफी ध्यान देती थी। सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई महत्व-पूर्ण उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। रथों, जलयानों और शास्त्रास्त्रों के निर्माण से काष्ठ और धातु-कलाओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

व्यापार--उद्योग-धन्धों की इस उन्नति ने व्यापार की उन्नति को स्वाभाविक ही नहीं अपितु अनिवार्य बना दिया। भारत में आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार के

व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था में थे। सुदूर पूर्वीय देशों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था और देश में भी अनेक वणिक्पथों तथा जल-मार्गों की सुविधा विद्यमान थी जिनके द्वारा व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को अपनी वस्तुएँ ले जाते थे। अर्थशास्त्र में व्यापार के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि ये काफी और तितर-बितर हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि व्यापार के क्षेत्र में मौर्य युग में देश ने काफी अधिक उन्नति कर ली थी। कौटिल्य ने उन स्थानों का उल्लेख किया है जहाँ से विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती थीं। एक कथन के अनुसार, जिसे कौटिल्य ने उद्‌धृत किया है, बहुमूल्य वस्तुएँ जैसे हाथी, घोड़े, सुगन्धित पदार्थ, हाथी दाँत, पशु-चर्म, सोना तथा चाँदी आदि हिमालय में बहुलता से सुलभ थीं। कौटिल्य की सम्मति में कम्बल, पशु-चर्म और घोड़ों को छोड़कर अन्य वस्तुओं विशेषतया शंख, हीरे, रत्न, मोतियों तथा सीना इत्यादि मूल्यवान् वस्तुओं की अधिकता दक्षिण में थी। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अन्य वस्तुओं और उनके उत्पत्ति-स्थान की जो सूची दी है उससे भारत के आन्तरिक और विदेशी व्यापार पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इन वस्तुओं और इनके उत्पत्ति स्थानों में से ये प्रमुख थे—बंगाल, आसाम, बनारस, कोंकण और पाण्डय के वस्त्र; चीन के सिल्क; नेपाल के ऊनी वस्त्र, हिमलय प्रदेश के पशु-चर्म, आसाम, लंका तथा हिमालय के सुगन्धित पदार्थ, लंका, अलकनन्दा और विवर्ण के रत्न तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ।

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भारत के प्राचीन विदेशी व्यापार को मौर्यों की सुव्यवस्थित राज्य-संस्था द्वारा काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सेल्यूकस की पराजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने पड़ोस के यूनानी राज्य के साथ मैत्री की जो बुद्धिमत्तापूर्ण नीति अपनाई उसे उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रक्खा। इस नीति ने भारत के विदेशी व्यापार को पश्चिमी एशिया तथा मिश्र में फैला दिया। यूनानी लेखकों के अनुसार भारत और यूनानी राज्यों का व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। भारत के लिए पाश्चात्य जगह के साथ वह व्यापारिक सम्बन्ध काफी हितकर और महत्वपूर्ण था। यहाँ से हाथी दाँत, कछुये की पीठ, मोतियाँ, नील आदि रंग और बहु-मूल्य लकड़ियों का निर्यात, मिश्र देश को होता था। व्यापारियों के संघों का संगठन, जिनका निर्माण काफी पहले हो चुका था, इस युग में काफी सुदृढ़ हो गया।

धर्म

इस युग की धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें बौद्ध धर्म ग्रन्थों, अशोक के अभिलेखों और यूनानी लेखकों के विवरणों पर अवलम्वित होना पड़ता है। सभी साक्ष्यों का अवलम्बन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस समय मुख्यतः ये धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे—ब्राह्मण, सन्यास-आन्दोलन, बुद्ध धर्म, आजीविक और आस्तिक आन्दोलन। हम इन सब की अलग संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

ब्राह्मण धर्म—इस युग में ब्राह्मण धर्म में, अन्य युगों की भाँति वैदिक तथा गृह्य रीतियों का प्राधान्य था। ब्राह्मण लोग यज्ञादि में लगे रहते थे। अशोक ने अपने अभिलेख में जिन देव पूजकों का उल्लेख किया है उनसे अभिप्राय उन्हीं ब्राह्मण पुरोहितों से है जो यज्ञ किया करते थे और लोक-धर्म के आन्दोलन से पृथक रहा करते थे। बौद्ध ग्रन्थ ब्राह्मणों के ऐसे वर्ग का उल्लेख करते हैं जिन्हें 'ब्राह्मण-महासाला' कहा जाता था। इन लोगों को राजा द्वारा दान में दी हुई भूमि का कर प्राप्त होता था। ये ब्राह्मण बड़े धनाढ्य होते थे और व्ययसाध्य यज्ञों का अनुष्ठान करने की क्षमता रखते

थे। वे अपने घरों में बहुत से शिक्षार्थियों को रखते थे जो देश के विभिन्न भागों से आते थे और उनके चरणों के निकट बैठ कर धार्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे। यज्ञों में निरीह पशुओं के वध से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। सुत्त-निपात में ब्राह्मणों के ऊपर जो दोष लगाये गये हैं वे पूरी तरह निराधार नहीं प्रतीत होते।

केवल वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान ही ब्राह्मण धर्म का सर्वस्व नहीं था। इसके कुछ सूक्ष्म तत्व भी थे जो मनुष्य की आत्मा का परिष्कार करके उसे ऊपर उठाने की क्षमता रखते थे। यदि वैदिक क्रियावाद ब्राह्मण धर्म का स्थूल रूप था तो उपनिषदों का ज्ञानवाद इसका सूक्ष्म रूप था। यह सम्भव है कि इस युग के ब्राह्मण धर्म में अभी भी वैदिक और आध्यात्मिक पक्ष से भी अनेक लोग प्रभावित थे। ब्राह्मण धर्म का हमने जो अध्ययन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नन्द-मौर्य युग में वैदिक अनुष्ठान एवं औपनिषदिक विचार-धारा दोनों ही धार्मिक जीवन की सक्रिय शक्तियाँ थीं। राजाओं, सामन्तों और सम्पन्न ब्राह्मणों का विश्वास वेदों के कर्मकाण्ड में ही अधिक था परन्तु दूसरी ओर समाज में ऐसे भी विचारशील जन थे जो बाह्य आडम्बरों में न पड़ कर सत्य के यथार्थ रूप को जानना चाहते थे। ये लोग नगरों से दूर वनवासी होकर कठोर तप और संयम का जीवन बिताते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार करने की चेष्टा करते थे।

सन्यास-आन्दोलन—हमने ऊपर जिन तपस्वियों का उल्लेख किया है वे ब्राह्मण होते थे परन्तु समाज में श्रमण कहे जाने वाले अन्य सन्यासी भी होते थे। हमने सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में इनका जिक्र किया है। बौद्ध ग्रन्थों में चार प्रकार के श्रमण बतलाये गये हैं—(१) मग्गजिनों—जो मार्ग के अन्त तक पहुँच चुके थे और जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया था, (२) मग्ग—वे लोग जो देश को उच्चतम लक्ष्य का मार्ग दिखलाते थे, (३) मग्ग जीवित—जो मार्ग के अनुसार रहते थे और (४) मग्गदुसी—वे अभिमानी, वाचाल और संयमहीन होते थे और जो धार्मिक पुरुषों की वेश-भूषा धारण करके अपने सम्प्रदाय और गुरु को बदनाम करते थे।

आजीविक—आजीविक सम्प्रदाय की उत्पत्ति तो महात्मा बुद्ध के समय में या उससे भी पूर्व हो चुकी थी किन्तु इसकी उन्नति के विषय में मौर्य-काल के पूर्व का विवरण नहीं प्राप्त होता। मक्खलि गोसाल इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये लोग भाग्यवादी होते थे और किसी प्रकार के कारण-परिणाम में विश्वास नहीं रखते थे। आगे चल कर इस युग में अशोक के अभिलेखों द्वारा भी आजिविक सम्प्रदाय के ऊपर प्रकाश पड़ता है। इस सम्प्रदाय का पूरे मौर्य-युग तक काफी मान रहा परन्तु बाद में धीरे-धीरे इसका प्रभाव घटता ही गया और आगे चलकर यह बिल्कुल लुप्त हो गया। आजीविक लोग श्रमण वर्ग के थे। ये भी प्रायः वनों में रहते थे। आजीविक सम्प्रदाय में ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों सन्यासी थे किन्तु उनके भिन्न-भिन्न समूहों में विभक्त होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

जैन धर्म—चन्द्रगुप्त के शासन-काल में जैन धर्म के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण घटना घटित हुई और इसके फलस्वरूप एक महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन और जैन धर्म का छठवाँ थेर (स्थविर) था। कहा जाता है कि अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी, जिसका नाम सम्प्रति था, जैन धर्म का अनुयायी था और इसने अपने पितामह की भाँति अपने धार्मिक विश्वासों को फैलाने का

प्रयास किया। परन्तु मौर्य काल में जैनधर्म का बहुत अधिक प्रचार न हो सका। बाद में अवश्य यह धर्म पश्चिमी और दक्षिण भारत में फैल गया।

बौद्ध धर्म—यद्यपि अशोक के पूर्व ही बौद्ध धर्म की काफी उन्नति हो चुकी थी तथापि इसके देशव्यापी प्रचार और विदेशों में इसके प्रसार का श्रेय इसी मौर्य सम्राट को दिया जा सकता है। उसने केवल बौद्ध धर्म को राजाश्रय ही नहीं प्रदान किया बल्कि इसकी उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न भी किये। इतिहासकारों का विश्वास है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो प्रयत्न किए उनमें उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

आस्तिक आन्दोलन—भक्तिवादी आस्तिक आन्दोलनों का प्रचलन मौर्य-युग के धार्मिक जीवन की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। वासुदेव अथवा कृष्ण इस समय देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे। मौर्य-काल में शिव, स्कन्द तथा विशाखा की प्रतिमाओं का क्रय-विक्रय होता था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति-पूजा का प्रचार अधिकतर जन साधारण में ही था। अभिजात वर्ग के लोग मूर्ति-पूजा को प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखा करते थे। जन साधारण के धार्मिक जीवन में अन्य क्रियाओं का भी समावेश था।

लोक धर्म—लोक-धर्म में मूर्ति-पूजा की प्रधानता थी। देश में बहुत से मन्दिर होते थे जहाँ पर लोग मूर्तियों की पूजा करते थे। कौटिल्य ने उन अनेक देवी-देवताओं का नाम गिनाया है जिनकी जन साधारण द्वारा पूजा की जाती थी। मन्दिर (कोष्ट), नगर के उत्तरी-पश्चिमी भाग में बनाये जाते थे। जिन देवी-देवताओं के सम्मान में मन्दिरों का निर्माण कराया जाता था, उनके नाम इस प्रकार थे—अपरजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजन्त, शिव, वैश्रवण, (कुवेर), अश्विनी और लक्ष्मी। वास्तु और दिक पूजा भी प्रचलित थी। लोक-धर्म में अन्धविश्वासों का पर्याप्त मात्रा में समावेश था। स्वर्ग और नरक में लोगों का बहुत अधिक विश्वास था। बौद्ध-ग्रन्थों में उस समय के लोक धर्म के प्रत्येक पक्ष का विस्तृत उल्लेख मिलता है और उसकी तीव्र शब्दों में निन्दा की गई है जिससे लोग उससे पृथक रहें। परन्तु इन प्रयत्नों के उपरान्त भी लोक-धर्म जारी रहा।

भाषा और साहित्य

जिस युग की सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था का अब तक हमने अध्ययन किया है उसका महत्व इस बात में भी है कि इस युग में न केवल प्राकृत जैसी लोक-भाषाओं की बहुत अधिक उन्नति हुई वरन् इनमें साहित्य-सृजन का भी कार्य हुआ। लिपि का व्यापक रूप से प्रचार इस युग की एक प्रमुख सांस्कृतिक देन है। इस युग के साहित्यिक विकास की एक प्रमुख विशेषता है इहलोक परलोक साहित्य की रचना। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस समय धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थ लिखे ही नहीं गए वरन् हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि पाणिनि के व्याकरण को छोड़कर अन्य किसी लौकिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ का प्रणयन इस युग के पहले नहीं हुआ था, जबकि इस युग में पहुँच कर काव्य, नाटक आदि साहित्यशाखाओं का हम सृजन होते देखते हैं और अर्थशास्त्र की रचना से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक शास्त्रविद् ब्राह्मण ने राजनीति जैसे लौकिक और शुष्क विषय को संस्कृत छन्दों का विषय बनाया। काम-सूत्र के रचना-काल को भी कुछ विद्वान् मौर्य युग के अन्तर्गत ही रखते हैं।

कात्यायन का पाणिनीय व्याकरण पर भाष्य इसी युग की रचना कही जाती है। बृहत्कथा के संस्कृत संस्करण, हरिषेण के जैन वृहत्कथा कोष और बौद्ध-ग्रन्थ मन्जुश्री-मूलकल्प में नन्द, चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के एक ब्राह्मण मन्त्री सुबन्धु का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त में नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनव भारती' नामक जो टीका लिखी ह उसमें उन्होंने सुबन्धु का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख किया है और उसकी 'वासवदत्ता नाट्यधारा' नामक एक विचित्र नाटक का रचयिता बताया ह।

धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण रचना-कार्य हुआ। इस समय जनता के धार्मिक जीवन में जो तीन प्रमुख धारायें थीं उनके अनुसार धार्मिक साहित्य की रचना हुई। वैदिक धर्म, वौद्ध और जैन तीनों के धार्मिक साहित्य का प्रचुर विकास हुआ। वैदिक धर्म के अन्तर्गत इस काल में अनेक गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र, और वेदांग-ग्रन्थों का प्रण-यन किया गया। बौद्ध साहित्य की दृष्टि से यह युग काफी महत्व रखता है। इस काल के जैन लेखकों में शीर्ष-स्थान को अधिकृत करने वाले आचार्य भद्रबाहु द्वितीय चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और जैन अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने मौर्य सम्राट् को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था।

कला की उन्नति

मौर्य-कला प्रारम्भ अशोक के राजत्व काल से होता है। ईंटों या मजबूत पत्थरों के बने हुए ठोस गुम्वदों को स्तूप कहा जाता था। अशोक ने विशाल स्तूपों का वहुत वड़ी संख्या में निर्माण कराया था। अनुश्रुति के अनुसार उसने ८४००० स्तूप बनवाये थे। साँची का विशाल स्तूप अशोक का ही बनवाया बताया जाता है, परन्तु जिस रूप में इसका अशोक ने निर्माण कराया था उसमें आगे चलकर काफी परिवर्तन हो गया। अशोक द्वारा सारनाथ में निर्मित धर्म राजिका स्तूप का निचला भाग अब भी वर्तमान है।

अशोक द्वारा निर्मित कलाकृतियों में सबसे अधिक महत्व उसके स्तम्भों का है। इस समय यह सम्भव नहीं कि हम अशोक की राजाज्ञा पर बनाये गए स्तम्भों की बिल्कुल ठीक-ठीक संख्या बता सकें, परन्तु तीस-चालीस से बीच की संख्या अनुमानतः ठीक जान पड़ती है। स्तम्भों का निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया है। सारनाथ का स्तम्भ मौर्य-युग की कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके निर्माण-कौशल की प्रशंसा सभी कला-समालोचकों ने मुक्तकंठ से की है। स्तम्भ पर पशुओं की जो आकृतियाँ खुदी हुई हैं उनकी सजीवता और सुन्दरता सचमुच सराहने योग्य है।

अशोक के समय में भिक्षुकों के निवासार्थ बिहारों तथा दरीगृहों का निर्माण कराया गया था। वारबरा की पहाड़ियों में बहुत सी गुफायें अवस्थित हैं जिनमें भिक्षु निवास करते हैं। इन गुफाओं की दीवालें इतनी चमकीली हैं कि वे दर्पण के सदृश जान पड़ती थे और निर्माणकर्ताओं के असीम अध्यवसाय एवं महती निपुणता का निदर्शन करती हैं। अशोक ने जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कई भवनों का निर्माण भी कराया था किन्तु वे इस समय नहीं मिलते। चीनी यात्री फाह्यान ने अशोक-निर्मित एक भवन को देखा था जिसके निर्माण-कौशल को देखकर वह विस्मय-विमुग्ध हो गया। उसने समझा कि ऐसा अद्भुत भवन अशोक ने देवताओं द्वारा बनवाया होगा क्योंकि इसका निर्माण-कौशल मनुष्यों द्वारा सम्भव नहीं।

प्रश्न

१. मौर्य कालीन समाज का चित्रण कीजिए।

२. मौर्य कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का विवेचन तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हुए कीजिये।

३. मौर्य कालीन कला एवं साहित्य पर प्रकाश डालिये।

४. मौर्य कालीन भारत की धार्मिक अवस्था से विषय में आप क्या जानते हैं ?

५. Describe the social life and economic condition of Indian society during the Maurya period. (1956.)

अध्याय १५

शुंग, कण्व तथा आन्ध्र राज्य

भाग १—शुंग वंश

मौर्यों के बाद देश की विश्रृंखलित राजनीतिक स्थिति से लाभ उठाने की इच्छा रखने वाले यवनों ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा को पार किया और गान्धार (उत्तरी-पश्चिमी सीमा) साकल (उत्तर मध्य पंजाब) तथा अन्य स्थानों पर अपने शक्तिशाली राज्यों की स्थापना की मगध में भी एक महती राजनीतिक उन्नति हुई जिसके फलस्वरूप एक नया राजवंश सत्तारूढ़ हुआ। यह वंश था शुंगवंश और इस क्रान्ति का नेता पुष्यमित्र शुंग था।

पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य नरेश वृहद्रथ का बध करके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया।

शुंगों की जाति—शुंगों की जाति के विषय में काफी मतविभिन्नता दिखलाई पड़ती है। 'दिव्यावदान' नामक बौद्ध-ग्रन्थ पुष्यमित्र द्वारा मौर्य-साम्राज्य के ध्वंस किए जाने की बात तो कहता है परन्तु इस ग्रन्थ में उसे मौर्य-वंश का ही बतलाया गया है। कुछ विद्वानों ने शुंगों को ईरान देश का बतलाकर अभारतीय प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि चूँकि ईरान में मित्र (सूर्य) की बहुत पूजा की जाती थी और शुंग वंश के प्रत्येक नरेश के नाम में 'मित्र' अवश्य लगा हुआ है इससे यह वंश ईरानी प्रतीत होता है। परन्तु यह मत तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता। केवल नाम के आधार पर शुंगों को ईरानी प्रमाणित करने का हमें कोई औचित्य नहीं दिखलाई पड़ता। अधिकांश साक्ष्यों द्वारा शुंगों के ब्राह्मण होने का ही प्रमाण मिलता है।

पुष्यमित्र का साम्राज्य-निर्माण—वृहद्रथ की हत्या करने के उपरान्त पुष्यमित्र मगध राज्य का स्वामी तो बन गया परन्तु उसके राज्य की स्थिति अभी बड़ी डावाँडोल थी। पड़ोस के राज्यों—कलिंग, आन्ध्र और महाराष्ट्र—ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी और मगध राज्य को वे चुनौती देने पर तुले हुए थे। मगध के हाथों से सीमान्त प्रान्त निकल जाने से इसकी शक्ति खोखली हो गई थी और पड़ोस के राज्यों की बढ़ती हुई शक्ति इसके स्वामी के लिए एक अत्यन्त विकट समस्या थी, अतएव मगध पर अधिकार जमा लेने के बाद पुष्यमित्र ने सबसे पहले अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया। प्राची, कोसल, आकर, वत्स और अवन्ति को जो अभी भी मगध के अधीन थे, पुष्यमित्र ने पुनः संगठित किया और इन प्रान्तों पर अपनी सत्ता का दृढ़ सिक्का जमाने का पूरा प्रयत्न किया। अवन्ति का राज्य मगध से कुछ दूर पड़ता था और मौर्य-साम्राज्य के बाद अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाने से शासन-व्यवस्था शिथिल तथा विश्रृंखलित हो गई थी जिससे पाटलिपुत्र से अवन्ति पर केन्द्रीय शक्ति का अधिकार पूर्ण रूप से जमा रखना दुस्साध्य प्रतीत हो रहा था। अतएव पुष्यमित्र ने आकर प्रान्त के मुख्य नगर विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। विदेश में उसने अपने पुत्र अग्निमित्र को राज्य-प्रतिनिधि के रूप में

रक्खा। अग्निमित्र को उसने आकर-अवन्ति प्रान्त का शासक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार साम्राज्य-निर्माण के सम्बन्ध में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद पुष्यमित्र ने अपना ध्यान साम्राज्य-विस्तार की ओर दिया। परन्तु देश की विकट राजनीतिक अवस्था के कारण वह सुदूर राज्यों को अपने अधिकार में नहीं कर सका। विदेशी राज्य के साथ उसका संघर्ष हुआ जिसमें उसके आतंक का सिक्का अच्छी तरह जम गया।

यवनों का आक्रमण—पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी यवनों का आक्रमण और शुंगों द्वारा प्रवल प्रतिरोध। मौर्यवंश के पतनोन्मुख होने के समय से ही देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा अरक्षित प्रतीत होने लगी। उसके निकट ही बाख्त्री यवनों के राज्य स्थापित हो चुके थे। ये यवन-राज्य भारत पर अपनी गृद्ध-दृष्टि सदैव लगाये रहते थे। पुष्यमित्र के समय में यवनों ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का विवरण हमें पतञ्जलि के 'महाभाष्य' एवं 'गार्गी संहिता' के द्वारा मिलता है। तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र के राज्य-काल में भारत पर सबसे पहले विदेशी यवनों का आक्रमण हुआ था। पतञ्जलि जो पुष्यमित्र के समकालीन थे, इस आक्रमण का उल्लेख करते हैं। लेकिन यवनों को पाटलिपुत्र से पीछे लौट जाना पड़ा।

हमें संस्कृत ग्रन्थों में, जिनके द्वारा यवन-आक्रमण का विवरण प्राप्त होता है, यवन सरदार के नाम का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कुछ इतिहासकारों के अनुसार भारत पर यवन-आक्रमण का नेतृत्व डेमीट्रियस कर रहा था और कुछ के विचार में डेमीट्रियस नहीं बल्कि मिनेन्डर आक्रमणकारियों का नेता था। प्रोफेसर एन० एन० घोष की धारणा है कि "गार्गी संहिता में वर्णित एवं पतञ्जलि-महाभाष्य में उल्लिखित पाटलिपुत्र के यवन-आक्रमण का अधिनायक सम्भवतः डेमीट्रियस (Demetrius) था।" दूसरे आक्रमण का नेतृत्व, प्रोफेसर घोष के मतानुसार, मिनेन्डर ने किया था।

अश्वमेध यज्ञ—अपनी सफलताओं के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। उसके लिए यह यज्ञ करने के महत्वपूर्ण कारण थे। पहली बात तो यह कि विदर्भ राज्य के ऊपर उसकी प्रभुता का सिक्का अच्छी तरह जम चुका था और विदेशी आक्रमणकारियों को दो बार निराश होकर लौट जाना पड़ा जिससे शुंगवंश के गौरव में अभिवृद्धि हुई। इसी वंश-गौरव की अभिवृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए पुष्पमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया।

पुष्यमित्र शुंग और बौद्ध धर्म—कतिपय बौद्ध-ग्रन्थों में पुष्यमित्र शुंग के ऊपर यह आरोप लगाया गया है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल शत्रु था। 'दिव्यावदान' के लेखक का कथन है कि पुष्यमित्र ने यह घोषणा निकलवा दी थी कि जो मुझे एक श्रमण का सिर लाकर देगा उसे सौ दीनार दूँगा। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र धार्मिक प्रश्नों में बड़ा असहिष्णु था। उसने बौद्धों पर भाँति-भाँति के अत्याचार किये और उनके मठों तथा संघारामों को वह जलवा दिया करता था। पर सुविख्यात अंग्रेज विद्वान् श्री ई० बी० हेवेल ने इस विषय में जो कुछ लिखा है हमें वही सबसे अधिक तर्कसम्मत और युक्तिसंगत जँचता है। उन्होंने लिखा है कि पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों का दमन इसलिए किया कि उनके संघ राजनीतिक शक्ति के केन्द्र बन गये थे, इसलिए नहीं कि वे एक ऐसे धर्म को मानते थे जिसमें वह विश्वास नहीं करता था।

पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी—पुष्यमित्र शुंग ने ३६ वर्षों तक राज्य किया उसका शासन-काल लगभग १४८ ई० पू० तक रहा। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका

पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर आसीन हुआ। यही अग्निमित्र महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' का नायक है। यह हम देख चुके हैं कि यह विदिशा का शासक रह चुका था जिससे इसने राज्य संचालन में अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसके शासन-काल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। अग्निमित्र शुंग के पश्चात् उसका भाई सुजेष्ठ मगध का अधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में भी कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। सुजेष्ट के बाद अग्निमित्र का वीरपुत्र वसुमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। इसने ही सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर यवनों की सेना को पराजित किया था। वसुमित्र के उपरान्त ओद्रक राजा हुआ। इसका उल्लेख सम्भवतः कौशाम्बी के निकट पभोसा के शिलालेख में हुआ है। शुंग वंश के नवम् राजा भागवत अथवा भागभद्र के शासन-काल में तक्षशिला के यवन शासक अन्तलिकित (Antialkidas) ने उसकी सभा में दिया (Dion) के पुत्र हेलिओदोर (Heliodorus) को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। शुंग वंश का अन्तिम राजा देवभूति था। 'विष्णु पुराण' में लिखा है कि उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने उसका वध कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। इस प्रकार मगध का राज्य शुंगों के हाथ से निकलकर कण्व वंश के हाथ में चला गया।

शुंगकालीन सभ्यता और संस्कृति

धर्म और साहित्य––शुंगों के शासन-काल में ब्राह्मण धर्म की बहुत अधिक उन्नति हुई। कला और संस्कृति का भी पर्याप्त विकास हुआ। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में शुंगवंश का महत्वपूर्ण स्थान था। शुंगकालीन संस्कृति गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति की एक शैशवावस्था थी। पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक के पूर्ववर्ती मगध की परम्परा को बढ़ाया। धर्म-विजय की अभिप्राप्ति का साधन युद्ध से घृणा नहीं अपितु सैन्य संगठन का निर्माण समझा गया। राजनीति का रूप यथार्थ हो गया। शुंगों ने उत्तर भारत के एक विशाल भू-भाग पर अपना अधिकार जमाया, यवन आक्रमणकारियों को पराजित किया और विदेशी राजाओं का सम्मान प्राप्त किया। उन्होंने कला, साहित्य और वास्तु के पुनरावर्तन को पोषित किया। मध्यदेश में बुद्धिजीवियों तथा बुद्धिमानों की दृष्टि में संन्यास-दृष्टिकोण का आकर्षण नष्ट हो गया। धर्मों की शक्ति सुदृढ़ की गई, स्मृति न्याय की सत्ता को पुनः पूरी तरह से स्थापित किया गया। सामूहिक उत्साह की नयी लहर ने बौद्ध धर्म के प्रति संघर्ष के दृष्टिकोण, एक अधिक समृद्ध तथा पूर्णतरजीवन की खोज में, युद्ध देवता कार्तिकेय के सम्प्रदाय में, भागवत सम्प्रदाय के पुनरुत्थान में तथा हिन्दू देवमण्डल में वासुदेव कृष्ण की प्रधानता में अभिव्यक्त प्राप्त की।

पुष्यमित्र शुंग ने दो बार यज्ञ करके सनातन धर्म की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित किया। शुंग वंश के शासन-काल में ही प्रसिद्ध पुस्तक 'मनुस्मृति' या मानव धर्म शास्त्र की रचना हुई। इस पुस्तक में हम ब्राह्मण आदर्शों को समाज में पुनः पूर्णरूप से प्रचलित करने का प्रयास सुस्पष्ट देखते हैं। गार्हस्थ्य जीवन का महत्व पिछले युगों में बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण कुछ कम हो गया था, परन्तु इस युग में मनुस्मृतिकार ने इसके महत्व को स्पष्ट किया। हिन्दू-समाज में जाति-प्रथा के बन्धन काफी कठोर कर दिये गये और स्त्रियों का स्थान भी पहले की अपेक्षा निम्नतर हो गया, यद्यपि मनु महाराज ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः' इत्यादि शब्दों द्वारा स्त्री-जीवन का महत्व समझाया। 'मनुस्मृति' में आदि से अन्त तक इसी बात का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन वैदिक

धर्म समाज में प्रचलित हो। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि 'मनुस्मृति' तत्कालीन स्थिति का उतना निदर्शन नहीं कराती जितना कि यह समाज के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करती है। हम यह नहीं कह सकते कि इस ग्रन्थ में सामाजिक अथवा धार्मिक जीवन के जिन नियमों का उल्लेख है वे सब इस समय समाज में प्रचलित थे। 'मनुस्मृति' के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस समय के हिन्दू धर्म में संकीर्णता और कट्टरता प्रवेश कर चुकी थी किन्तु आभिलेखक साक्ष्य से जो सूचना प्राप्त होती है वह इसके विपरीत है। बेसनगर के स्तम्भलेख से यह प्रमाणित होता है कि यूनानी भी इस समय हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिये जाते थे। "इससे यह भी सिद्ध होता है कि तब का हिन्दू धर्म आज की भाँति संकुचित न था और इसकी छाया में विदेशीय भी साँस ले सकते थे।" यद्यपि वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए पुष्यमित्र ने काफी प्रयत्न किया तथापि बौद्ध धर्म का भी इस समय प्रचार था। यदि हम भरहुत स्तूप के "सूगनम् रजे" को पुष्यमित्र के काल का न भी मानें तो भी हमें इतना तो कम से कम अवश्य मानना पड़ेगा कि उसके उत्तराधिकारियों की बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु नीति न थी। इसके अतिरिक्त भागवत धर्म का प्रचार और विकास इस युग के धार्मिक जीवन की विशेषता थी। विदिशा तथा घोसण्डी के शिलालेखों से यह स्पष्ट प्रभावित होता है कि इस समय जनता में भागवत धर्म का खूब प्रचार था।

साहित्य के क्षेत्र में, हम जानते हैं कि महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे जिन्होंने पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' पर एक महाभाष्य लिखा। मनुस्मृति की रचना, प्रसिद्ध विद्वान् डा० बुहलर के मतानुसार २०० ई० पू० एवं २०० ई० के मध्य किसी समय में हुई होगी। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि शुंगवंश के प्रारम्भिक युग में ही इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। पुष्यमित्र शुंग और महाराज मनु के ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने के प्रयत्नों में दृष्टिकोण की गहरी समानता है। पतञ्जलि ने पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक समृद्धि पर जो प्रकाश डाला है, उससे यह कल्पना करना अयुक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि शुंग वंश के शासन-काल में भी साहित्य सृजन की परम्परा जारी रही होगी। परन्तु हमें ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं जिनका रचना-काल हम सुनिश्चित रूप से शुंग वंश के शासन-काल के अन्तर्गत निर्धारित कर सकें। 'इस काल में सम्भवतः अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों का भी प्रादुर्भाव हुआ था जिनके नाम आज काल के गर्भ में खो गये हैं।'

कला की उन्नति—शुंग-काल में कला की भी काफी अधिक उन्नति हुई। इस समय की कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसके द्वारा अधिकांश जनता के मानससांस्कृतिक-आदर्श तथा उसकी परम्परा का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। इस बात में यह मौर्य-युग से नितान्त भिन्न है। शुंग-कला की एक दूसरी विशेषता है कि यह अपने समय के जन-जीवन का चित्र बड़े ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। भर्हुत स्तूप में दो हजार वर्षों पूर्व के भारत के दैनिक जीवन का सजीव चित्रण है। लोगों के घर, देवताओं की मूर्तियाँ, साधुओं के आश्रम तथा साथ ही साथ गाड़ियाँ, रथ, नौकायें, वेश-भूषा, शस्त्र तथा आभूषण जिनका प्रयोग साधारण रूप से किया जाता था, ये सभी वस्तुयें नितान्त यथार्थता की ओर स्पष्ट रूप में प्रदर्शित की गई हैं। ये स्तूप-स्थापत्य धार्मिक भावनाओं और विश्वासों को, वेशभूषा, परिधान तथा शिष्टाचार-सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करते हैं और बड़ी ही सादगी तथा प्राणवता के साथ बनाये गये हैं। इनसे हम भारत के जनसाधारण के मानस और आदतों के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं और जीवन के आनन्द तथा सुखों की भावना उन सब को परिव्याप्त किये हुए प्रतीत

होती है। प्राचीन भारत, अपनी स्वस्थ आशावादिता तथा जीवन के प्रति सशक्त विश्वास के साथ, इन पाषाणों के द्वारा एक ऐसे स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है जो कुछ उन प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के अन्धकारपूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण से एक तीव्र परन्तु मधुर विरोध प्रस्तुत करता है, जो इनको दोहराते हुए कभी थकते नहीं। इन स्थापत्य चित्रों के उत्तंकन का उद्देश्य जनता को महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से परिचित कराना था, परन्तु चित्रों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उद्देश्य गौण हो गया है और कलाकार जीवन का चित्रण करने में इतना संलग्न हो गया है कि उसे जनता के नैतिक उन्नयन का कोई विशेष ध्यान नहीं। प्रोफेसर कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि इन चित्रों का प्रधान केन्द्रबिन्दु न तो आध्यात्मिक है और न आचारवादी, बल्कि सम्पूर्णतया मानव-जीवन से सम्बन्धित है। भर्हुत स्तूप के तोरण-द्वारों पर पशुओं एवं वृक्ष-लताओं के जो चित्रण हैं उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको उत्तंकित करने वाले बौद्ध कलाकारों को केवल मानव-जीवन से ही अनुराग न था वरन् उनके हृदय में सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के लिए स्नेह की भावना विद्यमान थी। प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम इन चित्रों की विशेषता है। इस दृष्टि से भर्हुत के ये चित्र भारतीय संस्कृति के सर्वभूतानुराग एवं अखिल सृष्टि के साथ अनुराग स्थापित करने वाले सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त की परिपुष्टि चाहते हैं तो हमें संस्कृत और पाली के साहित्य-ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए जिनमें जीव प्रेम और प्रकृति प्रेम की भावनायें बड़ी ही सहृदयता और सजीवता के साथ अभिव्यक्त की गई हैं। साँची के "असाधारण द्वार तोरण," जिनका निर्माण डा० फूशे के मतानुसार 'विदिशा के गजदन्त शिल्पियों ने ही किया था इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं।

भाग २—कण्व वंश का शासन काल (लगभग ७५-३० ई० पू०)

शुंग वंश के पतन के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार राज-सत्ता अन्तिम शुंग-नरेश देवभूति के हाथ से निकल कर कण्ववंश के संस्थापक वसुदेव के हाथ में चली गई। शुंग-वंश के शासन काल का अन्त ७२ ई० पू० के लगभग हुआ और इसी समय से कण्व-वंश का शासन आरम्भ होता है। कण्व वंश भी ब्राह्मण था वसुदेव ने देवभूति को षड्यन्त्र द्वारा हत्या करा के ही राज्य हस्तगत किया था, यह हम पढ़ चुके हैं। इस सम्बन्ध में 'विष्णु-पुराण' तथा 'हर्ष-चरित्र' के विवरणों का भी हम अध्ययन कर चुके हैं। कण्व वंश को काण्वायन भी कहा जाता था। संभवतः यह नाम गोत्र के आधार पर पड़ा था। इस वंश में चार नरेश हुए। इनके नाम थे, वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मण जिन्होंने क्रमशः ९, १४, १२ और १० वर्षों तक शासन किया। यद्यपि पुराणों में, भविष्यवाणी की प्रणाली द्वारा यह कहा गया है कि वे पड़ोस के राजाओं को अपने अधीन रक्खेंगे और धर्मानुसार राज्य करेंगे तथापि कण्व-नरेशों के इतिहास के सम्बन्ध में हमें कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। कण्व वंश का अन्त २८ ई० पू० में आन्ध्रों अथवा आन्ध्र भृत्यों द्वारा हुआ।

भाग ३—आन्ध्र-सातवाहन-वंश तथा खारवेल

आन्ध्र जाति का प्राचीन इतिहास—पुराणों में सातवाहन वंश के राजाओं के लिए आन्ध्र शब्द का प्रयोग किया गया है, जब कि अपने अभिलेखों में वे अपने को सर्वदा और सर्वत्र सातवाहन अथवा शातकर्णि घोषित करते हैं। इन अभिलेखों में आन्ध्र शब्द कहीं नहीं मिलता। आन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के

तैलगू देश में बसने वाली जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण में सबसे पहले इस जाति का उल्लेख पाया जाता है। इस जाति को आर्य संस्कृति के प्रभाव से मुक्त बताया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार विश्वामित्र के वंशजों ने गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेशों में जाकर आर्येतर जातियों से विवाह किया। इन विवाहों के परिणाम-स्वरूप जिस जाति का उद्भव हुआ उसे 'आन्ध्र' की संज्ञा मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्ध्र जाति की राजनीतिक शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी। मेगास्थनीज ने उनकी प्रचंड सैन्य शक्ति का उल्लेख किया है।

सातवाहन वंश

अब प्रश्न यह उठता है कि आन्ध्रों और सातवाहनों में क्या पारस्परिक सम्बन्ध था? जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं सातवाहन नरेश अपने को कभी भी आन्ध्र जाति का नहीं बताते जब कि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उनके वंश का संस्थापक सिमुक या शिशुक या सिन्धुक 'आन्ध्रजातीय' था। सातवाहन अपने को ब्राह्मण कहते हैं किन्तु आन्ध्रों को प्राचीन ग्रन्थों में आर्य संस्कृति के प्रभाव से मुक्त कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि आन्ध्र द्राविड़ मूल के थे। वास्तव में आन्ध्रों और सातवाहनों में कोई सम्बन्ध नहीं था। वे लोग आन्ध्र से सर्वथा भिन्न थे और महाराष्ट्र देश के निवासी थे। सातवाहनों ने अपनी शक्ति का विकास महाराष्ट्र प्रदेश से ही किया और आन्ध्र प्रदेश में अपना उपनिवेश स्थापित किया परन्तु कुछ समय के बाद शक-आभीरों के आक्रमणों के फलस्वरूप उनकी सत्ता केवल आन्ध्र-प्रदेश तक ही सीमित रह गई और पश्चिमी प्रान्तों पर उनका अधिकार नहीं रह गया। इस प्रकार आन्ध्र ही तक सीमित रह जाने के कारण सातवाहन लोग आन्ध्र कहलाये।

सातवाहन कुल का संस्थापक—पुराणों के अनुसार सिमुक या शिशुक अथवा सिन्धुक (६०-३७ ई० पू०) ने शुंगों और कण्वों की शक्ति का उन्मूलन करके आन्ध्र वंश की स्थापना की। यह शिमुख ही सातवाहन कुल का प्रथम नरेश था। शुंगों और कण्वों से शिमुख ने सम्भवतः विदिशा के निकट का प्रदेश हस्तगत किया था। उसका राज्य दक्षिणापथ में ही था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा पैठन थी जो उत्तरी गोदावरी-तट पर स्थित थी। शिमुख के विषय में हमें किसी अन्य बात का पता नहीं लगता।

कृष्ण—शिमुख के उपरान्त उसका भाई कृष्ण अथवा कन्ह राज्य का अधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में सातवाहनों की साम्राज्य-सीमा के कुछ अधिक विस्तृत हो जाने का प्रमाण मिलता है। नासिक के लिए शिलालेख से विदित होता है कि उसके समय में वहाँ पर गुफा का निर्माण किया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उसका अधिकार नासिक तक पहुँच चुका था। पुष्यमित्र शुंग की भाँति उसने भी दो बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया और ब्राह्मण धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की। ऐसा प्रतीत होता है कि शतकर्णि प्रथम राजकुमार था जिसने सातवाहनों को विन्ध्य-पार भारत के सर्वसत्ताधारी की स्थिति तक उठाया। इस प्रकार गोदावरी की घाटी में पहले महान् साम्राज्य का उत्थान हुआ जो विस्तार तथा शक्ति में गंगा की घाटी के शुंग-साम्राज्य और पंचनद प्रदेश के यूनानी साम्राज्य की बराबरी करता था। इस शक्तिशाली नृपति को भी अपने एक समकालीन नरेश से लोहा लेना पड़ा। कलिंग नरेश खारवेल के हाथीगुफा अभिलेख से यह प्रमाण मिलता है कि शातकर्णि की शक्ति को कुछ भी न समझते हुए उसने अपने शासन के द्वितीय वर्ष में मूसिक नगर पर

आक्रमण कर दिया और सातवाहन नरेश से बैर ठान लिया। परन्तु इस बैर से सातवाहन को कुछ भी धक्का नहीं लगने पाया। खारवेल की शक्ति स्थायी नहीं होने पाई और शतकर्णि का गौरव पूर्ववत् ही बना रहा; किन्तु शातकर्णि के बाद सातवाहन वंश का इतिहास कुछ अन्धकारमय हो जाता है।

शातकर्णि—शिमुख का पुत्र शातकर्णि सातवाहन कुल का तृतीय नरेश था। यह एक महान् विजेता और अपने वंश का प्रतापी राजा था। इसने मगध-राज्य के संस्थापक बिम्बिसार की भाँति सैन्य-विजय और वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया।

शातकर्णि की मृत्यु के अनन्तर उसकी रानी नायनिका ने, जो अंगीयकुलीन महारथी भणकपिरों की दुहिता थी, राजकार्य सँभाला। उसके दो पुत्र शक्तिश्री और वेदश्री अभी अल्पवयस्क कुमार ही थे, अतएव उनकी संरक्षिका बनकर उसी ने शासन-सूत्र अपने हाथ में ग्रहण किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि—गौतमी पुत्र शातकर्णि अपने वंश का सबसे बड़ा प्रतापी और पराक्रमी राजा था। उसके राजनीतिक कार्यों का सबसे अधिक महत्व इस बात में है कि उसने अपने वंश के लुप्त गौरव की पुनः प्रतिष्ठापना की और विदेशी आक्रमणकारी शकों को अपनी मातृभूमि से निर्वासित कर दिया। उसने अनेक समकालीन राज्यों से लोहा लिया और उनको युद्ध में पराजित किया। शक-यवन-पहलव-क्षहरातों का नाश करके गौतमी पुत्र ने अपने वंश की मान-मर्यादा को बढ़ाया।

गौतमी पुत्र केवल एक महान् विजेता ही न था वरन् एक गुणवान व्यक्ति भी था। उसका स्वभाव अत्यन्त मृदु और करुण था। सब की रक्षा करने को वह सदैव उद्यत रहता था। वह गुणियों का आश्रयदाता, सौभाग्य का वास-स्थान एवं श्रेष्ठ व्यवहार का स्रोत था। इन गुणों के साथ ही साथ उसमें एक आदर्श शासक के सभी गुण विद्यमान थे। अपने प्रजाजनों के सुख-दुःख को वह अपने ही सुख-दुःख के समान समझता था। वह अपनी प्रजा पर आवश्यकता से अधिक कर नहीं लगाता था और अपराधियों के साथ वह दयापूर्ण व्यवहार करता था।

वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलुमावी—गौतमी पुत्र शातकर्णि के पश्चात् उसका पुत्र श्री पुलुमावी १३० ई० सन् के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका शासन-काल लगभग पन्द्रह वर्षों तक रहा। पुलुमाली भी अपने पिता की भाँति पराक्रमी और विजेता था। उसने अपने पूर्वज शातकर्णि प्रथम की विवाह-सम्बन्ध द्वारा मैत्री स्थापित करने तथा सैन्य विजयों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की नीति का अनुसरण किया। वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलुमावी लगभग १५५ ई० में मरा।

सातवाहनों का पतन

यज्ञश्री शातकर्णि—यज्ञश्री शातकर्णि अथवा श्रीयज्ञ शातकर्णि सातवाहन वंश का अन्तिम प्रतापी और शक्तिशाली नरेश था। उसका शासन-काल लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक रहा। यज्ञश्री शातकर्णिको अपने एक अति प्रतापी पूर्वज गौतमीपुत्र शातकर्णि की भाँति अपने वंश के भूलुण्ठित गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का गौरव प्राप्त है। उसने अपनी साम्राज्य सीमा का विस्तार किया। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी मालवा, अपरान्त, (दक्षिण पठार का पश्चिमी भाग) मध्य-प्रान्त एवं कृष्ण जिले में प्राप्त हुए हैं। सिक्कों के इस विस्तृत प्रदेश में पाये जाने के कारण हमारा यह सोचना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यज्ञश्री शातकर्णि का राज्य काफी

दूर तक फैला हुआ था और उसके राज्य में महाराष्ट्र और आन्ध्र दोनों सम्मिलित थे। यज्ञश्री शातकर्णि ने उन प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमाया था जिनको शकों ने कुछ ही दिनों पूर्व सातवाहनों से छीना था। उसके शासन-काल में व्यापार की भी काफी उन्नति हुई थी। उसके कुछ सिक्कों पर जलयानों के चित्र अंकित हैं जो यह सूचित करते हैं कि यज्ञश्री के समय में सामुद्रिक व्यापार काफी उन्नतिशील दशा में था।

यज्ञश्री शातकर्णि के उपरान्त सातवाहनों की राजनीतिक प्रभुता दिनों दिन क्षीण होती गई। उसके उत्तराधिकारियों में सभी निर्बल, अकर्मण्य तथा अयोग्य निकले। इस समय आवश्यकता थी किसी गौतमीपुत्र शातकर्णि की जो अपने वंश के लुप्त गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करता परन्तु सातवाहनों के दुर्भाग्य से यज्ञश्री के उत्तराधिकारियों में से कोई उसके या गौतमीपुत्र के समान पराक्रमी तथा योग्य नहीं हुआ। कुछ पुराणों के अनुसार यज्ञश्री के उत्तराधिकारी थे विजय (२०३-०९ सं० ई०) चन्द्रश्री या चन्द्राश्री (२०९-१९ सं० ई०)। ये दोनों केवल नाम के ही राजा थे। वास्तविक सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित नहीं रह गई थी। किसी प्रकार ये सातवाहनों की क्षीण शक्ति का प्रतिनिधित्व करते रहे परन्तु सन् २२५ ई० के लगभग सातवाहन वंश का दीपक, जो इस समय तक काफी हेतप्रभ हो चुका था, विदेशी आक्रमणकारियों के प्रवल झंझावत में पड़कर बिल्कुल ही बुझ गया। सातवाहन वंश की कुछ शाखाएँ किन्हीं प्रदेशों पर बाद में भी शासन करती रहीं परन्तु वंश का मूल गौरव लुप्त हो गया।

सातवाहनों के समय में दक्षिण की सभ्यता और संस्कृति

सातवाहनों से शासन-काल में सभ्यता और संस्कृति की बहुत अधिक उन्नति हुई। नीचे विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला जायगा।

सामाजिक जीवन—सातवाहन युग के दक्षिणी समाज की अवस्था का अध्ययन करने में कतिपय विशेषताएँ स्पष्टतया दृष्टिकोण होती हैं। प्रथम विशेषता है स्त्री का सम्मानपूर्ण स्थान। सातवाहन युगीन दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन में नारियों को एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था, आवश्यकता पड़ने पर वे शासन-सूत्र भी अपने हाथ में ग्रहण करतीं थीं। शातकर्णि प्रथम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु के बाद अपने पुत्रों के अल्पवयस्क होने के कारण स्पयं राज्य-संचालन का कार्य किया था।

आन्धों के युग की सामाजिक अवस्था की विशेषता इस बात में भी थी कि यह सामाजिक जीवन व्यर्थ नियन्त्रणों द्वारा बोझिल नहीं बना दिया गया था। सातवाहन नरेश ब्राह्मण थे और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के लिए सचेष्ट भी थे। वर्णाश्रम धर्म के प्रचार के लिए भी वे प्रयत्नशील थे।

चारों वर्णों के आधार पर समाज का विभाजन यहाँ के सामाजिक जीवन की विशेषता थी। सातवाहन राजाओं के उत्कीर्ण अभिलेखों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख पाया जाता है। समाज की इकाई कुटुम्ब होती थी। इसके अध्यक्ष को कुटुम्बिन कहते थे। कुटुम्बिन का परिवार के अन्य सदस्य काफी सम्मान करते थे और उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे।

धार्मिक अवस्था—सातवाहन युग के दक्षिणी भारत की धार्मिक विचारधारा अत्यन्त उदार और सहिष्णु थी। यद्यपि लगभग सभी सातवानहन नरेश ब्राह्मण धर्म

के अनुयायी थे तथापि उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उन्होंने बौद्ध धर्म को अपने राज्य में फलने-फूलने का पूरा अवसर प्रदान किया। उनके शासन-काल में बौद्ध धर्म का काफी अधिक प्रचार था और कला के क्षेत्र में बौद्धों ने अपना महत्वपूर्ण योग भी दिया।

सातवाहन-युग में ब्राह्मण धर्म बहुत अधिक प्रचार था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्भवतः समस्त सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे और इस धर्म के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न भी किये।

वैदिक कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्मों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। कदाचित यह सोचना असंगत नहीं कि सातवाहन युगीन दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव धर्मों का सबसे अधिक प्रचार था; क्योंकि ये ही धर्म लोक-रुचि के सबसे अधिक निकट थे। मेगास्थनीज ने वासुदेव कृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है और शूरसेनियों में इसका सबसे अधिक प्रचलन बताया है।

सातवाहन युग की धार्मिक अवस्था की एक सबसे महत्व पूर्ण विशेषता यह थी कि इस समय विदेशियों ने बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म ग्रहण किया। हम सामाजिक जीवन का अध्ययन करते समय यह देख चुके हैं कि विदेशी जातियाँ शक-पहलव बड़े वेग से हिन्दुओं की सामाजिक रचना में प्रवेश पा रहे थे। यह इसलिए सम्भव हो सका कि उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया और तत्कालीन धर्माचार्यों ने उनके इस कार्य को स्वीकार भी कर लिया। शुंग वंश के शासन-काल में हमने एक यवन राजदूत को भागवत धर्म स्वीकार करते देखाथा। इस समय विदेशियों के भारतीय धर्मों के स्वीकार कर लेने की यह परम्परा और आगे बढ़ी। विदेशियों ने भारतीय धर्म ग्रहण कर लेने पर अपने नाम भी तदनुकूल ही रख लिये।

आर्थिक व्यवस्था—सातवाहनों के सुदीर्घकालीन शासन में दक्षिण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व समृद्ध था। लोगों का आर्थिक जीवन विभिन्न क्रिया-कलापों से युक्त होने के कारण अत्यन्त समृद्धिशाली था। कृषि, उद्योग-धन्धों और व्यापार ये तीन ही समाज की आर्थिक व्यवस्था के अंग हैं और सातवाहन काल का दक्षिण इन तीनों दृष्टियों से सम्पन्न था। आर्थिक जीवन इस समय भी प्रमुखतया कृषि पर ही अवलम्बित था परन्तु उद्योग-धन्धों और व्यापार की भी बहुत उन्नति हुई। मुद्राओं का बहुलता से प्रचलन होना भी इस युग की आर्थिक समृद्धि को सूचित करता है। कई प्रकार के सिक्कों का प्रचार था। सबसे अधिक मूल्य के सिक्के को सुवर्ण कहा जाता था जिसका मूल्य चाँदी के ३५ कार्षपण के बराबर होता था। इसके बाद चाँदी का एक दूसरा सिक्का होता था जिसे कुषाण कहते थे। कार्षापण चाँदी और ताँबे के सबसे छोटे सिक्के होते थे जिनकी लोग साधारण व्यवहार में प्रयुक्त करते थे। ब्याज पर रुपये उधार लेने की प्रथा विद्यमान थी।

सातवाहन युग के दक्षिणी भारत में आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार के व्यापार उन्नतिशील अवस्था में थे। व्यापार की सुविधा के लिए देश के विभिन्न भागों में राज-मार्गों की समुचित व्यवस्था थी। अनेक सड़कें बनीं हुई थीं जिनके द्वारा व्यापारियों के काफिले अपनी-अपनी सामग्रियों के साथ एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँचा करते थे। दक्षिण भारत में पैठन, तगर, नासिक, जुन्नार, कहटिक (करहाड) आदि व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे। ये नगर राजमार्गों द्वारा एवं दूसरे से मिले हुए थे। विदेशी व्यापार भी काफी समृद्ध अवस्था में था। पाश्चात्य जगत के साथ दक्षिण भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था।

कला और साहित्य—कलाओं के विकास और साहित्य-सृजन की दृष्टि से सातवाहन युग महत्वशून्य नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं बौद्ध धर्म ने इस युग की कलात्मक प्रगति को जन्म दिया। अधिकतर रूप में इस समय वास्तुकला की ही उन्नति हुई। गुहा-मंदिरों एवं सेलघरों (शैलगृहों) के रूप में वास्तुकला का बहुत अधिक विकास हुआ। दक्षिण में लगभग जितने भी शैलगृह और गुहा मंदिर इस समय मिले हैं उन सबका निर्माण सम्भवतः सातवाहन युग में ही हुआ था। चैत्यगृह अथवा मन्दिर और भवन या भिक्षुओं के आवास के रूप में गुहायें दो प्रकार की पाई जाती थीं। नासिक, कारले और भाजा में गुहा-विहार और गुहा-चैत्य के अत्यन्त सुन्दर भवनों का निर्माण सातवाहन युग में ही हुआ था। सातवाहन नरेश प्राकृत भाषा के परिपोषक और प्राकृत कवियों के आश्रयदाता थे। उनके सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण हैं। उनके शासन-काल में प्राकृत भाषा और साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। हाल नामक सातवाहन राजा स्वयम् प्राकृत का एक रससिद्ध कवि था। उसके प्रसिद्ध कव्य 'गाथा सप्तशती' का बहुत बड़ा महत्व है। उसी की राजसभा में गुणाढय नामक सुविख्यात लेखक रहता था जिसने 'वृहत्कथा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत में लिखा गया है और मनोरञ्जक तथा विचित्र कथाओं का विशाल भण्डार है। एलेन महोदय के कथनानुसार 'कातन्त्र' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना सर्ववर्मन ने इसी समय के लगभग की थी। इस युग में संस्कृत ग्रन्थों के प्रणयन का तो कोई सुस्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता किन्तु इस काल की प्राकृत रचनाओं पर संस्कृत की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

कलिंग राज खारवेल

प्राचीन भारत में कलिंग का राज्य अत्यन्त समृद्ध था। इस राज्य की चम्पा तथा अन्य नगरियों की समृद्धि का वर्णन जातकों में मिलता है। कलिंग राज्य में पुरी और गञ्जाम के जिले, कटक का कुछ भाग उत्तर और उत्तर-पश्चिम के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। दक्षिण भारत के आधुनिक तेलगू भाषा-भाषी प्रान्त का कुछ भाग भी इसके अन्तर्गत था। नन्द सम्राटों का कलिंग देश पर अधिकार था। कुछ इतिहासकारों की सम्मति में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में भी कलिंग का राज्य सम्मिलित था; किन्तु उसकी मृत्यु के अनन्तर कलिंगवासियों ने विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र हो गये। बिन्दुसार के समय में भी कलिंगवासी स्वतन्त्र रहे। सम्राट् अशोक की कलिंग-विजय का विवरण प्राचीन भारत के इतिहास की एक अत्यन्त चिरपरिचित घटनाओं में से है। कलिंग देश के रहने वाले अपनी स्वतन्त्रता के दृढ़ अनुरागी थे, जिसके कारण महान् जनक्षति के बाद ही अशोक उनको अपने अधीन करने में सफल हो सका। अशोक की मृत्यु के अनन्तर ईसा की प्रथम शती पूर्व मगध साम्राज्य के जो शत्रु उठ खड़े हुए थे उनमें से कलिंग राज्य भी एक प्रवल शत्रु था। हाथीगुम्फा अभिलेख से हमें यह ज्ञात होता है कि जिस समय पश्चिम में शातकर्णि राज्य कर रहा था। कलिंगाधिपति खारवेल ने उत्तरी भारत में अपनी सेना ले जाकर राजगृह के राजा को पददलित किया। यह खारवेल चेदिवंश के महामेघवाहन परिवार का था।

महाराज खारवेल प्राचीन भारत के अत्यन्त विख्यात सम्राटों में अपना स्थान रखता है। हाथीगुम्फा अभिलेख में, जो भुवनेश्वर (उड़ीसा) के निकट उदयगिरि पहाड़ी की एक गुफा में उत्कीर्ण है खारवेल के शासन-काल की घटनाओं का अत्यन्त सविस्तार वर्णन है। इस अभिलेख के वर्णन के अनुसार राजकुमार खारवेल ने अपने

जीवन के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्ष राजोचित शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किए। उसने शासन से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन किया। सोलवें वर्ष में राजकुमार खारवेल 'युवराज' की पदवी से विभूषित किया गया। इसके उपरान्त आठ वर्ष उसने मुद्रा, गणना 'व्यवहार विधि' (मीमांसा. तर्क आदि) तथा अन्य विद्यायें सीखने में बिताया। अपनी आयु के चौबीस वर्ष समाप्त कर लेने के उपरान्त खारवेल कलिंग का महाराज हो गया। उसने 'कलिहेंाधिपति' और 'कलिहें चक्रवर्तिन' की पदवियाँ धारण कीं। सम्भवतः उसने 'महाविजय' का भी विरुद ग्रहण किया।

अपने शासन के प्रथम वर्ष में महाराज खारवेल ने अपनी राजधानी के बाह्य वैभव को सँवारने की ओर ध्यान दिया। उसने उन मुख्य द्वारों और प्राकारों की मरम्मत कराई जो काल के मुँह में पड़ कर टूट गये थे। उसने लोकहित की दृष्टि से कुछ नयी वस्तुओं का निर्माण कराया जिनमें शीतल जल से युक्त और सीढ़ियों से अलंकृत तड़ागों का स्थान प्रमुख था। दुर्गों की उसने अच्छी तरह से मरम्मत कराई। जनहित के कार्यों में उसका प्रभूत धन व्यय हुआ और पैंतीस लाख मुद्रायें व्यय करके महाराज खारवेल ने जनता के मनोरंजन और आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की। अपने राज्य-काल के द्वितीय वर्ष में उसने अपने सैन्य बल और आतंक का परिचय दिया। आन्ध्र नरेश शातकर्णि की शक्ति को तुच्छ समझते हुए उसने अश्व, हाथी, रथ और पैदल सैनिकों की एक विशाल वाहिनी भेजकर कृष्णा पर स्थित यूषिक नगर को ध्वस्त किया। चौथे वर्ष में सम्भवतः खारवेल ने विद्याधर नामक राजकुमार की राजधानी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उसी वर्ष उसने राष्ट्रिकों तथा झोजकी को जो कदाचित् बरार प्रदेश में रहते थे, पराजित करके उनका दमन किया। दक्षिण में महाराज खारवेल को जो सफलता प्राप्त हुई उससे उसका उत्साह बहुत अधिक बढ़ गया और उसने उत्तरी भारत पर भी अपना प्रभाव जमाने का विचार किया। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने अपने शासन के आठवें वर्ष में गोरथगिरि को विध्वस्त किया। यह बारबरा की पहाड़ियों में बना हुआ एक सुदृढ़ दुर्ग था जिसके ध्वस्त हो जाने से उसको आगे विजय प्राप्त करने में बड़ी सरलता प्राप्त हो गई। उसने राजगृह नगर पर धावा किया और वहाँ के निवासियों को सन्त्रस्त किया। खारवेल के इन शौर्यपूर्ण कार्यों के समाचार ने एक यवन नरेश के हृदय को इतना अधिक भयभीत कर दिया कि वह भागकर मथुरा चला गया। यह यवन राजा जिसका नाम कभी-कभी कुछ सन्दिग्ध रूप से दिमित अथवा दिमत (डिमेट्रियस) पढ़ा जाता है, सम्भवतः पूर्वी पंजाब का परवर्ती इण्डो-यूनानी शासक था। दसवें वर्ष में सेना, संधि और साम आदि विभिन्न उपायों का अवलम्बन करके खारवेल ने उत्तर-भारत-विजय के लिए 'भारतवर्ष की ओर' प्रस्थान किया। यहाँ पर भारतवर्ष शब्द का जो प्रयोग किया गया है उससे अभिप्राय अन्तर्वेद अथवा उत्तरी भारत से है। अपने राज्यकाल के ग्यारहवें वर्ष में उसने पिथुण्ड नगर को विनष्ट किया और उसके प्रासादों पर हल चलवा दिया। इसी समय उसने अपने पलायित शत्रुओं के माल को लूटकर हस्तगत किया। उसने मगधवासियों को सन्त्रस्त किया और सम्भवतः गंगा के तट पर मगध-नरेश वृहस्पति मित्र को पराजित भी किया। खारवेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष में ही राजगृह पर आक्रमण करके वहाँ के निवासियों को भयाकुल कर दिया था और इस बार भी उत्तरापथ के अन्य नरेश खारवेल की प्रचण्ड रण-शक्ति से भयभीत हो चुके थे। अतएव बहसतिमित्र ने जिसे राजगृह का स्वामी कहा गया है सन्धि की प्रार्थना की। सन्धि की इस प्रार्थना को स्वीकार करके महाराज खारवेल ने बहसति मित्र से अपनी पादवंदना कराई। उत्तरापथ की सैन्य

सफलताओं के वर्णन में हाथीगुम्फा अभिलेख का प्रशस्तिकार कहता है कि खारवेल ने अपनी सेना के हाथी-घोड़ों को गंगा में नहला कर मागधजनों में विपुल भय उत्पन्न कर दिया। इस समय वह कलिंग देश की जिन मूर्ति को अपने साथ ले आया जिसे नन्द राजा मगध ले गये थे। मगध के राजा को युद्ध में पराजित करके महाप्रतापी खारवेल ने नन्दों और मौर्यों के समय में किये गये कलिंग के राष्ट्रीय अपमान का प्रतीकार किया। उसने इस बार मगधवासियों की बहुत सी सम्पत्ति भी लूटी। इसी वर्ष उसने दक्षिण के पाण्ड्य नरेश पर आक्रमण किया और मुक्ता-मणि, रत्न की अनन्त राशि प्राप्त की। सैन्य-विजयों के उपरान्त अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग नरेश खारवेल ने एक धार्मिक कार्य किया। वह स्वयं जैन धर्म का अनुयायी था, अतएव उसने कुमारी पर्वत (उदयगिरी, खण्डगिरी) में जैन साधुओं के वर्षावास तथा अन्य सुकृतों के लिए पन्द्रह लाख से भी अधिक गुहायें बनवाईं।

प्रश्न

१. शुंग कौन थे? पुष्यमित्र ने किस प्रकार मगध साम्राज्य को हस्तगत किया?

२. क्या पुष्यमित्र बौद्धहन्ता था?

३. पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल की कुछ प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

४. शुंग कालीन सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में आप क्या जानते हैं?

५. कण्व वंश के विषय में आप जो कुछ जानते हों लिखिए।

६. आन्ध्र-सातवाहन वंश के विषय में आप क्या जानते हैं? उनका प्राचीन इतिहास लिखिए।

७. सातवाहन वंश के कुछ प्रमुख शासकों का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

८. सातवाहन कालीन दक्षिण भारत की सभ्यता एवं संस्कृति का निरूपण कीजिए।

९. कलिंग राज्य खारवेल पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय १६

भारत पर विदेशी जातियों का शासन

भाग १. इण्डो-ग्रीक (यवन जाति)

मौर्यों के सुव्यवस्थित शासन ने भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भूभाग को राजनीतिक एकता, शान्ति तथा सुव्यवस्था प्रदान की थी। प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में सिल्यूकस नाइकेटर ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण किया था और सिकन्दर की महत्वाकांक्षा से उत्साहित होकर वह स्वयं भी भारत पर स्थायी यूनानी शासन की स्थापना करना चाहता था। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य की विशाल सेना ने यूनानी सेनानायक की महत्वाकांक्षा को धूल में मिला दिया और उसे एक अपमानजनक सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। इसके पश्चात् भारतीय सीमा के उस पार कुछ ही दूर रहने वाले यूनानी शासकों को इस बात की हिम्मत नहीं हुई कि वे भारत की हिरण्यगर्भा वसुन्धरा को लूटें और यहाँ के निवासियों को उत्पीड़ित या संत्रस्त करें क्योंकि उनके ऊपर मौर्यकालीन भारत की प्रचण्ड रणशक्ति और अतुलित सैन्य बल का सिक्का खूब अच्छी तरह जम चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसके पुत्र बिन्दुसार के साथ यवन राज्यों का मैत्री-सम्बन्ध था। अशोक ने मैत्री की इस परम्परा को न केवल अक्षुण्य ही रक्खा अपितु इसे सुदृढ़ भी बनाया। उसने अपने धर्म-प्रचारकों को सीरिया, मिश्र, साइरीन, मकदूनिया तथा एपिरस के यवन राज्यों में भेजा। इन राज्यों ने इस महान् भारतीय सम्राट् की धर्मसंवर्द्धिनी नीति को शिरसा स्वीकार किया। किन्तु ज्यों ही अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति शिथिल पड़ने लगी, यवन राज्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन उपस्थित हो गया। देश की अशान्तिपूर्ण अवस्था और एक सुदृढ़ शासन के अभावजनित व्यापक अराजकता से लोग लाभ उठाने की सोचने लगे।

बैक्ट्रिया के यूनानी—सिकन्दर महान् के सेनानायक सिल्युकस ने एक विशाल राज्य को अपने अधीन रक्खा था; परन्तु उसके राज्य में विभिन्न जातियाँ रहती थीं, जिनमें परस्पर कोई मूल-भूत सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय एकता विद्यमान न थी। ये जातियाँ शक्ति के जोर से दबा रक्खी गई थीं। अतएव जब तक सिल्यूकस के बाहु में बल था ये चुपचाप उसके शासन को स्वीकार करती रहीं परन्तु ज्योंही बाद में यूनानी शासकों की शक्ति शिथिल होने लगी कि ये अपनी स्वतन्त्रता का दुन्दुभिनाद करने का अवसर ढूँढ़ने लगीं। अन्त में अवसर प्राप्त होते ही यूनानी राज्य के दो महत्वपूर्ण और विस्तृत प्रान्त पार्थिया और बैक्ट्रिया में विद्रोह हो गया और ये स्वतन्त्र हो गये।

डियोडोटस प्रथम और डियोडोटस द्वितीय—डियोडोटस प्रथम ने पहले कुछ दिनों तक सिल्यूकस के वंश की ओर से गवर्नर के रूप में बैक्ट्रिया पर शासन किया था। परन्तु बाद में उसने एक स्वतंत्र नरेश के रूप में शासन कर एक नवीन राजवंश की नींव डाली। वह एक शक्तिशाली राजा था और उसके पड़ोसी उससे काफी भय-भीत रहते थे। उसका शासन-काल संभवतः २४५ ई० पूर्व से लेकर २१० ई० पू० था। उसका अन्त एक सामरिक पर्यटक युथिडेमिस (Euthydemus) द्वारा हुआ।

युथिडेमिस—युथिडेमिस ने डियोडोटस द्वितीय की हत्या कर के राज-सिंहासन हस्तगत अवश्य कर लिया था परन्तु शान्ति और सुख से राज्य करना कभी उसके भाग्य में नहीं था। उसके सिंहासनारूढ़ होते ही सिल्यूकस के राजवंश के सीरियक सम्राट एन्टिओकस तृतीय (लगभग २२३-१८५ ई० पू०) ने अपने राज्य के विद्रोही प्रान्तों को, जिनमें अब स्वतंत्र राजवंश स्थापित हो चुके थे फिर से अपने अधिकार में करने की प्राणपण से चेष्टा की। २०८ ई० पू० के लगभग एन्टिओकस तृतीय ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया परन्तु दो वर्षों के घोर संग्राम के बाद भी उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अन्त में विवश होकर उसने युथिडेमस के साथ सन्धि करके बैक्ट्रिया की स्वतंत्र राजसत्ता स्वीकार कर ली। इस सन्धि के प्रमाण स्वरूप उसने अपनी कन्या का विवाह युथिडेमस के पुत्र डेमिट्रियस (Demetrius) के साथ कर दिया।

मुद्रा-सम्बन्धी साक्ष्यों से विदित होता है कि युथिडेमस ने एक विस्तृत राज्य-सीमा पर काफी अधिक समय तक राज्य किया। उसके चाँदी के सिक्के बल्ख (बैक्ट्रया) और बुखारा में बहुत बड़ी संख्या में पाये गये हैं। विद्वानों का विचार है कि अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में संभवतः १८७ ई० पू० के बाद, जब कि एन्टिओकस अपने पश्चिमी राज्यों के मामले में बुरी तरह से व्यस्त हो गया था युथिडेमस ने दक्षिण में अफगानिस्तान के निम्न प्रदेश तक अपने राज्य की सीमायें बढ़ा लीं। ईरान से लगे हुए प्रदेश और उत्तरी पश्चिमी भारत के कुछ भागों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया।

डेमिट्रियस—डेमिट्रियस का उल्लेख भारतीय प्रदेशों के विजेता के रूप में यूनानी लेखकों ने किया है। 'युगपुराण' में यवनों के सम्बन्ध में जो लिखा है कि वे साकेत (अयोध्या के निकट जो वर्तमान फैजाबाद जिले में है), पाञ्चाल (कुछ अंशों तक वर्तमान रुहेलखंड कहा जा सकता है) और मथुरा को आक्रान्त कर कुसुमध्वज पहुँचेगे। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में "अरुणद् यवनः साकेतम", "अरुणद यवनः माध्यमिकाम्" द्वारा जिस आपत्ति का संकेत किया है वह डेमेट्रियस के नेतृत्व में यही आक्रमण था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके आगे डेमेट्रियस बढ़ नहीं सका और उसे लौट जाना पड़ा। डेमेट्रियस के आगे न बढ़ने का यह कारण था कि जब वह अपनी भारतीय विजयों में संलग्न था तो यूक्रेटाइडज् (Eucratides) नामक एक पराक्रमी व्यक्ति ने जनक्रान्ति का झण्डा ऊँचा किया, जिससे घबड़ाकर डेमेट्रियस को इस क्रान्ति के दमन के लिए बैक्ट्रिया लौट जाना पड़ा। परन्तु वहाँ पर भी उसे सफलता न प्राप्त हो सकी। यही कारण था कि अपनी भारतीय विजयों में भी डेमेट्रियस को पंजाब तक की विजय से ही संतुष्ट होना पड़ा। पुष्यमित्र शुग के प्रबल प्रतिरोध ने भी यवनों के दाँत खट्टे कर दिये। ब्राह्मण सेनानायक की बल-वृद्धिरोधिता के फस्वरूप यूनानियों को मध्य देश तथा पंजाब के कुछ भागों से हाथ धोने पड़े।

यूक्रेटाइडज—ऊपर हम कह चुके हैं कि यूक्रेटाइड्ज ने जन-विद्रोह का सफल संचालन करके बैक्ट्रिया का राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। वह सिल्यूकस के राजवंश की शाखा था। उसने बैक्ट्रिया के यूक्रेटाइड्ज नामक नगर का निर्माण कराया था। यूक्रेटाइड्ज केवल बैक्ट्रिया से ही संतुष्ट नहीं रहा। उसने हिंदूकुश की उत्तुंग चोटियों क अत्तिक्रमतुंग करके भारत के यूनानी राज्यों पर आक्रमण कर दिया। जस्टिन नामक यूनानी लेखक के कथनानुसार 'उसने भारत को जीता और वह हजार नगरों का स्वामी बन गया।' उसकी विजयों के फलस्वरूप यूनानी भारत दो भागों

में विभाजित हो गया—(१) पूर्वी भाग जिसके ऊपर युथिडेमस के वंशजों का राज्य था। इस वंश की राजधानी साकल (स्यालकोट) थी। (२) पश्चिमी भाग की राजधानी तक्षशिला थी। इस भाग पर यूक्रेटाइड्ज के वंशजों का अधिकार था। इन दोनों वंशजों को मिला कर लगभग चालीस राजाओं ने शासन किया। उनके विषय में मुद्रा-साक्ष्य द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

हेलियोक्लीज—हेलियोक्लीज अपने वंश का एक प्रतापी राजा था। उसने भारत और बैक्ट्रिया के यूनानी राज्यों पर अपना अधिकार जमाये रक्खा। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि हेलियोक्लीज बैक्ट्रिया का अन्तिम शासक था, क्योंकि उसके बाद ही शकों ने मध्य एशिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु बैक्ट्रिया का राज्य छिन जाने पर भी इस वंश का समूलोन्मूलन न हो सका। इस कुल के कुछ राजे काबुल और भारत के सीमावर्ती प्रदेश पर बाद में भी कुछ समय राज्य करते रहे परन्तु इन राजाओं के विषय में हमें कुछ विशेष बातें मालूम नहीं हैं।

मिनेन्डर—भारत के यूनानी शासकों में केवल मिनेन्डर ही ऐसा राजा है जिसकी स्मृति भारत की साहित्यिक अनुश्रुति द्वारा है। अन्य इन्डो-ग्रीफ राजाओं के विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है वह लगभग सम्पूर्ण अंशों में मुद्राओं द्वारा ही उपलब्ध होता है। मिनेन्डर ने बौद्ध धर्म में जो अभिरुचि दिखाई उसका परिणाम उसके यशःश्री की दृष्टि से हितकर ही हुआ। अपनी धर्मानुरागिता और दार्शनिक जिज्ञासा वृत्ति के कारण वह भारतीय इतिहास में अमर हो गया है। 'मिलिन्द पन्हो' नामक बौद्ध ग्रन्थ में मिलिन्द नामक जिस यूनानी नरेश का उल्लेख किया गया है वह निश्चय रूप से मिनेन्डर था। इस ग्रन्थ में वह एक महान् विद्वान्, तर्कशील जिज्ञासु व्यक्ति तथा धर्म के संरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। वह प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु नामसेन से बौद्ध धर्म के विषय में सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रश्न करता था। क्षेमेन्द्र के 'अवदानकल्पता' ग्रन्थ में भी मिनेन्डर का उल्लेख किया गया है और उसका शुद्ध संस्कृत नाम 'मिलिन्द' दिया गया है। बौद्ध साहित्य में उसकी काफी वैसी ही प्रतिष्ठा है जैसी उपनिषदों में विदेह सम्राट जनक की। उसकी राजधानी शाकल थी जिसका वर्णन 'मिलिन्द पन्हो' में एक महान व्यापारिक केन्द्र के रूप में हुआ है, जो रमणीय भूखण्ड में बसा हुआ था और जिसकी शोभा आराम-उद्यान-उपवन-तड़ाग-पुष्करिणी से युक्त होने के कारण वन, पर्वत और नदी के स्वर्ग के समान हो रही थी। इस ग्रन्थ में मिनेन्डर के लिए कहा गया है कि उसने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप कर संसार से सन्यास ले लिया और न केवल एक बौद्ध भिक्षु बल्कि अर्हत हो गया।

स्ट्रेबो ने मिनेन्डर का उल्लेख डेमिट्रियस के साथ किया है और उसे भारतीय विजयों का गौरव भी प्रदान किया है। उसने यह भी लिखा है कि "मिनेन्डर ने सिकन्दर से भी अधिक देश जीते और वह हारफेरिज (ब्यास नदी) को पार करके आइसेमस नदी तक पहुँच गया। मिनेन्डर के सिक्के काबुल से लेकर मथुरा और बुन्देलखंड तक पाये जाते हैं। मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर यह कह सकना अनुचित नहीं कि मिनेन्डर का राज्य मथुरा तक फैला हुआ था।"

टार्न के अनुसार मिनेन्डर की मृत्यु १५०-१४५ ई० पू० के लगभग हुई। उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य काफी दुर्बल और शक्तिहीन हो गया। उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर स्ट्रेबो द्वितीय के नाम खुदे हुये हैं। परन्तु उनके

सम्बन्ध में हमें अन्य किसी महत्वपूर्ण बात का पता नहीं लगता। मिनेन्डर के उत्तराधिकारियों का नाश शकों द्वारा हुआ। इस प्रकार युथिडेमस के कुल की राजसत्ता का भी भारत भूमि से नाम-निशान मिट गया।

यूनान का भारत पर प्रभाव

यूनानी का भारत पर प्रभाव पड़ा या नहीं यह एक विवाद का विषय है। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान की दीवाल यूनानी नींव पर ही खड़ी है पर यह यथार्थ नहीं है। दूसरे विद्वान इस पक्ष में हैं कि भारत पर कोई यूनानी प्रभाव न पड़ा और गान्धार शैली तथा मुद्राओं को छोड़कर कोई यूनानी अस्तित्व भारत में न टिक सका।

जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। मेगस्थनीज ने तो साफ-साफ लिख दिया है कि सिकन्दर का भारतीय प्रवास केवल १९ माह ही रहा और सेल्यूकस सिन्धु तट से वापस चला गया। यदि कोई प्रभाव आक्रमण का पड़ा भी तो सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो गया। हाँ, सिकन्दर ने विदेशों से भारत का सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग अवश्य खोल दिया जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत के पश्चिमी-उत्तर भाग में लगभग २० वर्ष तक डेमेट्रियस और उसके उत्तराधिकारी जमे रहे। उस काल में दोनों सभ्याताएँ परस्पर मिल गईं पर यह नहीं कहा जा सकता कि किस सभ्यता का प्रभाव अधिक रहा। कुषाण वंशीय राजाओं के अभिलेखों से यही ज्ञात होता है कि यूनानियों में हिन्दू-धर्म स्वीकार करने की मनोवृत्ति थी फिर भी विभिन्न क्षेत्रों में जो आदान-प्रदान हुए थे वे इस प्रकार हैं—

ज्योतिष के क्षेत्र में—यूनानी ज्योतिष का कुछकुछ प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर दिखाई पड़ता है। भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने यूनानी ज्योतिष से कुछ बातें अवश्य सीखीं पर साथ ही उन्होंने उन सिद्धान्तों को बिल्कुल अपने साँचे में ढालने की कोशिश की और वे अपनी प्रयास में सफल भी हुए। भारतीयों ने कुछ यूनानी सिद्धान्तों को तो ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। जैसे राशिचक्र, ज्योतिष के 'रोमक' और 'पोलिश' सिद्धान्त देखकर यह कहना पड़ता है कि भारतीय ज्योतिष पर निश्चय ही यूनानी ज्योतिष का प्रभाव है। बराहमिहिर नामक प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों ने कहा है कि 'यवन लोग मलेच्छ हैं, किन्तु ज्योतिष शास्त्र के पण्डित होने के कारण ऋषियों ने की भाँति पूजनीय हैं।' हमारे देश के विद्वान दूसरे विद्वानों से ईर्ष्या नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने उनके ज्ञान से लाभ उठाने में सफलता प्राप्त की। हमने यूनानियों से जो कुछ सीखा उस ज्ञान में काफी उन्नति करके कुछ ही समय पश्चात् अरब वालों को सिखाया जिनसे योरप वालों ने सीखी।

मुद्रा-निर्माण के क्षेत्र में—यूनानियों के भारत में बसने के पूर्व यहाँ सुन्दर मुद्राएँ नहीं बनाई जाती थीं, किन्तु हम लोगों ने उनसे मुद्रा बनाने की कला सीखी और सुन्दर तथा सुडौल सिक्के बनाने लगे। सिक्कों पर नाम उत्कीर्ण करवाने की प्रथा भी यूनानी लोगों से ही अपनाई गई। गुप्तकाल में हमारे देश की सबसे सुन्दर मुद्राएँ बनाई गई थी क्योंकि इस समय तक भारतवासियों ने यूनानियों से मुद्रा-निर्माण करने की कला सीख ली थी। हाँ इन गुप्त सिक्कों में एक बड़ी विशेषता भी है जो यूनानी सिक्कों में

नहीं है; वह यह कि इन मुद्राओं पर कविताओं में लेख खुदे हैं। यह बात बिल्कुल भारतीय है और यह यूनानियों की देन नहीं है।

मूर्ति-निर्माण-कला के क्षेत्र में—पीछे यह बताया गया था कि सिकन्दर के आक्रमण के बहुत समय बाद हमारे देश के पश्चिमोत्तर भाग में बसे हुए यूनानियों के प्रभाव से यहाँ एक विशेष प्रकार की कला का उदय हुआ। इसे गान्धार-कला कहते हैं। गान्धार प्रदेश में इसका जन्म होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है। गान्धार में बुद्ध भगवान् की जो मूर्तियाँ बनाई गई थीं उन पर यूनानी प्रभाव है। यहाँ यह भी जान लेना जरूरी है कि गान्धार-कला का प्रचार सम्पूर्ण भारत में नहीं हो सका और बहुत शीघ्र गुप्तकालीन कला का रंग छा गया।

साहित्य के क्षेत्र में—योरप के विद्वान तो यह भी कहते हैं कि यूनानियों के साहित्य ने भी हमारे साहित्य को प्रभावित किया था। उनका यह विश्वास है कि यूनान के महाकवि होमर के ग्रन्थों 'इलियड' और 'ऑडेसी' का प्रभाव हमारे 'महाभारत' और 'रामायण' पर है। यह मत बिल्कुल ही असत्य है। हमारे ये दोनों महाकाव्य स्वतंत्र रूप से लिखे गए थे और इन पर किसी प्रकार का बाहरी प्रभाव नहीं है। होमर के दोनों महाकाव्यों की रचना के हजारों वर्ष पहले से हमारे दोनों महाकाव्यों की कथाएँ मौखिक रूप से चल रही हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यूनानियों से हमने बहुत सी चीजें सीखीं किन्तु उनको अपने साँचे में ढालने में भी हमने कोई ढिलाई नहीं की।

भाग २. शकों का आक्रमण और भारत में शक-पह्लव

भारतीय साहित्य में जिन विदेशी जातियों का उल्लेख आता है उनमें सबसे प्रथम स्थान 'शक' जाति को प्राप्त था। उसके बाद 'यवन' और पह्लव जातियाँ आती थीं। संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर शक, यवन, पह्लव, शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे विदेशी जातियों का ही बोध होता था। भारत में जितने भी विदेशी कबीले आये और यहाँ बस गए उन सबको परवर्ती युग में '**व्रात्य**' क्षत्रिय कहा ज़ाने लगा। परन्तु यह वास्तव में उनको हिन्दू धर्म में मिलने के प्रयत्न का प्रतिफल ही था। ये सभी जातियाँ विदेशी थीं और इनके लिए साधारणतया 'मलेच्छ' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन जातियों में सबसे प्रथम यूनानियों ने ही भारत में प्रवेश किया जिनके विषय में हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। जिन विदेशी विजेताओं ने उत्तर-पश्चिम भारत से यूनानी सत्ता का उन्मूलन किया वे थीं शक, पहलव या पार्थियन और यू ची अथवा कुषाण। ये लोग मूल रूप में मध्य एशिया की घुमक्कड़ जातियों में से किसी एक शाखा से सम्बन्ध रखते थे। अपने पड़ोसी कबीलों के आक्रमणों से भयभीत होकर और अपनी स्वाभाविक संक्रमणशीलता के कारण शकों ने विभिन्न स्थानों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। लगभग १७५-१६५ ई० पू० हियंग-नु (Hiung-nu) हूण लोगों ने युयूची के महान और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। युह ची लोगों को टोकेरियन (Tocharians) और तुरुष्क भी कहा जाता है। हूणों द्वारा पश्चिमी चीन से निकाल दिये जाने पर ये लोग पश्चिम दिशा की ओर बढ़े जहाँ पर उनकी मुठभेड़ एक अन्य घुमक्कड़ जाति से हुई। इस जाति क नाम स्से (Sse) या शक था जो सर दरिया (Jaxartes or Syr Darya)

के तटों पर रहते थे। यह मुठभेड़ सम्भवतः शकों के आदि देश में हुई थी जहाँ पर यू ची जाति से पराजित होने के बाद उनको दक्षिण की ओर हट जाना पड़ा। अपने घर से निकाले जानेपर उनको भारतके सीमावर्ती प्रदेशों में शरण लेनी पड़ी कुछ दिनों बाद विजेता यू ची लोगोंको वु-सन नामक एक अन्य जाति द्वारा पराजय सहन करनी पड़ी और जो भू भाग उन्होंने शकोंसे हस्तगत किया था, उसे उन्हें छोड़ देना पड़ा। वे आकसस (Oxus) की घाटी में बस गए और वहीं से दक्षिण में बैक्ट्रिया पर अपना कुछ अधिकार जताने लगे। यूही लोगों द्वारा स्वस्थान से निकाले जाने पर शकों ने अपनी विश्रृंखलित शक्ति का संग्रह करना आरम्भ कर दिया और वे बैक्ट्रिया के हून्डो-ग्रीक शासकों पर आक्रमण करने लगे। शीघ्र ही वे एराकोशिया (Arachosia) और उत्तरी गैड्रोशिया (North Gedrosia) तथा पंजाब में दिखलाई पड़ने लगे। परन्तु काबुल में उनका प्रवेश नहीं हो सका क्योंकि वहाँ पर अब भी यूनानियों की राजसत्ता कुछ सक्रिय थी। अतः शक लोग भारत में खैबर दर्रे के मार्ग से होकर नहीं अपितु बलूचिस्तान की ब्राहुई पर्वत-श्रेणियों और बोलन के दर्रों से होकर प्रविष्ट हुए। बैक्ट्रिया के यवन राजाओं की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चली थी जिससे वे इन बर्बर आक्रान्ताओं के सामने ठहर नहीं सके। आगे बढ़ कर शक लोग एरियाना (पश्चिमी और दक्षिणी अफगानिस्तान) तथा पूर्वी ईरान में बस गये। दक्षिग पश्चिम की ओर मुड़ने पर शकों ने पार्थवों से लोहा लिया जिनका वक्षु (Oxus) नद के पार राज्य था। पार्थवों का राज्य शकों के प्रसार को रोक नहीं सका। फ्रात द्वितीय नामक पार्थव नरेश उनको रोकने के प्रयास में मारा गया। पाँच वर्ष बाद आर्तवानुस प्रथम को भी अपने प्राण इसी कार्य में खोने पड़े। परन्तु जब शकों के प्रतापीपार्थव नृपति मिश्रादात द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) से लोहा लेना पड़ा तो उनका न केवल प्रसार ही रुक गया वरन् इस शूर शासक ने उनको दक्षिण पश्चिम की ओर खदेड़ कर देलमण्ड घाटी की तलहटी में कर दिया। बाद में इसी स्थान का नाम शक स्थान पड़ गया। यहीं से शक लोग आर्केशिया (कन्दहार) तथा बलूचिस्तान हो कर भारत पहुँचे और सिन्ध नदी के निचले काँठे सिन्ध में बस गये। यह स्थान शकों के निवास के लिए पर्याप्त सुविधाजनक था, अतएव यहाँ रहकर भारत के विभिन्न भागों में उन्होंने अपने राज्य और उपनिवेश स्थापित किए। शकों ने पाँच विभिन्न राजकुलों की स्थापना की। ये राजकुल इस प्रकार थे—(१) सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का शक-कुल, (१) उत्तर-पश्चिम के क्षत्रप, (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और (५) उज्जैन के क्षत्रप।

पह्लवों का शासन-काल

पह्लव राजकुल का प्रथम व्यक्ति वोनोनिज था। उसने अपनी सत्ता एराकोशिया और सीस्तान में स्थापित की। रैप्सन का मत है कि वह पूर्वी ईरान पर शासन करता था। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने 'महारजस रजरजस महतस' अर्थात् महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। उसके सिक्कों पर उसके भाई स्पलिराइसिस (Splgadames) और स्पलहोरिस (Spalhores) तथा उनके भतीजे स्पलगदमिस (Splgadames) के नाम भी खुदे हुए हैं जिससे यह प्रकट होता है कि लेनोनीज को शासन-कार्य में इनसे सहायता प्राप्त होती थी। संभवतः ये विजित प्रान्तों के उसके प्रतिनिधि शासक थे। वोनोनीज ने जो सिक्के चलवाये उन' पर यूक्रैटाइड्ज तथा उसके वंशजों द्वारा चलवाये गए सिक्कों की स्पष्ट छाप है।

वोनोनीज का उत्तराधिकारी स्पलराइसिस था। उसने भी संभवतः अपने नाम के सिक्के चलवाये। उसके सिक्कों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वह पश्चिमोत्तर भारत के शक-वंशीय शासक एजेसा का सम्राट था। कुछ सिक्कों पर सामने की ओर स्पलराइसिस का नाम खुदा है और खरोष्टी लिपि में पीछे की ओर एजेस का। यदि एजेस स्पलिराइसिस का प्रतिनिधि शासक था, जैसा कि वह था. तो यह अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है कि पह्लवों की राजसत्ता वास्तविक अर्थों में इस समय तक तक्षशिला तक फैल चुकी थी।

इण्डो-पार्थियन नरेशों में सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा गोन्डोफरनिस था। गोन्डोफरनिस ने शनैः शनैः अपनी शक्ति को बढ़ाया और सम्राट बन गया। संभवतः उसने पार्थियन साम्राज्य के कतिपय प्रदेशों को भी विजित किया। गोन्डोफरनिस ने अपने बाहुबल से जिस साम्राज्य का निर्माण किया वह काफी विशाल था परन्तु उसके पश्चात् यह छिन्न-भिन्न होने लगा। पता चलता है कि फकोरोज पश्चिमोत्तर पंजाब में और सेनेवेरीज सीस्तान में शासन कर रहा था। ये दोनों संभवतः गोन्डोफरनिस के उत्तराधिकारी थे। उनके राज्यकाल में पह्लव वंश की शक्ति काफी घट गई और कुषाणों ने भारत में पार्थियन राजसत्ता का मूलोच्छेदन कर दिया।

प्रश्न

१–मिनेंडर कौन था? उसके भारतीय आक्रमण पर प्रकाश डालिये।

२. प्रथम शताब्दी ई० में भारत पर विदेशी आक्रमणों का संक्षिप्त विवरण दीजिए। इसका भारत पर क्या प्रभाव पड़ा?

३. क्या हमने प्राचीन काल में यवन सभ्यता से कुछ आदान-प्रदान किया था?

4. Write a brief account of the establishment of Indo-Bactrian rule in India and carefully summarise the achievements of Menander I. (1957.)

5. Give a brief account of Greek influence on Indian literature sculpture and astronomy. (1957.)

६. शक कौन थे? भारतीय इतिहास में उनका क्या स्थान है?

७. पह्लवों के विषय में आप क्या जानते हैं?

अध्याय १७

कुषाण काल

शक, पह्लव और यवन जातियों की तरह कुषाण लोग भी एक विदेशी जाति के थे। भारत की विदेशी आक्रान्ता जातियों में सबसे अधिक प्रभावशालिनी कुषाण जाति थी। इस जाति ने देश की राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ा। कला के विकास तथा धार्मिक जीवन में भी इसका काफी महत्वपूर्ण योगदान था। कुषाणों के मूल और प्राचीन इतिहास का विवरण हमें चीनी ग्रन्थों से प्राप्त होता है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार कुषाण लोग यू-ची जाति की शाखा के थे। मूलतः यू-ची लोग उत्तरी-पश्चिमी चीन के कानूस नामक प्रान्त में निवास करते थे। शकों के विषय में पढ़ते हुए हम यह जान चुके हैं कि १७५-१६५ ई० पू० के लगभग ह्यग-नू लोगों ने नुयू-ची के महान् और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। ह्रूग-नू जाति के द्वारा पराजित और पश्चिमी चीन से निर्वाचित कर दिये जाने पर ये लोग पश्चिम की ओर बढ़े जहाँ पर एक अन्य खानाबदोश जाति से उनकी मुठभेड़ हुई। यह जाति थी स्से (Sse) अथवा शक जो सररिया (Jaxartes or Syr Darya) के तटों पर रहती थी। पश्चिम की ओर आगे बढ़ने के पहले यू-ची लोगों की इली नदी की घीटी में निवास करने वाली एक जाति से मुठभेड़ हुई थी। इस जाति का नाम वू-सुन था। इस मुठभेड़ में वू-सुन जाति के सरदार को समरभूमि में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े और यू-ची लोगों की जीत हुई। वू-सुन जाति को पराजित और उनके सरदार का बध करने के उपरान्त यू-ची जाति के लोग एक उपयुक्त निवास-स्थान की खोज में पश्चिम दिशा की ओर बढ़े। इसी समय यह जाति दो शाखाओं में विभक्त हो गई। इस जाति के कुछ लोग दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े और तिब्बत की सीमा में निवास करने लगे। यहाँ पर रहने वाले "सिआव यू-ची" अथवा छोटी जाति के कहलाये। अन्य लोगों ने पश्चिम की ओर ही अपने प्रसार को जारी रक्खा। ये लोग मुख्य शाखा के थे। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, यू-ची जाति के लोगों ने सरदरिया के उत्तर में बसे हुए शकों को पराजित कर दिया और उन्हें निर्वासित कर उनकी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु अपने इस नवीन आवास में बृहत्तर शाखा के यू-ची अधिक काल तक के लिए न ठहर सके। जिस जाति को उन्होंने पहले पराजित कर दिया था उसी जाति ने इस समय उनसे बदला लेने का विचार किया। इस विचार से ही प्रेरित होकर वू-सुन जाति के नये नेता ने जो पुराने सरदार का ही पुत्र था, हूग-नू की सहायता से १४० ई० पू० के लगभग यू-ची लोगों को उनके नये निवास-स्थान से खदेड़ दिया। विवश होकर वे आक्सस (वृक्षु) नदी पार कर ताहिया या तुषार प्रदेश में प्रविष्ट हुए। ताहिया प्रदेश के निवासी अधिकांशतया व्यापारी थे। उनके समाज में दृढ़ राजनीतिक संगठन नहीं था और उनकी प्रवृत्ति युद्ध की ओर भी बिल्कुल नहीं थी। फलतः उन्होंने यू-ची लोगों की अधीनता स्वीकार कर ली। यहाँ रह कर

यू-ची जाति वालों ने अपनी शक्ति का संगठन किया और बाक्त्री के निवासियों को उत्पीड़ित किया। धीरे-धीरे उन्होंने बाख्त्री और सोदियना को विजित कर लिया और ई० पू० की प्रथम शताब्दी में अपने घुमक्कड़पन का परित्याग करके स्थायी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। इस समय यू-ची लोग पाँच भागों में विभक्त हो गये जिनके चीनी नाम इस प्रकार थे—हियू-मी, चुयागमो, कुएई चुआँग. हिचुन काओ-फू। प्रत्येक के ऊपर एक ही साहू अथवा साही शासन करता था। ई० शताब्दी के प्रारम्भ में कुएइचुआंग का राज्य कुषाण नामक साही या सरदार को मिला। इसने शेष चारों राज्यों को पराजित कर दिया और अपने अधीन कर लिया। फिर इन सबको मिलाकर उसने एक विशाल राज्य का निर्माण किया। कुषाण की अधीनता में हो जाने पर समत यू-ची जाति को कुषाण ही कहा जाने लगा। कुषाण का नाम कुजुल-कदफिस भी था।

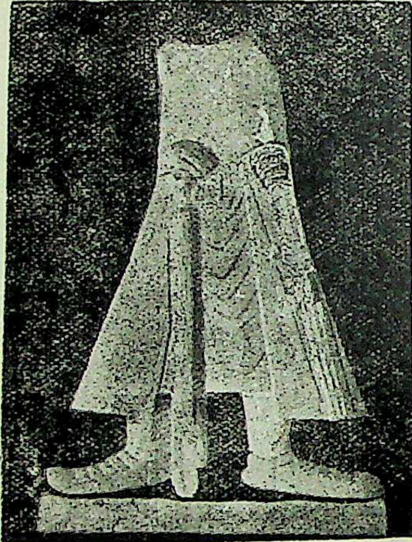
कुजुल कदफिस—कुजुल कदफिस के नेतृत्व में कुषाण जाति के लोगों में एक दृढ़ राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई। वे आगे बढ़ने का विचार करने लगे। कुजुल ने अपनी जाति के लोगों को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया। अपनी शक्ति का संगठन कर चुकने के उपरान्त कुजुल ने अपने घोड़े की बाग भारतीय सीमा की ओर मोड़ी। उसने हिन्दुकुश पार किया और पार्थियन प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाया। काबुल की घाटी और अरमकोशिया पर कुजुल का अधिकार हो गया। काबुल में जिस ग्रीक सत्ता का सिक्का जमा हुआ था उसे कुजुल कदफिस ने उखाड़ फेंका। कुजुल कदफिस ने पार्थिया पर अक्रमण किया और किपिन (संभवतः गन्धार) तथा दक्षिण अफगानिस्तान को जीत लिया। उसने जिस साम्राज्य की स्थापना की उसका विस्तार वक्षु से लेकर सिन्ध तक था। उसके साम्राज्य मे बैक्ट्रिया, सम्पूर्ण वर्तमान अफगानिस्तान. ईरान का पूर्वी छोर तथा भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त के पार्श्ववर्ती सम्मिलित थे। इसमें कोई सन्देह नही कि कुजुल कदफिस का जीवन सैन्य-संघर्षों और विजय प्राप्त करने के सफल प्रयत्नों का जीवन था। अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में कुजुल का जीवन-प्रदीप बुझ गया।

वीम कदफिसेज—कदफिसेज अथवा कदफिस प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र सिंहासनारूढ़ हुआ। फान-ये नामक चीनी इतिहासकार ने उसका नाम वेमा (येन) कदफिसेज दिया है, कि जिसका विस्तृत विवरण हमें उसके सिक्कों द्वारा होता है। चीनी साक्ष्य के द्वारा वेमा या कदफिसेज ऐसा प्रथम कुषाण सम्राट था जिसने अपने राज्य की सीमा तियन-चिओ (Tientchou) या भारत तक विस्तृत की। उसके सिक्के काफी भागों में पाये गए हैं जिससे मालूम होता है कि उसका राज्य-विस्तार बहुत दूर तक था। यह तो स्पष्ट ही है कि सिन्ध नदी पार कर उसने तक्षशिला और पंजाब को विजित किया। उत्तर प्रदेश के कुछ भागों पर भी सम्भवतः उसकी तूती बोलने लगी। वीम कदफिसेज की सैनिक सफलताओं का कुषाण साम्राज्य की दृष्टि से तो महत्व है ही उनका सांस्कृतिक और व्यापारिक महत्व भी बहुत अधिक है। डा० राय चौधरी के शब्दों में, "कदफिसेज राजाओं की विजयों ने चीन और रोमन साम्राज्य तथा भारत के मध्य व्यापार के मार्ग को खोल दिया। रोम का सोना इस प्रदेश में प्रभूत परिमाण में आने लगा, जो सिल्क, मसाले तथा रत्नों के मूल्य के रूप में था।" इस कथन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष रोमन साम्राज्य के देशों में अपने मसाले, अन्न, बहुमूल्य वस्त्र तथा अन्य सामग्रियाँ निर्यात करता था जिनके बदले में उसे सोने और चाँदी के सिक्के प्राप्त होते थे। रोम द्वारा प्राप्त होने वाले सोने का प्रयोग

वीम कदफिसेज ने सुवर्ण-मुद्राओं के प्रचलन के कार्य में किया। उसने अपने नाम से सोने के सिक्के चलवाये।

कनिष्क

वीम कदफिसेज के बाद संभवतः कुषाण राज्य-सिंहासन पर समासीन होने वाला कनिष्क ही था। निस्सन्देह कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी और प्रभावशाली सम्राट था और प्राचीन भारत के महान सम्राटों की पंक्ति में उसका स्थान अत्यन्त गौरवशाली है।



चित्र ८—कनिष्क की मूर्ति

कनिष्क की सैन्य सफलताएँ—कनिष्क न केवल कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट था वरन् वह एक वीर विजेता तथा महत्वाकांक्षी शासक भी था। अपने पिता और पितामह के द्वारा स्थापित साम्राज्य की सीमाओं को वह और अधिक विस्तृत करना चाहता था। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उसने देशों को विजित करने का निश्चय किया। उत्तर, दक्षिण और पूर्व तीनों दिशाओं में कनिष्क ने अपनी विजयों द्वारा अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया। सर्वप्रथम उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को अपने अधिकार में किया। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार कनिष्क के द्वारा काश्मीर में कई नगरों की स्थापना भी कराई गई थी। कनिष्क ने पार्थियन नरेश को युद्ध में पराजित किया। उसके पहले कुजुल कदफिसेज ने भी पार्थियन राजा को हराया था। अपनी पराजय का बदला लेने की भावना से पह्लव राजा ने कनिष्क के शासन-काल के प्रारम्भ में ही उस पर आक्रमण कर दिया परन्तु उसका मनोरथ सफल न हो सका। यद्यपि अभी कनिष्क अपने राज्य का ठीक से संगठन भी न कर पाया था तथापि उसने पह्लवों को युद्ध में पराजित कर दिया और इस बार फिर उनको विजेता के हाथों अपमान सहना पड़ा। चीनी और तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार कनिष्क ने साकेत और पाटिलपुत्र पर भी अपना अधिकार किया था। यहाँ के शासकों के विरुद्ध उसके सैनिक-प्रयत्न पूर्ण रूप से सफल हो गये। कहा जाता है कि पाटिलपुत्र की विजय के सम्बन्ध में ही उसे प्रसिद्ध विद्वान अश्वघोष से भेंट करने क सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अश्वघोष को वह अपने साथ अपनी राजधानी लेता गया और उसका उचित सम्मान किया था। कनिष्क ने चीन के विरुद्ध भी युद्ध किये। पहले तो उसे इस युद्ध में असफलता ही प्राप्त हुई परन्तु बाद में उसने चीन के सम्राट को अपनी शर्त मानने के लिए विवश कर दिया। चीन के साथ कनिष्क के संघर्ष का विवरण बौद्ध अनुश्रुतियों द्वारा प्राप्त होता है। चीन देश का सुप्रसिद्ध सेनानायक पान-चाऊ बड़ा वीर योद्धा और सफल विजेता था। लगभग ईसा की पहली शताब्दी के अन्तिम भाग में उसने चीन देश के पश्चिमी राज्यों पर एक के बाद दूसरे पर धावा बोलना शुरु कर दिया और उन पर अपने देश की विजय-

पताका फहराने लगा। देखते ही देखते काशगर, यारकन्द और खोतान परपान-चाऊ का प्रभुत्व स्थापित हो गया। पड़ोस के राज्यों में भी उसके आतंक और प्रभाव का सिक्का जम गया। स्वयं भी एक महत्वाकांक्षी शासक होने के नाते कनिष्क पान-चाऊ की बढ़ती हुई शक्ति सहन नहीं कर सका। उसे अपने राज्य के लिए भी उसकी ओर से भय था, अतएव उसने चीनी सेनानायक से युद्ध ठानने का विचार किया। यह एक सोचने की बात है कि इस समय चीन की साम्राज्य-सत्ता कितनी सुदृढ़ और प्रभावशाली थी जिसको चुनौती देना साधारण कार्य नहीं था। पान-चाऊ लगभग कैस्पियन के तट पर पहुँच चुका था और रोमन साम्राज्य की सीमा पर खड़ा था। अपनी विजयों के फलस्वरूप उसने चीन देश के राजनीतिक गौरव का सिक्का लोगों के हृदय में जमा दिया था। परन्तु इस बात का तनिक भी विचार न करते हुए कनिष्क ने चीन के सम्राटों की भाँति 'देवपुत्र' की उपाधि धारण की और अपना एक राजदूत भेजकर चीनी राजकुमारी के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। पान-चाऊ को यह प्रस्ताव अपने सम्राट और देश के लिए बड़ा ही अशोभन और अपमान-जनक जान पड़ा। उसने भारतीय राजदूत को बन्दी बना लिया और चीन भेज दिया। अब स्पष्टया युद्ध की घोषणा कर देने के अतिरिक्त कनिष्क के पास कोई दूसरा मार्ग नहीं था। उसने अपने सेनानायक की अधीनता में सत्तर हजार अश्वारोहियों की एक सुदृढ़ सेना चीनी सेनानायक के विरुद्ध भेज दी। मार्ग में पर्वतीय प्रदेश की कठिनाइयों द्वारा कनिक की सेना को भयंकर क्षति उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि कनिष्क की बुरी तरह हार हुई। संधि स्वरूप कनिष्क ने चीन के सम्राट को वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

परन्तु यह सन्धि कनिष्क को अतीव कष्टकर जान पड़ी। वह उपयुक्त अवसर की खोज में बैठा था कि कब अवसर मिले और वह चीनी सम्राट को कर देना बन्द करे तथा उसके साथ अपनी बराबरी दिखलाये। इधर पान-चाऊ की मृत्यु हो जाने से पास-पड़ोस के देशों पर चीन की जो धाक पहले जम चुकी थी वह कम हो गई। पान-चाऊ का युवा पुत्र पान-याँग, जिसके ऊपर अपने पिता के उत्तरदायित्व वहन का भार आ पड़ा था, एक अनुभवहीन सेनानायक प्रमाणित हुआ। काश्मीर प्रदेश के मार्ग द्वारा पामीर की उपत्यकाओं से होता हुआ कनिष्क एक बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिये पहुँच गया। इस युद्ध में कनिष्क की विजय हो गई। चीन के सम्राट को वार्षिक कर भेजने के अपमानजनक ऋण से वह उऋण हो गया। इतना ही नहीं यारकन्द,



चित्र ९—कनिष्क का साम्राज्य

खोतान और काशगर प्रान्तों को कनिष्क ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

कनिष्क का धर्म—जैसा कि डा० राय चौधरी महोदय ने कहा है कनिष्क का यश उसकी विजयों पर उतना अधिक अवलम्बित नहीं जितना कि साक्यमुनि के धर्म को उसके राजाश्रय प्रदान करने पर। उसकी मुद्राओं तथा पेशावर अभिलेख (Casket) से यह विदित होता है कि उसने वास्तविक रूप में संभवतः अपने शासन-काल के प्रारम्भ में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पुरुषपुर अथवा पेशावर में उसने एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध तीर्थ के रूप में नवीं शताब्दी तक वर्तमान था जबकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वीरदेव ने उसकी यात्रा की थी जो मगध के नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। कनिष्क के चैत्य का उल्लेख अलबरूनी नामक प्रख्यात मुस्लिम यात्री ने भी किया है।

परन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकूल कनिष्क ने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उसके विशाल साम्राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायी निवास करते थे और सबके साथ उसने धार्मिक निष्पक्षता तथा सहिष्णुता का व्यवहार किया। उसके सिक्कों से उसकी धर्म सम्बन्धिनी धारणा का परिचय हमें स्पष्टतया हो जाता है।उसके सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र मिलते हैं। इन देवताओं के नाम इस प्रकार थे—हेराक्लीज, सेरापिज, सूर्य, चन्द्र, शिव और अग्नि आदि। उसकी राज-सभा को जो गुणवान व्यक्ति समलंकृत करते थे उनमें सभी धर्मों के अनुयायी सम्मिलित थे।

कनिष्क के समय की बौद्ध संगीति—सम्राट् कनिष्क ने केवल बौद्ध धर्म स्वीकार ही नहीं कर लिया वरन् इसके सिद्धान्तों को समझने की उसने चेष्टा भी की। परन्तु इस कार्य में उसको कठिनाइयों का अनुभव हुआ क्योंकि इस समय तक पहुँचकर बौद्ध धर्म का स्वरूप काफी अस्पष्ट हो गया था। सिद्धान्तों और धर्म के मूल तत्वों के प्रश्न पर नाना प्रकार के विवाद उठ खड़े हो गए थे। विभिन्न-धर्माचार्यों के मतों में पारस्परिक द्वंद्व काफी प्रचुर परिमाण में उत्पन्न हो गए थे। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, पेचीदगी और जटिलता के भार से बौद्ध धर्म की सरल और बोधगम्य शिक्षायें दब गई थीं। ऐसी स्थिति में उनको हृदयंगम करना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त कुछ मौलिक प्रश्नों पर विभिन्न धर्माचार्यों के एकमत होने की आवश्यकता भी बहुत बलवती होती है। इन्हीं सब कारणों से कनिष्क के समय में बौद्ध संगीत का आयोजन करना अनिवार्य हो गया। बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा गया है कि कनिष्क के राजत्व-काल में जो बौद्ध-संगीति बुलाई गई थी उसका उद्देश्य विवादास्पद सिद्धान्तों का निर्णय करना था। इस चतुर्थ बौद्ध-संगीति का आयोजन काश्मीर के कुण्डलवन विहार में किया गया था। वसुमित्र ने संगीति के अध्यक्षपद को सुशोभित किया था और अश्वघोष ने उपाध्यक्ष का कार्य भार सम्भाला था। इस अधिवेशन में धर्म-ग्रन्थों के गढ़ और जटिल स्थलों की परस्पर तर्क-वितर्कों द्वारा पूर्ण रूप से विवेचना की गई। इस सम्बन्ध में जो वादविवाद हुए उनको भाष्य रूप में संकलित कर लिया गया। ये भाष्य विभाषा शास्त्र कहलाये। त्रिपिटक पर एक प्रामाणिक भाष्य की रचना हुई जिन्हें कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया। उनको एक पत्थर के सन्दूक में रखकर उसने उनके ऊपर से एक स्तूप का निर्माण करा दिया था। इस संगीति ने दो मुख्य कार्य किए। एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्ध दर्शन की कतिपय नवीन विचार-सारणियों के विकास के प्रकाश में धर्म-ग्रन्थों को नए ढंग पर लिपिबद्ध किया। नवीन लिपि-करण में संस्कृत भाषा का व्यवहार किया गया था। संगीत का दूसरा

कार्य महायान बौद्ध शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क संरक्षक बना। इस बौद्ध संगीति में पाँच सौ विद्वानों ने भाग लिया था जो देश के प्रत्येक भाग से आये थे।

महायान मत का उदय—बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क के राजत्वकाल में होने वाली चतुर्थ संगीति का महत्वपूर्ण स्थान है। यह बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीन युग के आरम्भ होने को सूचित करती है। वह(नवीन युग)था महायान का उदय। जब बौद्ध धर्म विदेशी आक्रमणकारियों का धर्म हो गया तो इसका मूल रूप पूर्ण रूप से विलुप्त हो गया। जब से बौद्ध धर्म भारत की सीमा पार करके दूसरे देशों में गया, तभी से उसके प्राचीन रूप में परिवर्त्तन होने लगा और उसमें भिन्न-भिन्न धर्मों के तत्व आ मिले। पर महायान पंथ के ऊपर विदेशी प्रभावों की अपेक्षा भागवत धर्म का प्रभाव अधिक स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

हीनयान और महायान धर्मों में एक मौलिक अन्तर है। हीनयान धर्म का मोक्ष पर विशेष आग्रह है और मोक्ष के लिए वह व्यक्ति की इस कार्य के हेतु निरन्तर प्रयत्नशीलता को ही सबसे बड़ा साधन बतलाता है। बुद्ध ने अपने शिष्य से इस बात को जोर देकर कहा था कि 'तुम अपने शरण्य आप बनो, अपने लिए दीपक बनो' आदि। उन्होंने यह भी कहा कि 'अपने निर्वाण का प्रयत्न तुम स्वयं परिश्रमपूर्वक करते रहो।' परन्तु महायान मत में भक्ति को समुचित स्थान दिया गया। एक करुणामय उपास्य देव की कृपाशीलता पर जोर दिया गया। हीनयान धर्म में बुद्ध केवल एक शास्ता के रूप में ही थे परन्तु महायान धर्म में उन्हें देवता का स्थान दिया गया। उनको परमात्मा समझा जाने लगा और उनकी मूर्त्ति बनाकर लोगों ने उनकी पूजा करनी भी प्रारम्भ कर दी। महायान धर्म में अवतारवाद के सिद्धान्त को स्थान मिला।

कनिष्क का निधन—कुछ दन्तकथाओं द्वारा विदित होता है कि कनिष्क का निधन दुःखद और करुण रूप में हुआ था। उसके सेनापतियों ने उसके विरुद्ध षडयंत्र करके उसका वध कर दिया। उसके सरदार और सेनापति उसके युद्धों से तंग आ गए थे जिससे उन्होंने रात्रि के समय उसकी हत्या कर डाली।कुछ विद्वानों का कथन है कि कनिष्क ने ४५ वर्ष तक राज्य किया परन्तु अन्य विद्वानों का विचार है कि उसने २३ वर्ष तक राज्य किया था। यही मत हमें अधिक मान्य प्रतीत होता है। इस प्रकार उसका निधन (७८+२३) १०१ सन् ईस्वी के लगभग हुआ।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट् कनिष्क था, जिसके देहावसान के अनन्तर इस वंश का राजनीतिक गौरव क्षीण होने लगा। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में से कोई उसके समान पराक्रमी अथवा प्रभावशाली नहीं हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। कनिष्क के बाद हुविष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ। हुविष्क के विषय में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। इसका एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था। बौद्ध अनुश्रुति कनिष्क की भाँति उसे भी बौद्ध धर्म का अनुयायी तथा पोषक बतलाती है।

वासुदेव—हुविष्क के अनन्तर वासुदेव कुषाण साम्राज्य का स्वामी बना। इस नृपति का नाम यह स्पष्टतया सूचित करता है कि कुषाण वंश का भारतीयकरण अब पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था।

वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम सम्राट् था जिसका राजनीतिक प्रभुत्व बिलकुल क्षीण नहीं होने पाया था। किन्तु उसके समय से ही इस राजवंश का पतन आरम्भ हो

गया था। उसके बाद के कुषाण राजाओं का इतिहास प्रायः तिमिरावृत ही है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत में वासुदेव के राजत्वकाल (१४५-१७६ सन् ईस्वी) के शीघ्र बाद ही कुषाण राजसत्ता का ह्रास होने लगा। शक क्षत्रप जो मूलतः कनिष्क प्रथम के प्रति अपना दास-भाव स्वीकार करते थे अब स्वतंत्र शासकों की भाँति शासन करने लगे। पश्चिमी और मध्य भारत के विशाल भू-भागों पर उनकी स्वतंत्र राजसत्ता स्थापित हो गई। भारत के विभिन्न भागों में, जहाँ कुषाण वंश का अधिकार था, विशेषतया वर्तमान उत्तर प्रदेश और राजपूताने में अधीनस्थ राजवंशों ने अपना मस्तक ऊँचा किया और यहाँ तक कि मथुरा में से भी कुषाण शक्ति का उन्मूलन कर दिया गया जहाँ पर एक नाग परिवार सत्तारूढ़ हो गया। नागों की अधीनता में भारत में व्रक राष्ट्रीय शक्ति की लहर बही जिसके प्रबल वेग में कुषाणों का साम्राज्य बह गया।

कुषाण-युग की सभ्यता और संस्कृति

सर्वप्रथम हम कुषाण-युगीन सभ्यता की सबसे प्रमुख विशेषता पर विचार करेंगे। यह विशेषता थी विदेशों के साथ इसका घनिष्ट सम्पर्क। कनिष्क ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी उसकी विस्तृत सीमाओं का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं। हिन्दूकुश पर कनिष्क का राज्य स्थापित हो जाने और काशगर, खोतान तथा यारकन्द के उसके राज्य में सम्मिलित होने से गमनागमन और यातायात की सुविधाएँ बहुत बढ़ गईं। एक ओर व्यापारियों के काफिले अपनी विक्रय-सामग्रियों के साथ विभिन्न भागों में आने-जाने लगे और दूसरी ओर धर्म-प्रचारक अपने धर्म को फैलाने के लिए विदेशों की यात्रा करने लगे। डा० राय चौधरी का यह कथन बड़ा महत्वपूर्ण है कि कनिष्क के वंश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य और पूर्वी एशिया का द्वार खोल दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय से विदेशों में विशेषतया मध्य और पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का प्रचार होने लगा। पाश्चात्य जगत् के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक दृढ़ हो गया क्योंकि गमनागमन और यातायात के विकसित साधन प्रचुरता से उपलब्ध थे। कदफिसीज द्वितीय के समय से भारत का विदेशी व्यापार काफी उन्नतिशील हो गया था। हम इस बात का उल्लेख पाते हैं कि रोमन लेखक प्लिनी ने अपने देशवासियों की मूर्खता पर अश्रुपात किया है कि वे भारत की विलास-सामग्रियों के बदले में अपनी सुवर्ण मुद्रायें देते हैं। रोमन साम्राज्य की सुवर्ण मुद्रायें भारत में इतनी बहुलता से प्राप्त हुई हैं कि प्लिनी का कथन असन्दिग्ध रूप से सत्य प्रमाणित हो जाता है। विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने से भारत को दोतरफा लाभ हुआ। पहला लाभ तो यह था कि विदेशों में इसकी संस्कृति का प्रचार हुआ और दूसरा लाभ था पाश्चात्य जगत् के धन का व्यापारिक सम्बन्धों के फलस्वरूप देश में प्रवेश। यह सोचना संगत नहीं मालूम पड़ता कि कुषाण युग की आर्थिक समृद्धि ने सभ्यता की उन्नति को एक प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया।

साहित्यिक उन्नति—इस युग की साहित्यिक क्रियाशीलता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसका रूप एकांगी नहीं था। इस समय केवल विशुद्ध साहित्य-ग्रन्थों की रचना ही न हुई अपितु दर्शन-शास्त्र तथा चिकिसा-विज्ञान पर भी ग्रन्थ लिखे गये। अश्वघोष कुषाण-युग की साहित्यिक प्रगति का नेता और अग्रदूत था। वह सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। वह एक दार्शनिक, लेखक, नाटककार. संगीतज्ञ तथा महाकवि था। तथागत के जीवन पर शुद्ध और सरल साहित्यिक शैली में लिखा हुआ उसका महाकाव्य 'बुद्ध चरित' संस्कृत काव्य का एक उज्ज्वल रत्न है। अश्वघोष की दूसरी कृति 'सौन्दरानन्द' काव्य है जिसके अठारह सर्गों में बुद्ध द्वारा अपने चचेरे भाई

नन्द को अपने मत में दीक्षित कर लेने की घटना का वर्णन है। नागर्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ने दर्शन के ग्रन्थों की रचना की। 'मध्यमक कारिकों' और 'सुहल्लेखा' उसके दो विख्यात ग्रन्थ हैं। वसुमित्र भी इस युग का प्रसिद्ध दार्शनिक था। चरक को कनिष्क का राजवैद्य बतलाया जाता है। उसने चिकित्सा-शास्त्र पर अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

कुषाण युग की कलात्मक प्रगति—महायान धर्म की भक्तिवादिता ने कला के क्षेत्र में कुछ नवीनता उत्पन्न कर दी। इस युग के पूर्व बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण नहीं किया जाता था। भरहुत और साँची के स्तूपों में बुद्ध की उपस्थिति को संकेतों अथवा प्रतीकों द्वारा चित्रित किया जाता था। यदि बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को चित्रित करना हुआ तो एक आरोही-रहित अश्व दिखला दिया जाता था जिसका अभिप्राय यह होता था कि इसी अश्व पर आरूढ़ होकर तथागत ने अरण्यगमन किया था। परन्तु ज्यों-ज्यों बौद्ध उपासकों के हृदयों में भक्ति-भावना का सञ्चार होता गया वे भगवान् बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। निश्चय रूप से भक्ति-भावना का उदय कला के विकास के लिए बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ और आगे चल कर भारत में कला की जो प्रचुर उन्नति हुई उसमें इसका बहुत महत्वपूर्ण योगदान था।

गान्धार-कला—गान्धार-कला से तात्पर्य मूर्ति-कला की एक विशिष्ट शैली से है जिसका विकास ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में अधिकांशतया गान्धार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ था। इस कला के प्रमुख केन्द्र थे, जलालाबाद, हृपद्द और बमिआँ, स्वात घाटी एवं पेशावर का जिला। गान्धार-कला को "इण्डो-ग्रीक" कला के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं किन्तु उनकी शैली यूनानी है। बुद्ध भगवान् की जो मूर्तियाँ इस शैली की शिल्पविधि द्वारा निर्मित की गईं वे यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से काफी मिलती-जुलती हैं।

कुषाण युग में गान्धार के अतिरिक्त और भी कला-केन्द्र थे जहाँ पर कला की काफी उन्नति हो रही थी। ये कलाकेन्द्र सारनाथ, अमरावती और मथुरा में थे।

प्रश्न

१. कुषाण कौन थे? उनका सर्वश्रेष्ठ सम्राट् कौन था?
२. कनिष्क के विषय में आप क्या जानते हैं?
३. कनिष्क के धर्म पर प्रकाश डालिए?
४. कनिष्क ने बौद्ध धर्म का प्रचार किस प्रकार किया?
५. कनिष्क का भारतीय इतिहास में क्यों महत्व है?
६. कनिष्क कालीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

7. Briefly summarise the achievements of Kanishka. What contribution did he make to the popularisation of Buddhism? (1957.)

अध्याय १८

गुप्त वंश

जिस मगध साम्राज्य का उदय छठी शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हुआ और तीसरी शताब्दी ई० पू० तक जिसने अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर लिया उसी मगध साम्राज्य को लगभग ५०० वर्षों तक इतिहास में गौण स्थान प्राप्त हो जाता है और उसका पुनरुद्धार तब तक नहीं होता जब तक तीसरी शताब्दी में मगध-राज्य-सिंहासन पर गुप्त वंश आरूढ़ नहीं होता। इतना ही नहीं गुप्त राजाओं के संरक्षण में मगध ने जितनी उन्नति की उतनी वह अन्य किसी काल में नहीं कर सका था। गुप्त के राज्यारोहण के समय बुन्देलखण्ड तथा मध्य प्रान्त में वाकाटक नरेश राज्य कर रहे थे। उत्तरी भारत में कोई भी शक्ति न थी जो भारतीय इतिहास की गौरव-वृद्धि कर सके। किसी भी प्रभावशाली शासन के अभाव में भारत की एकता को तो खतरा था ही साथ ही उसकी स्वतंत्रता के भी हरण का भय था। भारतीय संस्कृति-पोषक, भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षक तथा भारतीयता के उन्नायक इन गुप्त सम्राटों पर इतिहास को गर्व है। इनमें शास्त्र और शस्त्र का जो समन्वय देखने को मिलता है वह कुछ इने-गिने केवल भारतीय सम्राटों में ही प्राप्त होता है।

गुप्त वंश का राजनीतिक इतिहास

गुप्तों का उदय—तीसरी सदी ईस्वी के तीसरे चरण में मध्य देश में किसी स्थान पर गुप्तों का उदय हुआ था। भारशिव-नागों के पश्चात् भारतीय इतिहास के रगमंच पर गुप्तों का पदार्पण मगध में पाटलिपुत्र तथा उसके सीमावर्ती प्रदेशों के स्वामी के रूप में होता है।

श्री गुप्त—गुप्त अभिलेखों में एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि वे उनकी वंशावली के साथ प्रारम्भ होते हैं। इन वंश-वृक्षों में सर्वप्रथम नाम श्रीगुप्त का आता है। अतः इससे यह प्रमाणित होता है कि गुप्तों के आदि पुरुष का नाम श्रीगुप्त था।

घटोत्कच—गुप्त (श्रीगुप्त) के पश्चात् प्रयाग-प्रशस्ति में महाराजा श्रीगुप्त के पुत्र महाराजा घटोत्कच का उल्लेख है। उक्त अभिलेखों के घटोत्कच में गुप्त शब्द नहीं संलग्न है पर वैशाली में प्राप्त एक मुहर पर 'घटोत्कच गुप्तस्य' उत्कीर्ण है।

चन्द्रगुप्त प्रथम—प्रयाग-प्रशस्ति में गुप्त वंश का तृतीय शासक चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त है जबकि प्रथम दो शासकों को केवल महाराज का विरुद प्राप्त है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रथम दो राजाओं श्रीगुप्त तथा घटोत्कच और चन्द्रगुप्त के राजनीतिक अधिकारों में अन्तर था। वे प्रथम दो सामन्त रहे (यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे किसे कर देते थे) पर चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र राजा रहा होगा तभी उसे महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त थी जो उसके बाद के अन्य गुप्त राजाओं को प्राप्त है।

चन्द्रगुप्त ने निश्चय ही अनेक विजयें की होंगी तभी तो उसे साम्राज्य-संस्थापन का इतना अधिक श्रेय दिया जाता है। लिच्छवि राजकुमारी से व्याह करके उसने अपने यश और राज्य में अभिवृद्धि कर ली और इस विवाह के फलस्वरूप अब

उसकी राज्य-सीमा एक ओर बंगाल को छू रही थी तथा दूसरी ओर थे मध्य भारत तथा पंजाब। अतः बंगाल के सीमान्त-क्षेत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार स्थापित करना सम्भव है।

गुप्त संवत्—ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक की तिथि से एक नये संवत् 'गुप्त संवत्' का निर्माण किया। विभिन्न गणनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि २० दिसम्बर ३१८ ई० अथवा २६ फरवरी ३२० ई० निश्चित होती है। अतः लगभग ३१९-३२० ई० से गुप्त संवत् का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह प्रामाणिक ढंग से नहीं कहा जा सकता कि उक्त संवत् चन्द्रगुप्त का ही चलाया हुआ है क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के प्रमाणों का अभाव है।

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु-तिथि—राज्यारोहण के समय चन्द्रगुप्त की आयु काफी अधिक थी ऐसा उचित अनुमान लगाया जाता है, जिसके आधार पर उसके अल्प राज्य की शंका ठीक ही हो सकती है। समुद्रगुप्त के गया ताम्रलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु-तिथि ३२८ ई० ज्ञात है।

गुप्त साम्राज्य का निर्माण

समुद्रगुप्त

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्तों की सीमित राजनीतिक शक्ति पर प्रकाश डाला था। तब तक उन्होंने किसी प्रकार राजनीतिक सत्ता प्राप्त भर की थी। श्रीगुप्त और घटोत्कच तो बिलकुल ही साधारण शक्तिसम्पन्न थे, चन्द्रगुप्त प्रथम उनसे कुछ अधिक सशक्त रहा। किन्तु उन सबका राज्य केवल थोड़े से भू-भाग पर सीमित था, पाटलिपुत्र के निटवर्ती भू-भाग पर ही उनका अधिकार था। पर चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् मगध के सिंहासन पर एक ऐसा वीर पुरुष बैठा जिसने अपनी विजयों द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और शताब्दियों के लिए गुप्त वंश की नींव सुदृढ़ कर दी। इस विशाल साम्राज्य-निर्माता का नाम था समुद्रगुप्त।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय

भारतीय इतिहास के साम्राज्यवादी युग में युद्ध एवं विजयों का इतना अधिक महत्व रहा कि लगभग सभी कवि एवं प्रसिद्ध कुशल चरणों ने सम्राटों की प्रशस्तियों का अम्बार खड़ा कर दिया। प्रशस्तियों में अतिशयोक्ति का कहीं अभाव नहीं, वे सर्वथा काव्यात्मक हैं। प्राचीन भारत की समस्त ऐसी प्रशस्तियों में प्रयाग की प्रशस्ति अपना अद्वितीय स्थान रखती है। उक्त प्रशस्ति से हमें समुद्रगुप्त की दिग्विजय का बोध होता है, उसके सामरिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रयाग-प्रशस्ति में विजयों की तिथि का निर्देशन नहीं किया गया है। विजयों का केवल परिगणन किया है, उसमें पारस्परिक क्रम का उल्लेख भी नहीं किया गया है। इन विजयों की विविध मात्रायें हैं जिनके अनुसार समुद्रगुप्त की विजयों को निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

क. उन्मूलित राज्य जिसका समुद्रगुप्त ने असुर-विजयी नृपति की भाँति सर्वथा नाश कर दिया,

ख. आटविक राज्य जिनके अधिपतियों को उसने अपना सेवक बनाने को वाध्य किया,

ग. दक्षिणपथ के राज्य जिनके अधिकारियों को उसने धर्म-विजयी नृपति की

भाँति पराजित करके श्री-विहीन तो कर दिया किन्तु उनके राज्य को पुनः उन्हें लौटा दिया,

घ. प्रत्यन्त राज्य,

ङ. गणराज्य, जिन्होंने हतप्रभ होकर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया और

च. भारतीय सीमा पर स्थित तथा कुछ विदेशी राज्य जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति आत्म-विवेदन किया।

नीचे इन पर पृथक-पृथक प्रकाश डाला जायगा।

क. उन्मूलित राज्य (आर्यावर्त-विजय)—विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की भूमि का प्राचीन नाम आर्यावर्त था। समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को पराजित करके एकछत्र राज्य की स्थापना की। ऐसे विजेता को राजनीति में 'असुरविजयी' की उपाधि प्रदान की जाती थी। आर्यावर्तीय राजाओं की सूची प्रयाग प्रशस्ति में इस प्रकार दी गई है—

(१) रुद्रदेव, (२) मतिल, (३) नागदत्त, (४) चन्द्रवर्मन्, (५) गणपतिनाग, (६) नागसेन, (७) अच्युत, (८) नन्दि, (९) बलवर्मा।

ख. आटविक राज्य—उत्तरी भारत के पूर्वकथित राजाओं को पराजित करके समुद्रगुप्त दक्षिण-विजय की चिन्ता करने लगा किन्तु मार्ग में पड़ने वाले भू-भाग पर अधिकार स्थापित करना आवश्यक था, अतः समुद्रगुप्त ने आटविक नरेशों को परास्त करके उन्हें अपना सेवक बनाया। आटविक राज्य मध्य भारतीय वन-परंपरा में कहीं थे। प्रयाग-प्रशस्ति में आटविक नरेशों के नाम तथा उनकी संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है। फ्लीट महोदय के मतानुसार आटविक नरेश आधुनिक गाजीपुर से जबलपुर तक प्रसरित थे।

ग. दक्षिणापथ के राज्य—मध्य भारत के वनों को पार करके समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। दक्षिणापथ के शासकों की सूची प्रयाग-प्रशस्ति में दी गई है। जायसवाल महोदय का ऐसा मत है कि दक्षिणापथ के समस्त राजाओं ने एक मित्र संघ बनाया और कोलेरू नामक तालाब के किनारे इन्होंने एकत्रित होकर समुद्रगुप्त को आगे बढ़ाने के रोका। कैरल के मण्टराज तथा कांची के विष्णुगोप सम्मिलित सेना के सेनापति रहे। कोसल तथा महाकान्तार के राजाओं को छोड़कर उक्त मित्र संघ में अन्य राजा सेनानायक जिले के पदाधिकारी थे। अथवा जायसवाल महोदय के मतानुसार यह युद्ध आर्यावर्त की पहली लड़ाई (कौशाम्बी) के पश्चात् ई० स० ४५३-४६ के लगभग हुआ था। दक्षिणापथ के राजाओं को समुद्रगुप्त ने पराजित तो अवश्य किया किन्तु उनके राज्य को अपने राज्य में नहीं मिलाया प्रत्युत उन्हें अपनी छत्र-छाया में राज्य करने की आज्ञा दे दी। प्रयाग-प्रशस्ति में दक्षिणापथ-नरेशों की सूची इस प्रकार है—

१. कौसलक महेन्द्र,
२. यहाकान्तारक,
३. केरलक मण्टराज,
४. पेष्ठपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक स्वामि दत्त,
५. ऐरण्ड पल्लकदमन,
६. काञ्चेयक विष्णुगोप.
७. अवमुक्तक नीलराज,
८. वैयंगेयक हस्तिवर्म,

९. पालक्ककोग्रसेन,
१०. देवराष्ट्रक कुवेर तथा
११. कोस्थलपुरक धनञ्जय।

घ—प्रत्यन्त राज्य—प्रत्यन्त नृपति सीमाप्रान्तीय थे। समुद्रगुप्त की विजयी की महती श्रृंखला से भयभीत होकर इन नृपतियों ने उस 'प्रचण्ड शासक' यशस्वी गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त को सब प्रकार के कर प्रदान करना आरम्भ कर दिया और वे उसकी आज्ञा का पालन करने लगे।

निम्नलिखित पाँच प्रत्यन्त राज्य थे :—

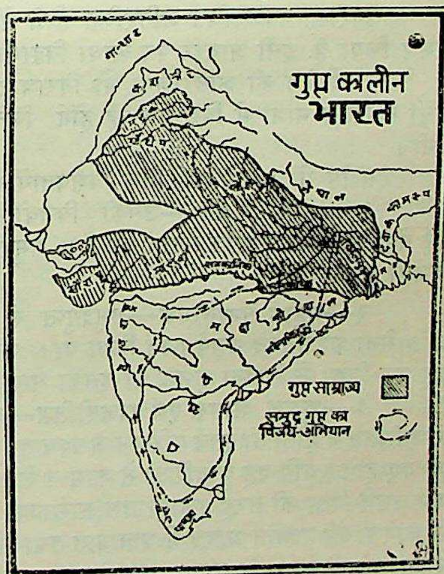
(१) समतट, (२) डवाक, (३) कामरूप, (४) नेपाल तथा (५) कर्तृपुर।

ङ गण राज्य—उत्तरी एवं पूर्वी सीमा के राज्यों को विजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त पश्चिम की ओर मुड़ा और उसने वहाँ के गण राज्यों का अन्त किया। सम्भवत: इसी समय से भारत में संघ शासन का अन्त हुआ। समुद्रगुप्त ने इनको अपने अधीन शासन करने की आज्ञा दे दी और ये गणराज्य उसे कर देते रहे। इनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) मालव, (२) अर्जुनायन, (३) योधेन, (४) मद्रक, (५) आभीर, (६) प्रार्जुन, (७) सनकानीक, (८) काक तथा (९) खर्परिक।

च. विदेशी राज्य—समुद्रगुप्त की विजयों की ध्वनि भारत के निकटवर्ती राज्यों तक पहुँची और उन्होंने राजनीति की उचित चाल चलकर उससे मित्रता स्थापित की। इन राज्यों के नाम ये हैं—

(१) दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि, (२) शक, (३) मुरुण्ड, तथा (४) सैंहल एवं अन्य द्वीप। इन विदेशी राज्यों ने मित्रता का केवल स्वाँग नहीं रचा वरन् आत्म-निवेदन, कन्याओं की भेंट तथा अपने राज्य में शासन करने के लिए गरुड़ की मुहर से मुद्रित अधिकार माँग कर उन्होंने एक प्रकार से उसकी प्रत्यक्ष अधीनता स्वीकार की।



चित्र १०

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन

समुद्रगुप्त की विजयों की इस लम्बी तालिका से उसके सामरिक गुणों का अनुमान लगाना अत्यन्त सरल है और यह अनुमान सत्य के काफी निकट तक पहुँचेगा। इसकी दिग्विजय के आधार पर ही कुछ इतिहासकारों ने इसकी तुलना नेपोलियन से की है। जिसके सम्बन्ध में केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि यह तुलना निराधार है। कहाँ एक साधारण सिपाही और कहाँ राजकुमार। इन दोनों की विजयों में भी अन्तर है। नेपोलियन का युद्ध प्रमुख शक्तियों से हुआ था जब कि समुद्रगुप्त को

उन शक्तियों का सामना करना पड़ा था जिनका भारतीय इतिहास में कोई बहुत बड़ा सामरिक महत्व नहीं था। कभी पराजित न होने वाली विशेषता का यहाँ आंशिक अन्त हो जाता है।

समुद्रगुप्त के चरित्र का मूल्यांकन भी अतिरंजनात्मक है। इसका मूल कारण यह है कि चरित्र-निरूपण का मूलाधार प्रयाग-प्रशस्ति है। काव्य में राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख तो बहुधा कुछ सँभलकर किया जाता है क्योंकि उसमें सत्यासत्य के स्पष्टीकरण का कुछ भय बना रहता है, किन्तु जब कवि अपने स्वामी या नायक का चरित्र-चित्रण करने लगता है तो वह समस्त गुणों को उसी में केन्द्रित कर देना चाहता है। ठीक यही दशा हरिषेण की है। उसने समुद्रगुप्त में समस्त गुणों को पुंजीभूत कर दिया है—

"जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था जो शास्त्र के तत्वार्थ का समर्थन करने वाला था, बहुतेरी स्फुट कविता से कीर्तिराज्य का भोग कर रहा है, धर्म के बाँधे हुए परकोटे के सदृश जिसकी कीर्ति चन्द्रमा की किरणों की भाँति निर्मल और चारों ओर छिटक रही थी, जिसकी विद्वता शास्त्र तक को पहुँच जाती थी, जिसने सूक्तों का मार्ग अपना ध्येय बना लिया और उसकी ऐसी कविता थी जो कवियों के मति के विभव का उत्सारण करती थी, जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह तथा साक्षात् जाज्वल्य-मान स्वरूप था, कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से इन्द्र के गुरु काश्यप. तुम्बुरू. नारद आदि को लज्जित किया. जिसने विद्वानों को जीविका देने योग्य अनेक काव्य-कृतियों से अपना कविराज पद प्रतिष्ठित किया, ऐसा हरिषेण का समुद्र गुप्त है।"

उपरोक्त काव्योचित अतिरंजित शैली में हरिषेण ने समुद्रगुप्त का जो चरित्र-चित्रण किया है. इसी आधार पर बहुधा विद्वानों ने भी समुद्रगुप्त का मूल्यांकन किया है; किन्तु हरिषेण की अतिरन्जना भी निराधार नहीं हो सकती। समुद्रगुप्त में वे गुण किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहे होंगे जिनसे कवि को अत्युक्ति की प्रेरणा मिली होगी।

संक्षेप में उसकी चारित्रिक विशेषतायें ये थीं :—

१—**महान विजेता**—उसकी विजयों से प्रभावित होकर ही इतिहासकारों ने उसे नेपोलियन की उपाधि प्रदान की है। समुद्रगुप्त के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता विजेता होना है।

२—**महान सेनानायक**—समुद्रगुप्त ने विजय अपने बाहु-बल पर प्राप्त की थी। सेना का संगठन उसने स्वयं किया था। उसका संचालन भी वह स्वयं करता था। वह रण-विद्या में कितना कुशल था इसका साक्षात प्रमाण उसकी विजयें हैं।

३—**कुशल शासक एवं राजनीतिज्ञ**—यदि समुद्रगुप्त कुशल शासक तथा राजनीतिज्ञ न होता तो इतने परिश्रम के पश्चात् जीते हुए राज्य स्वयं उसके साथ समाप्त हो गए होते। यदि वह दूरदर्शिता से काम न लेता और समस्त विजित राज्यों को मिला कर उसने पिता की तरह एक विशाल साम्राज्य बना दिया होता तो शासन कुव्यवस्था के कारण. जो प्राचीन भारत में यातायात तथा अन्य वस्तुओं के अभाव में अनिवार्य थीं राज्य को निश्चय ही अपना पतन देखना पड़ता; पर समुद्र गुप्त ने दूरदर्शिता से काम लिया। उसने केवल निकटवर्ती राज्यों को ही अपने साम्राज्य में मिलाकर आर्यावर्त में ही अपने साम्राज्य को सीमित रक्खा। अन्य विजित राज्यों से उपहार आदि लेकर उसने

मित्रता बनाये रक्खी। सीमान्त प्रदेशों तथा विदेशी राज्यों के साथ उसने जिस नीति का अनुसरण किया वह प्रशंसनीय है।

उदारता—समुद्रगुप्त में दया-दान का भी सम्मिश्रण था। वह सैकड़ों गौवें दान किया करता था। उसकी उदारता से प्रभावित होकर उसकी प्रजा उसका आदर करती थी।

अलौकिक व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त धन में कुबेर, न्याय में वरुण, शक्ति में इन्द्र, अन्तक अथवा यम के समान अजेय. बुद्धि में वृहस्पति था। इस प्रकार उसके अलौकिक. व्यक्तित्व का बोध होता है।

साहित्य प्रेमी—प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को संगीत, साहित्य तथा अन्य कलाओं का मर्मज्ञ बतलाया गया है। उसे सफल कवि की उपाधि भी दी गई है। समुद्रगुप्त विद्वानों की मण्डली से घिरा रहता था। वह उनका विशेष आदर करता था जिससे सम्पूर्ण देश के विद्वान् उससे मिलने आते रहे होंगे।

उदार धार्मिक दृष्टिकोण—ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि समुद्रगुप्त ने किसी धर्म विशेष या किसी सम्प्रदाय को अपने विष्णु धर्म के लिए तिरस्कृत या उपेक्षित किया हो। उसमें पर्याप्त धार्मिक सहिष्णुता थी।

रामगुप्त

महान् विजेता समुद्रगुप्त की मृत्यु के ठीक पश्चात् आभिलेखिक प्रमाणों के अधार पर हम आज तक चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही शासक बतलाते आ रहे थे. किन्तु कुछ नये साहित्यिक प्रमाणों की प्राप्ति के पश्चात् हमें इन दो महान् शासकों—समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय. के मध्य में एक तीसरे शासक रामगुप्त का बोध होता है।

देवीचन्द्रगुप्त नाटक से यह ज्ञात होता है कि रामगुप्त कायर था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् किसी शकराज ने उस पर आक्रमण किया और उसे आतंकित करके सन्धि करने को बाध्य किया। सन्धि की एक जटिल शर्त यह थी कि रामगुप्त अपनी धर्मपत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को दे दे। रामगुप्त ने यह स्वीकार कर लिया। पत्नी की करुण पुकार तथा कुल-गौरव के मान का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु पुरुषार्थी चन्द्रगुप्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने इसका प्रतिवाद किया और उसने ध्रुवदेवी का वेश बनाकर नृत्य-वाद्य से प्रतिध्वनित शक-स्कन्धावार में प्रवेश किया। वहाँ चन्द्रगुप्त ने आसव से प्रमत्त. नवागता प्रिया की ओर स्वागतार्थ बढ़ते हुए. शकाधिपति. के वक्ष में छुरी भोंक दी। अन्त में चन्द्रगुप्त ने शकों के पतन के पश्चात् अपने भ्राता रामगुप्त का बध कर दिया और ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

रामगुप्त के अल्प शासन के पश्चात् समुद्रगुप्त का दूसरा पराक्रमीपुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। पिछले पृष्ठों में हमने देखा था कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कापुरुष रामगुप्त की हत्या करके उसकी पत्नी से ब्याह किया और राज्याधिकारी हुआ। शकों की पराजय चन्द्रगुप्त की वीरता का प्रथम उदाहरण है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि चन्द्रगुप्त भ्राता की हत्या करके ही राज्याधिकारी बन सका। कुछ प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सम्भवतः वह इसका प्रकाश खुले दरबार में न कर सका था और इसीलिये साधारण नियमानुसार ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ।

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति—यहाँ तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का बोध कर लेना आवश्यक है। जिस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर बैठा उस समय

यद्यपि भारत की विभिन्न जातियों एवं राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, क्योंकि जैसा कि हमने पिछले परिच्छेद में पढ़ा है समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राज्य, आटविक राज्य, दक्षिणापथ के राज्य प्रत्यन्त राज्य गण, राज्य आदि का दमन कर दिया था, फिर भी यह दमन स्थायी नहीं रह सकता था क्योंकि दासता में स्थायित्व लाने के लिए अधीन राज्यों को समय की लम्बी दूरी पार कराके अभ्यस्त कराना आवश्यक था, पर ऐसा नही हो सका था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही रामगुप्त जैसा कायर शासक सिंहासनरूढ़ हुआ जिसकी दुर्बलता का परिचय हमें पिछले पृष्ठों में प्राप्त हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में तो विद्रोह होना आवश्यक था, किन्तु समुद्रगुप्त की भीषण की स्थित अब भी अवशेष थी, अतः केवल शकों ने ही विद्रोह किया। उन दिनों शकों के दो केन्द्र थे—(१) सीमाप्रान्त अफगानिस्तान आदि और (२) मालवा तथा पश्चिमी भारत।

शक-विजय—रामगुप्त पर आक्रमण करने वाले शकों को चन्द्रगुप्त ने पराजित किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने प्रमुख विरोधी, गुजरात तथा काठियावाड़ प्रायद्वीप के शक-शासक रुद्रसिंह तृतीय पर विजय प्राप्त करके पश्चिमी सीमा की ओर अपने राज्य का विस्तार किया।

विजय का परिणाम—इस विजय से चन्द्रगुप्त ने न केवल विदेशियों को भारत से भगा दिया प्रत्युत उसने अपनी राज्य-सीमा के अंतर्गत काठियावाड़ तथा गुजरात जैसे प्रदेशों को सम्मिलित करके अपने साम्राज्य का प्रसार बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक कर दिया। पश्चिमी तटवर्ती पत्तनों के सम्पर्क में आ जाने के कारण भारत के पाश्चात्य व्यापार पर एक प्रकार से गुप्तों का एकाधिकार हो गया। साथ ही देश पाश्चात्य सभ्यता के निकट सम्पर्क में आ सका।

अन्य विजय—अब हम चन्द्रगुप्त की अन्य विजयों पर विचार करेंगे जिसका संकेत अभिलेखों से मिलता है। चन्द्रगुप्त के युद्धसचिव शाव के लेख से यह ज्ञात होता है कि वह (चन्द्रगुप्त द्वितीय) विश्व-विजय करने के लिए चला था। चन्द्रगुप्त के सेनानायक आगुकारदव के लिए कहा जाता है कि उसने अनेक विजयों से ख्याति प्राप्त की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश इन विजयों के विषय में सामग्रियों का अभाव है। दिल्ली की कुतुबमीनार के निकटवर्ती लौहस्तम्भ (मेहरौली स्तम्भ) पर चन्द्र नामक किसी राजा की विजय-यात्रा का उल्लेख है। इस स्तम्भ लेख में चन्द्रगुप्त ने सिन्ध नदी से सातों मुखों को पार करके बाल्हिक (बल्ख) के शासकों को जीता इस प्रकार कथन है, जिससे यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि मेहरौली लौहस्तम्भ-लेख का चन्द्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है तो हमें यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य के पूर्वीय तथा पश्चिमी दोनों सीमान्त प्रदेशों पर आक्रमण किया और उसे इन अभियानों में सफलता प्राप्त हुई।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्यांकन—चन्द्रगुप्त की सैनिक सफलताओं का विवरण हमें ऊपर मिल चुका है। इसी वीर सम्राट् ने समुद्रगुप्त द्वारा प्रारम्भ की गई विजय-यात्रा को वास्तव में पूर्णता प्रदान की और इसने न केवल सीमान्त जातियों या रियासतों को गुप्त साम्राज्य में मिलाया प्रत्युत भारतीय सीमा पर स्थित शक, कुषाण आदि विदेशी जातियों को भी पराजित करके उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य में विलीन कर लिया। उसकी इसी विशेषता के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्मृति जनता के हृदय में चिरकाल तक बनी रही। इसके इस कार्य को जनता ने निश्चय ही अधिक पसन्द किया होगा जिसकी नींव वास्तव में साम्राज्य-निर्माता समुद्रगुप्त ने डाली थी।

"समुद्रगुप्त जो समरशत शौण्ड था, वह इतिहास का एक नायक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय जिसने राजनीतिक महानता और सांस्कृतिक पुनर्जीवन के नवीन युग को प्रौढ़ता पर पहुँचाया, उसने लोक-हृदय में अपना स्थान बना लिया। वास्तव में गुप्त कालीन भारत की बहुमुखी उन्नति के मूल में इन्हीं दोनों सम्राटों का हाथ है। इन्होंने ही अपने सक्रिय सहयोग से इस युग को 'स्वर्ण युग' की उपाधि प्रदान कराई। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कला एवं साहित्य को जो संरक्षण प्रदान किया, कलाकारों को जो प्रेरणा दी उसकी चर्चा प्राचीन काल से ही दन्तकथाओं का विषय बनी हुई है और इन दन्तकथाओं की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके दरबार में नवरत्नों की जो बात कही जाती है और उसमें कालिदास का नाम गिनाया जाता है वह सत्य है, जैसा कि अगले पृष्ठों में स्पष्ट किया जायगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में भारत में लगभग १०-११ वर्षों (४००-४११ ई०) तक निवास करने वाले चीनी यात्री फाहियान के विवरण से (जिसके सम्वन्ध में हम आगे प्रकाश डालेंगे) यह ज्ञात होता है कि उस समय देश में शान्ति एवं सुमृद्धि व्याप्त थी। प्रजा की आर्थिक अवस्था काफी अच्छी थी। बिना कठोर दण्ड के ही शान्ति स्थापित रखना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन प्रवन्ध की सफलता का प्रमाण है।"

मुद्रा-निर्माण की ओर भी चन्द्रगुप्त ने विशेष ध्यान दिया जिसका प्रभाव मुद्रा-निर्माण-कला तथा देश की आर्थिक व्यवस्था पर अवश्य पड़ा होगा। अब तक गुप्तों ने स्वर्ण-मुद्राओं का ही निर्माण कराया था, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ताँबे तथा चाँदी के सिक्के भी प्रचलित कराये जो शक-क्षत्रप की मुद्राओं से प्रभावित हैं।

कुमारगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र कुमारगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके चाँदी के सिक्कों पर उसकी सबसे बाद की तिथि दी हुई है। यह तिथि गु० सं० १३६ अर्थात् ४५५ ई० है। इससे यह पता चलता है कि कुमारगुप्त ने सन् ४१५ ई० से लेकर ४५५ ई० तक शासन किया। उसका शासन-काल काफी लम्बा था। कुमारगुप्त के जितने अभिलेख प्राप्त हुए हैं उतने किसी भी अन्य गुप्त सम्राट् के नहीं। उसके सिक्के भी बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। उसने कुछ नवीन प्रकार की सुवर्ण-मुद्रायें चलाई। उसके सिक्कों और अभिलेखों का विस्तार बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक हिमालय से लेकर नर्मदा तक है. जिससे सिद्ध होता है कि उसने अपने पिता द्वारा अधिगत साम्राज्य को सुरक्षित रक्खा और एक विशाल राज्य पर शासन किया था। मन्दसोर शिलालेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त प्रथम "चारों समुद्रों की चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर" शासन करता था। अपने प्रतापी पिता की भाँति कुमारगुप्त भी महाकवि कालिदास के शब्दों में "आसमुद्रक्षितीश" था। उसने महेद्रादित्य की उपाधि भी धारण की थी।

पुष्यमित्रों से युद्ध—वैसे तो कुमारगुप्त प्रथम का शासन-काल काफी शान्तिमय था किन्तु उसके राजत्वकाल के अंतिम दिनों में उसके साम्राज्यरूपी नभोमण्डल पर विपत्ति के बादल घिर आये थे। भीतरी स्तम्भ लेख के एक श्लोक से इस विपत्ति पर प्रकाश पड़ता है। इस श्लोक से पता चलता है कि कुमारगुप्त की वृद्धावस्था में पुष्यमित्रों ने जिनकी सैन्य-शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ गई थी गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये थे। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि इसके द्वारा गुप्त वंश की राज्य-लक्ष्मी विचलित हो गई थी जिनको फिर से प्रतिष्ठापित करने

के लिए कुमारगुप्त प्रथम के वीर पुत्र स्कन्दगुप्त को रात भर पृथ्वी पर लेटे-लेटे ही बिताना पड़ा था और कठिनाइयों के बावजूद भी विजयश्री ने गुप्त सम्राट् का ही वरण किया।

कुमारगुप्त प्रथम के कार्यों और चरित्र का मूल्यांकन

यद्यपि कुमारगुप्त प्रथम ने प्रायः अपनी तुलना 'देवताओं के सेना नायक' से की है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह न तो समुद्रगुप्त की तरह वीर योद्धा ही था और न चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति मनुष्यों का निर्भीक नेता ही। किन्तु सैन्य सफलताओं के गौरव से शून्य होने पर भी कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य में कुछ ऐसे गुण विद्यमान थे जिसके लिए उसके शासन-काल का महत्व काफी अधिक है। कुमारगुप्त का सुदीर्घकालीन शासन सुख-शान्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है। कुमारगुप्त के तेरह अभिलेखों में केवल एक ही सैन्य-कार्यवाही का बोध कराता है जो कि उसके शासन-काल के अन्तिम दिनों में की गई थीं जब कि वे सभी एक शान्तिपूर्ण तथा दृढ़- शासन व्यवस्था का संकेत करते हैं। उसके साम्राज्य का केवल एक दृढ़ और उदार शासन-व्यवस्था के अधीन ही इतने अधिक दिनों तक इतना विशाल भू-भाग जा सकता था। उसके देहावहान के अनन्तर शीघ्र ही हूणों और अन्य शत्रुओं को जो पराभव सहन करना पड़ा उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता था कि इतने लम्बे शान्तिपूर्ण शासन-काल में भी सेना की सैन्य-निपुणता का ह्रास नहीं होने पाया था। यह बात कुमारगुप्त के लिए कोई कम गौरव की नहीं है कि इतने अधिक दिनों तक युद्ध से विरत रहने पर भी उसने अपने सैनिकों की रण-कुशलता को कम नहीं होने दिया।

कुमारगुप्त ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पूरी तरह से पालन किया। उसने अपने अभिलेखों में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वह स्वयं कार्तिकेय का बड़ा भक्त था किन्तु उसने सूर्य, बुद्ध, शिव एवं विष्णु आदि देवताओं की पूजा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं उत्पन्न होने दिया। इसके विपरीति उसके अभिलेख इस बात के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उसने बौद्ध तथा अन्य धर्मों के प्रति महती उदारता का परिचय दिया। भानकुवर, कर्मदण्ड और मन्दसोर अभिलेखों में क्रमशः बुद्ध, शिव तथा सूर्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है।

स्कन्दगुप्त

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनन्तर स्कन्दगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल के प्रारम्भिक वर्ष नितान्त अशान्तिमय रहे।

हूणों का आक्रमण—स्कन्दगुप्त के समकालीन लेखों में उसके शत्रु राजाओं के साथ संघर्ष का उल्लेख मिलता है जिनमें कुछ शत्रुओं के लिए 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु संघर्ष का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। इतना तो निश्चित है कि अपने शासन-काल में किसी समय स्कन्दगुप्त को हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। हूण लोग बर्बर जाति के थे और अपनी शक्ति बढ़ा लेने पर वे योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में आतंक फैला रहे थे। ईसा की लगभग पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों की एक शाखा ने, जिन्हें श्वेत हूण कहा जाता है, आक्सस की घाटी पर अपना अधिकार जमा लिया और फारस तथा भारत के निवासियों को भयत्रस्त कर दिया। उन्होंने गान्धार को जीत कर वहाँ एक ऐसे राजा को सिंहासन पर बैठा दिया जो अत्यन्त निर्दय और बर्बर था। गान्धार के निवासियों के साथ हूणों ने बड़ी ही निर्दयता का व्यवहार किया और उन पर भाँति-भाँति के

अत्याचार किये। गान्धार के पश्चात् वे भारत की सीमा में प्रविष्ट हो गये और गुप्त साम्राज्य के ऊपर अपने दाँत गड़ाने लगे, किन्तु इस समय भारत पर एक वीर सेनानी और साहसी योद्धा शासन कर रहा था। यह वीर सेनानी स्कन्दगुप्त था जिसमें पुष्यमित्रों को पराजित कर अपने पराक्रम और भुजवल का परिचय दिया। इस बाह्य विपत्ति से वह तनिक भी नहीं घबड़ाया और उसने डटकर उसका सामना किया। हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का जो संघर्ष हुआ वह निश्चय ही भयानक रहा होगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त ने बर्बर हूणों के ऊपर विजय प्राप्त की और अपने राज्य की भारी विपत्ति से रक्षा की। हूणों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में स्कन्दगुप्त ने देवताओं के लिए बलि अनुष्ठान करवाये और एक विष्णु-स्तम्भ का निर्माण भी कराया। गान्धार के पूर्व में पाँचवीं शताब्दी के अन्त तथा छठीं शताब्दी के प्रारम्भ तक फिर कभी धावा बोलने का हूण लोग दुस्साहस नहीं कर सके।

स्कन्दगुप्त की शासन-नीति—यद्यपि स्कन्दगुप्त ने महान् संकट के समय राज-सिंहासन पर अधिकार स्थापित किया था और उसकी काफी शक्ति इस संकट के निवारण में समाप्त हो गई थी तथापि उसने शासन-व्यवस्था को तनिक भी अवहेलना की दृष्टि से न देखा। उसने अपने राज्यारोहण के तुरन्त बाद ही प्रान्तीय शासकों को नियुक्त किया। इस कार्य द्वारा उसने अपने शासन को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। उसकी शासन-व्यवस्था उदारता और लोकहित के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों में भी सार्वजनिक हित के कार्यों पर ध्यान दिया। ऐसा ही एक कार्य था सुराष्ट्र में सुदर्शन झील का पुर्ननिर्माण।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य

पुरुगुप्त—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद उसका भाई पुरुगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था। वह अनन्ददेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि पुरुगुप्त ने स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण का विरोध किया था और इस पर उन दोनों में परस्पर युद्ध भी छिड़ा था।

नरसिंहगुप्त बालादित्य—पुरुगुप्त की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंह गुप्त था। नरसिंह गुप्त बालादित्य एक प्रतापी सम्राट् था जिसने गुप्त साम्राज्य के विलुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था और प्रयत्न अपने में जिसे कुछ अंशों तक सफलता भी मिली थी। नरसिह गुप्त बालादित्य की मृत्यु छत्तीस वर्षों की अल्पायु में ही हो गई। यही कारण है कि उसका शासन-काल नितान्त अल्पकालीन था।

कुमार गुप्त द्वितीय—आभिलेखिक और साहित्यिक साक्ष्यों से यह पता चलता है कि नरसिंहगुप्त के तुरन्त बाद कुमारगुप्त द्वितीय गुप्त राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सम्भवतः कुमारगुप्त द्वितीय के ही शासन-काल में रेशम के जुलाहों की एक श्रेणी ने दशपुर के उस सूर्य मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया, जिसका निर्माण मूलतः कुमारगुप्त प्रथम के जो इस कुमारगुप्त का प्रपितामह था समय में किया गया था। इसने "विक्रमादित्य" का विरुद्ध धारण किया था।

बुद्धगुप्त—कुमारगुप्त द्वितीय के उपरान्त गुप्त राजसिंहासन पर बुद्धधर्म समासीन हुआ। सारनाथ अभिलेख में बुद्धगुप्त की सबसे प्राचीन तिथि दी गई है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इसने ईसवी सन् ४७६ में राज्य प्राप्त किया था।

बुद्धगुप्त एक शक्तिशाली नरेश था और उसने अपने वंश की उखड़ती हुई शक्ति को पुनः सँभालने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् ४८४ ई० में बुद्धगुप्त ने अपनी राज्य-सत्ता मध्य प्रान्तों तथा मालवा के कुछ भागों पर स्थापित कर ली थी।

बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी—ह्वेनसाँग के जीवनचरित्र से यह पता चलता है कि बुद्धगुप्त का उत्तराधिकारी तथागतगुप्त था जिसके उपरान्त बालादित्य राजसिंहासन प्राप्त किया था। इस समय मध्य भारत में हूणनरेश तोरमाण ने गुप्त की शक्ति को चुनौती दी।

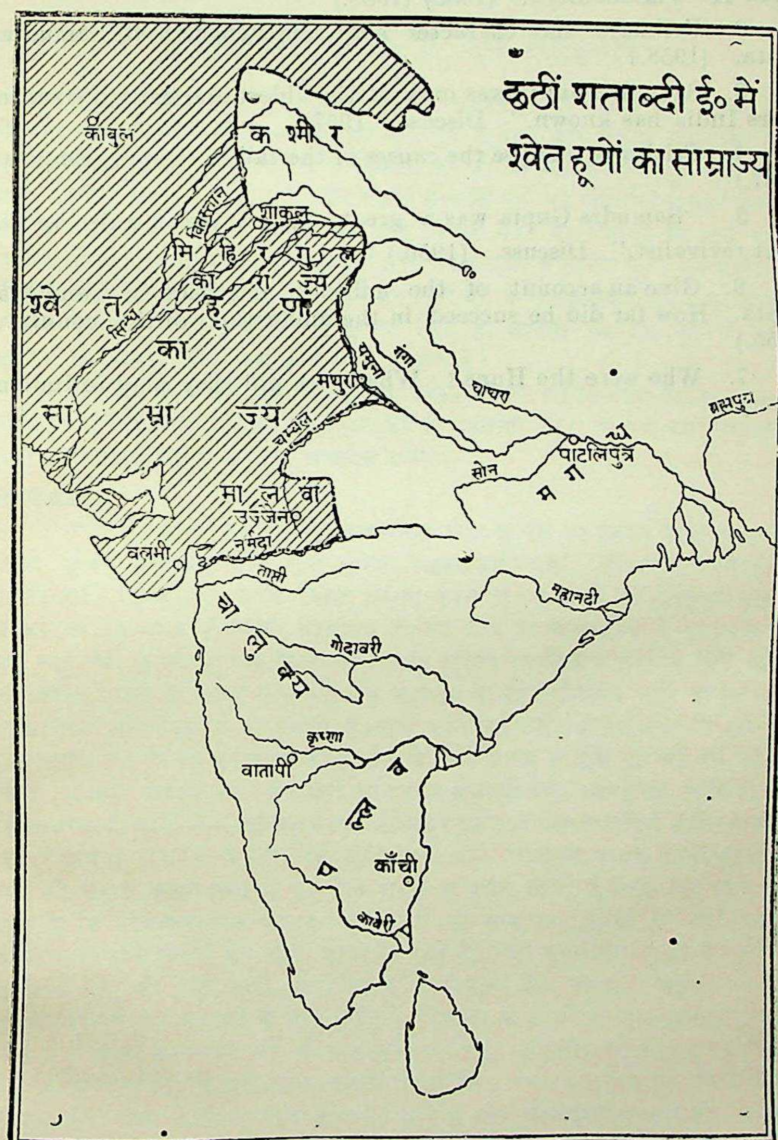
ह्वेनसाँग के अभिलेख से विदित होता है कि बालादित्य बौद्धधर्म का अनुयायी और संरक्षक था। जितना प्रसिद्ध वह अपने पराक्रम के लिए था उतनी ख्याति उसने अपने धर्म संरक्षकता और धर्मानुरागिता के कारण भी अर्जित की थी। उसने नालन्दा में एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था।

हूणों का आक्रमण

स्कन्दगुप्त के विषय में पढ़ते हुए हम हूणों के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार स्कन्दगुप्त ने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा हूणों के देश की सीमा के बाहर ढकेल दिया और अगले डेढ़ सौ वर्षों तक अपने राज्य को उनके बर्बर आक्रमणों से बचाये रखा। परन्तु इस प्रबल प्रतिरोध से विफल-मनोरथ हो जाने पर भी हूण सदैव के लिए हतोत्साहित नहीं हो सके। उन्होंने शक्ति संचय करके पाँचवीं शताब्दी के अन्त में पुनः भारत की ओर अपनी दृष्टि फेरी। इस बार हूणों को तोरमाण जैसा पराक्रमी और महत्वाकांक्षी नेता प्राप्त हो गया। उसके नेतृत्व में टिड्डीदल की भाँति हूण लोग पश्चिमोत्तर और मध्य भारत में छा गये। इस समय उनके आक्रमण और प्रसार को रोकने वाला, दुर्भाग्यवश कोई स्कन्द गुप्त नहीं था जिससे वे लोग भारतीय सीमा में बिना किसी विशेष प्रबल रोक-टोक के घुस पड़े। तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने गुप्त साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी और कई प्रान्तों पर अपना अधिकार जमा लिया। उसके सैनिकों ने भयंकर मार-काट मचाई और निरपराध स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों तक को तलवार के घाट उतार दिया। मालवा पर तोरमाण का अधिकार हो गया। परन्तु तोरमाण अधिक समय तक मालवा पर अधिकार जमाने में सफल न हो सका। सन् ५१० ई० के लगभग हूण लोग मध्य भारत और मालवा से निकाल दिये गये। हूणों को इन प्रदेशों से निष्कासित करने वाला वीर भानुगुप्त बालादित्य था। हूणों के नेता तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरकुल उसका उत्तराधिकारी हुआ।

मिहिरकुल अपने पिता से अधिक नृशंस क्रूरकर्मा बतलाया गया है। अनुश्रुतियों में उसका जो विवरण दिया गया है उससे यह पता चलता है कि वह बड़ा ही निर्दय तथा रक्तपिपासु था। नर संहार और रक्तपात में उसे अभिरुचि थी और इनके द्वारा उसका मनोरञ्जन होता था। ह्वेनसाँग और कास्मस (Cosmas) के लेखों से यह प्रमाणित होता है कि मिहिरकुल ने बौद्धों पर बहुत अत्याचार किया। बौद्धबिहारों को लुटवा कर उसमें उसने आग लगवादी। मिहिरकुल ने बालादित्य पर भी आक्रमण किया परन्तु इस बार उसकी एक न चल सकी और उसे गहरी पराजय उठानी पड़ी। बालादित्य ने केवल उसे युद्ध में पराजित ही किया वरन् उसे अपना युद्ध-बन्दी भी बना लिया। किन्तु राजमाता के अनुरोध से मिहिरकुल मुक्त कर दिया गया। मिहिरकुल ने इसके बाद काश्मीर के राजा के यहाँ शरण ली। काश्मीर नरेश ने उसका काफी आदरसत्कार किया और

उसे अपना अतिथि बनाया। परन्तु बर्बर और असभ्य हूण ने राजा के साथ विश्वासघात किया और उसके राजसिंहासन पर षड्यन्त्र द्वारा अधिकार कर लिया। परन्तु अपने इस



चित्र ११

दुर्व्यवहार का मिहिरकुल को शीघ्र ही फल भोगना पड़ा और उसे मृत्यु उठा ले गयी।

प्रश्न

1. Describe the character and achievements of Chandra Gupta II Vikamaditya. (1958) (1955.)

2. Estimate the character and achievements of Samudra Gupta. (1958.)

3. Samudra Gupta was only of the ablest and most versatile rulers India has known." Discuss. 1957.

4. Critically analyse the causes of the fall of Gupta Empire. (1957.)

5. "Samudra Gupta was a great man, a great ruler and a great revivalist." Discuss. (1956.)

6. Give an account of the military activities of Samudra Gupta. How far did he succeed in the unification of the country. (1955.)

7. Who were the Huns ? What part did they play in Indian history.

अध्याय १९

गुप्तकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

भारतीय इतिहास में गुप्त-युग का विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पिछले युग की अन्धता और अनैक्य के स्थान पर हम गुप्त-युग में ऐक्य और प्रकाश को देखते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में विघटन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई वह गुप्त युग के उदय के पूर्व तक जारी रही और यद्यपि संस्कृति का नद अविच्छिन्न तथा अबाध गति से बढ़ता रहा तथापि उतना वेग और प्रवाह नहीं था जितना कि हम गुप्त युग में देखते हैं। अपनी महान् उपलब्धियों और सफलताओं के कारण गुप्त युग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। आगे हम गुप्त युग के सांस्कृतिक जीवन का विशेष विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे तो सुस्पष्ट सिद्ध हो जायगा कि इस युग के लिए स्वर्णयुग का प्रयोग सर्वथा समीचीन और सार्थक है।

गुप्त युग की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक प्रगति में उस शासन-व्यवस्था का अपना महत्वपूर्ण योगदान था जिसको गुप्त सम्राटों ने अपनाया था। अतएव हम सर्वप्रथम गुप्तों की शासन-प्रणाली का ही अध्ययन करेंगे।

शासन-प्रबन्ध

गुप्तों की शासन-प्रणाली राजतन्त्रात्मक थी। शासन का प्रधान राजा था और उसकी शक्ति असीमित थी। गुप्त नरेश 'महाराजाधिराज', 'सम्राट', 'परमेश्वर', 'परमदेवता', 'चक्रवर्त्तिन' आदि विरुद धारण करते थे। राजाओं को देवतुल्य मानने की धारणा इस काल में काफी लोकप्रिय हो गई थी। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए कहा गया है कि वह एक देवता था जो इस पृथ्वी पर निवास करने के लिए आय था। परन्तु राजा के देवता होने की इस भावना से यह अभिप्राय नहीं था कि वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो सकता है।वह अपने अमात्यों की सहायता से शासन-कार्य करता था जिनके परामर्शों को मानने के लिए बाध्य न होने पर भी वह उनकी सुनता अवश्य था। ग्राम पंचायतों और नगर-सभाओं तथा व्यापारिक श्रेणियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों से सम्बन्धित काफी अधिकार प्राप्त थे जिससे सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार अथवा राजा में केन्द्रित नहीं होने पाती थी। फाह्यान नामक चीनी यात्री ने गुप्तों की उदार शासन-प्रणाली का जिन शब्दों में वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में भी साधारण जनता को व्यक्तिगत-अधिकार काफी संख्या में थे। चीनी यात्री लिखता है, 'प्रजा प्रभूत तथा सुखी है। लोगों को अपने घरों की छोटी-मोटी बातों का न तो ब्योरा देना पड़ता है और न किन्हीं न्यायाधिकारियों या शासकों के यहाँ हाजिरी।' जनता के कार्यों में राजा हस्तक्षेप नहीं करते थे। लोगों को राज्य भर में आने-जाने का पूरा अधिकार था और इसके लिए उन्हें विशेष अनुमति-पत्र नहीं प्राप्त करना पड़ता था। दण्ड आधुनिक युग की अपेक्षा भी मृदु थे। राजा न तो प्राणदंड देता था और न घोर शारीरिक यातना ही। बहुत से अपराधों के लिए केवल दण्डकर की ही व्यवस्था होती थी, जो अपराध की लघुता व गुरुता के अनुसार कम ज्यादा हो सकता था। यद्यपि राजनियम सरल और दण्ड मृदुल थे तथापि अपराधों की संख्या न्यून होती थी।

मन्त्रिमण्डल—गुप्त नरेश अपने शासन-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का संचालन मन्त्रियों की सहायता से किया करते थे। मन्त्रियों के लिए 'सचिव' या 'मन्त्रिन्' शब्द का प्रयोग प्रायः किया गया है। अमात्यों तथा मन्त्रियों का पद पितृक्रमानुगत होता था। राजा तथा मन्त्रिगण की सम्मिलित रूप से एक सभा होती थी जिसका प्रधान राजा होता था। यह अनुमान करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण न होगा कि सैन्य, भूमि-कर, व्यापार, उद्योग तथा इसी प्रकार के अन्य विभाग मन्त्रिमण्डल के किसी सदस्य के अधीन कर दिये जाते थे और उसका उत्तरदायित्व उस सस्दय पर छोड़ दिया जाता था।

केन्द्रीय शासन—प्रणाली का कोई विस्तृत उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में नही किया गया है किन्तु कुछ प्रधान कर्मचारियों का जिक्र अवश्य किया गया है। सम्राट के बाद सबसे ऊँचा स्थान युवराज का होता था। गुप्तकालीन शासन-प्रणाली में शासनाधिकार का नियम उत्तराधिकार के ऊपर आधारित होता था किन्तु बहुधा सम्राट अपने उत्तराधिकारी का अपने ही जीवन-काल में निर्वाचन कर लेता था। मन्त्री सिविल शासन का अध्यक्ष होता था। महाबलाधिकृत (सेनापति), महादण्डनायक और महाप्रतिहार, ये उच्च पदाधिकारियों में प्रमुख स्थान रखते थे। महाबलाधिकृत का पद सम्भवतः सातवाहन राजाओं के कर्मचारी (महासेनापति) से मिलता-जुलता था। उसके अधीन महाश्वपति (अश्वारोही सेना का अध्यक्ष), भटाश्वपति (अश्वारोही सेना का निरीक्षक) महापीलपति (हाथियों की सेना का अध्यक्ष), सेनापति और बलाधिकृत नामक सैन्य अधिकारी होते थे।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से गुप्त युग में साम्राज्य को विभिन्न प्रान्तों में विभाजित कर दिया जाता था। गुप्त लेखों में प्रान्त के लिए 'देश' या 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रान्तीय शासकों की नियुक्त सम्राट् करता था। वे अपने भुक्ति की वाह्य आक्रमणों तथा भीतरी विप्लवों से रक्षा करने के लिए उत्तरदायी होते थे। अपनी राज्य-सीमा में शान्तिस्थापना करके सार्वजनिक हितों के कार्य करना प्रान्तीय शासक का कर्त्तव्य समझा जाता था। उसे इस बात का अधिकार प्राप्त होता था कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति करे। गुप्त लेखों में प्रान्तीय शासक के लिए अधिकतर 'उपरिकर महाराज' का प्रयोग किया गया है। 'गोप्तृ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। प्रान्तीय शासक अधिकांशतया राजकुल से सम्बन्धित होते थे। जितने भी शासन-विभाग साम्राज्य की राजधानी में होते थे सम्भवतः वे सभी 'भुक्ति' या 'देश' की राजधानी में भी होते थे। प्रान्तीय शासन की रचना सम्भवतः केन्द्रीय शासन के नमूने के आधार पर की गई थी। आधुनिक काल की भाँति गुप्त काल में भी गवर्नरों के शासन-काल की अवधि निश्चित कर दी जाती थी। प्रान्तीय शासकों के कार्य-काल की अवधि कम से कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। गुप्त-कालीन अभिलेखों द्वारा हमें साम्राज्य के समस्त प्रान्तों का नाम तो ज्ञात नहीं होता किन्तु 'भुक्तियों' के नामों का उल्लेख काफी मिलता है—पुन्ड्रवर्द्धन भुक्ति, तीरभुक्ति, नगर भुक्ति, श्रावस्तीभूक्ति तथा अहिच्छत्र भुक्ति, सुकुलि देश तथा सौराष्ट्र आदि।

जिले का शासन—प्रान्त जिले में विभाजित किये जाते थे। जिलों के लिए 'विषय' शब्द का प्रयोग किया है। एक भुक्ति के अन्तर्गत कई 'विषय' होते थे। विषय के सबसे बड़े अधिकारी को विषयपति कहा जाता था। इनकी नियुक्ति बहुधा 'गोप्तृ' या 'उपरिक महाराज' अर्थात् प्रान्तपति ही करता था किन्तु कभी-कभी सम्राट् भी

इसको नियुक्त करता था। विषयपति की शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता करने के लिए अनेक कर्मचारी थे जिनके नाम इस प्रकार हैं—

नगर श्रेष्ठी—नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी प्रमुख।
सार्थवाह—नगर का प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारियों के संघ का प्रधान।
प्रथमकुलिक—प्रथम शिल्पी अथवा शिल्पिसंघ का प्रमुख।
प्रथम कायस्थ—प्रधान लेखक।
पुस्तपाल—संग्रहाधिकारी।

नगर-शासन—इस प्रकार का अनुभव करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण नहीं कि गुप्त काल में नगरों में म्युनिसिपल-शासन की व्यवस्था थी, यद्यपि इस समय के म्यूनिसिपल-शासन का विस्तृत विवरण ने वाला कोई मेगस्थनीज हमारी सहायता नहीं करता। स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि विषयों के समुचित प्रबन्ध के लिए प्रत्येक मुख्य नगर में एक सभा होती थी। इस सभा का अध्यक्ष नगरपति कहलाता था जिसके लिए डांगिक शब्द का प्रयोग किया गया है। नगर-निवासियों और व्यापारियों से कर वसूल कर 'डांगिक' उनके हित के कार्यों पर व्यय करता था। स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता था। यदि कोई मनुष्य मुख्य मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा भवन के निकट गन्दगी फैलाते हुए पकड़ा जाता था तो वह दण्ड भागी होता था और उसे एक पण दण्डकर के रूप में देना पड़ता था।

ग्राम-शासन—ग्राम उस समय के शासन-प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई था। गाँव का मुखिया जिसे ग्रामेयक तथा ग्रामाध्यक्ष कहा जाता था ग्राम-शासन का अध्यक्ष होत था। मुखिया की शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए स्थानीय लोगों की एक सभा हुआ करती थी जिसमें राजकर्मचारी नहीं होते थे। ग्राम-सभा सरकार के लगभग समस्त कर्त्तव्यों का निर्वहन करती थी। यह ग्राम की सुरक्षा का ध्यान रखती थी, ग्राम वालों के मुकदमों का निर्णय करती थी, भूमिकर एकत्र कर राजकोष में जमा करती थी और ग्राम निवासियों के सार्वजनिक हित के कार्य करती थी। ग्राम-शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्राम-सभा उपसमितियों का भी निर्माण करती थी। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के लिए भिन्न-भिन्न समितियाँ होती थी। ग्राम-शासन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी जो प्रायः कर द्वारा ग्राम-सभाओं को प्राप्त होता था। यद्यपि ग्रामवासियों का मुख्य उद्यम कृषि-कार्य था तथापि लगभग प्रत्येक ग्राम में जुलाहे, कुम्हार, बढ़ई, तेल बनाने वाला तथा सुनार होते थे जिनके द्वारा ग्राम-सभाओं को काफी आय होती थी। ग्रामों की सीमाओं का निर्माण बहुधा दीवालों और नालियों द्वारा किया जाता था। गुप्त लेखों में सीमा-निर्धारण के लिए नाली के प्रयोग के उदाहरण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

राज्य की आय के साधन—राज्य की आय के साधन प्रचुर और विभिन्न थे। गुप्त लेखों से पता चलता है कि करों की संख्या गुप्त काल में अठारह थी किन्तु उनके नाम हमें ज्ञात नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि करों में सबसे प्रमुख भूमिकर होता था। कुछ स्थानों में भूमिकर के लिए 'भागकर' और कुछ स्थानों में 'उद्रंग' शब्द का प्रयोग किया गया है। भूमि की अवस्था के अनुसार कर सोलह प्रतिशत से लेकर पच्चीस प्रतिशत तक लगाया जाता था।

चुंगी द्वारा भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। राज्य में जिन वस्तुओं का निर्माण किया जाता था उन पर चुंगी लाई जाती थी। बनों, चरागाहों, बेकार भूमि तथा खानों पर राज्य का स्वामित्व होता था और उनकी उपज बेचकर अथवा उन्हें ठेके

पर उठा कर राज्य काफी आय प्राप्त करता था। जंगल राजकीय आय का एक प्रमुख स्रोत समझा जाता था जिसका प्रवन्ध 'गौल्मिक' नामक कर्मचारी के अधीन होता था। व्यापारियों और शिल्पियों से जो कर वसूल किया जाता था उसे गुप्त लेखों में 'शुल्क' का नाम दिया गया है, गुप्त के शासन-काल में भारत का आन्तरिक और वाह्य व्यापार काफी उन्नति पर था और दोनों प्रकार के व्यापारों द्वारा राज्य को काफी आमदनी होती थी। देश में बाहर से जो वस्तुएँ आती थीं उन पर राज्य-कर लगाया जाता था। व्यापारी यदि राज्य की चुंगी बचाने का प्रयत्न करते हुए पकड़ा जाता था तो उसे दण्ड का भागी होना पडता था। नशीली वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था किन्तु इस कर से राज्य को न्यून आय ही होती रही होगी।

गुप्त कालीन समाज

गुप्त सम्राटों के सुदीर्घकालीन शासन ने उत्तरी भारत में और उनके समकालीन नरेशों ने दक्षिणी भारत में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना करके पिछले युग के सामाजिक जीवन की विशेषताओं को देश की भूमि पर अच्छी तरह से जमने का अवसर प्रदान किया। भारतवासियों के श्रेष्ठ नैतिक चरित्र की प्रशंसा यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने की थी। गुप्तकाल में चीनी यात्री फाह्यान ने भी प्रशंसापूर्ण शब्दों में ही लोगों के चरित्र का उल्लेख किया है और यह सचमुच मनोरंजक है कि हर्ष-काल के भारतीयों की चारित्रिक श्रेष्ठता का वर्णन ह्वेनसाँग ने भी किया है।

वर्ण-व्यवस्था—अन्य युगों की भाँति गुप्त युग में भी समाज की आधार-शिला वर्ण-व्यवस्था ही थी। इस बात में सन्देह की गुञ्जाइश कम है कि वर्ण-व्यवस्था के जिन नियमों की रचना पूर्ववर्ती युगों में की जा चुकी थी उनका परिपालन इस समय किया जाता था। जिस प्रकार कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए विभिन्न बस्तियों का विधान किया है उसी प्रकार वराहमिहिर ने 'वृहत्संहिता' में भी इन चारों वर्णों के लिए अलग-अलग बस्तियों की व्यवस्था की है। गुप्तकाल के स्मृति ग्रन्थ अन्तर्जातीय विवाहों और भोजन-पान के सम्बन्ध की अनुमति नहीं प्रदान करते हालाँकि उन्हें गैर कानूनी भी करार नहीं करते। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में गुप्त युग वर्ण नियमों की जटिलता का प्रारम्भ युग था परन्तु व्यावहारिक रूप में इस बात के समुचित प्रमाण मिलते हैं कि सामाजिक नियम अभी बहुत कठोर नहीं होने पाये थे। साधारण तौर पर विवाह अपने वर्ण में ही होते थे, किन्तु अन्तर्वर्ण विवाहों का प्रचलन भी था। उच्च वर्ण के पुरुष अपने से निम्न वर्ण की स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे। इस प्रकार के विवाहों का स्मृति ग्रन्थों में अनुलोम विवाह की संज्ञा दी गई है। एक गुप्त कालीन लेख से इस बात का पता चलता है कि एक ब्राह्मण युवक ने क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह किया था।

प्रतिलोम विवाहों को, जिनमें पत्नी उच्च वर्ण की होती थी और पति उससे निम्नतर वर्ण का, याज्ञवल्क्य ने कानूनी माना है। समाज में इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन था। गुप्तकाल में भी विदेशियों की कन्याओं को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेने की घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा शायद इसलिए सम्भव हो सका कि विदेशी लोग हिन्दू समाज में मिलाए जा चुके थे और उनको सामाजिक संगठन में स्थान भी मिल चुका था, यद्यपि वे अब भी 'व्रात्य' ही समझे जाते थे। इक्ष्वाकु राजाओं ने कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी उज्जयिनी के शक राजकुल की कन्या से पाणिग्रहण किया था। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि 'स्त्रीरत्न' और शिल्प विद्या कहीं से भी ग्रहण कर लेनी चाहिये।

विभिन्न वर्णों के बीच भोजन-पान का सम्बन्ध गुप्त काल में निषिद्ध नहीं समझा जाता था। यह स्वाभाविक ही था कि जब अन्तर्जातीय विवाहों का समाज में प्रचलन था तो भोजन-पान के विषय में प्रतिबन्ध अधिक कठोर नहीं हो सकता था। शूद्रों को छोड़ कर प्रायः अन्य वर्णों के लोग परस्पर एक दूसरे से खान-पान का सम्बन्ध रखते थे। परन्तु याज्ञवल्क्य ने कृषक, नाई और अहीर के साथ भोजन करने की आज्ञा दे दी है, यद्यपि समाज में ये लोग शूद्र समझे जाते थे।

अपने वर्ण के ही अनुसार व्यवसाय ग्रहण, गुप्त काल में नियम के रूप में नहीं था। वस्तुतः ऋग्वैदिक काल से लेकर आज तक कभी भी यह बात पूर्ण रूप से नहीं पाई गई। लोग अपनी-अपनी सुविधाओं के अनुसार अपने वर्ण के प्रतिकूल भी व्यवसाय चुनते रहे हैं और आज भी ब्राह्मण योद्धाओं, ब्राह्मण व्यापारियों तथा वैश्य अध्यापकों का अभाव नहीं है। गुप्त-काल में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि लोग अपने वर्ण के अनुकूल व्यवसाय अपनाने के नियम का पालन नहीं करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-युग में शूद्रों की अवस्था पहले की अपेक्षा कुछ सन्तोषजनक थी। शूद्रों के विषय में इस काल के स्मृतिकारों का दृष्टिकोण काफी उदार प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को व्यापारी, कृषक और कारीगर होने की अनुमति दी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शूद्रों ने इस सुअवसर से अवश्य लाभ उठाया। कुछ शूद्रों ने सैन्य वृत्ति को भी अपनाया था और कुछ तो सेना के पदाधिकारी भी हो गये थे। शूद्रों के राजा होने का प्रमाण भी मिलता है। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि मतिपुर का राजा शूद्र जाति का था।

गुप्तकालीन समाज में दास-प्रथा विद्यमान थी और इस सम्बन्ध में इस काल के स्मृतिग्रन्थों में जो नियम दिये हैं वे इस प्रथा को कुछ विकसित रूप में प्रदर्शित करते हैं। नारद स्मृति में दास-प्रथा के सम्बन्ध में काफी सूक्ष्म विवेचन मिलता है। युद्ध बन्दियों को दास बनाने की प्रथा प्राचीन मालूम पड़ती है और गुप्त काल में भी इसका प्रचलन था। जो ऋणकर्ता अपना ऋण अदा नहीं कर पाते थे उनको भी अपने ऋणदाता की दासता स्वीकार कर लेनी पड़ती थी। हारे जुआरी को भी दास बन जाना पड़ता था। भारतवर्ष में दासता सम्भवतः कभी भी आजीवन नहीं होती थी। ऋणकर्त्ताओं, जुआरियों और युद्धबन्दियों को अपनी दासता से मुक्त होने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि दासों के साथ व्यवहार उनके स्वामियों के स्वभाव पर निर्भर करता था तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत में यूनान तथा रोम की भाँति दासों के प्रति कठोर व्यवहार नहीं किया जाता था।

पारिवारिक जीवन—सम्मिलित कुटुम्ब के ऊपर गुप्त काल का हिन्दू-समाज आधारित था। इस काल के स्मृति-ग्रन्थों में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा को प्रशंसनीय बतलाया गया है और पिता के जीवन-काल में परिवार के विभाजन की निन्दा की गई है। गुप्तकालीन अभिलेखों से भी सम्मिलित कुटुम्ब के अस्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। एक लेख से हमें पता चलता है कि दानकर्त्ता अपने, अपनी माँ, पत्नी, एक पुत्र, एक पुत्री, दो भतीजों और दो भतीजियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए दान करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पिता की मृत्यु के बाद भाई-भाई पूरे परिवार के साथ ही रहा करते थे।

नारियों की स्थिति—गुप्त कालीन समाज में नारियों की स्थिति पिछले युगों की अपेक्षा कुछ गिरी हुई प्रतीत होती है। स्त्रियों के विवाह की अवस्था घटा दिये जाने

से उनके लिए सामान्यतया उच्च शिक्षा का द्वार अवरुद्ध हो गया था और विवाह के सम्बन्ध में भी उनको किसी प्रकार पतिवरण की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। कुछ स्मृति-ग्रन्थों में पिताओं के लिए यह अनिवार्य ठहराया गया है कि वे अपनी कन्याओं का विवाह उनके यौवन के पूर्व ही कर दे।

गुप्त कालीन समाज में विधवा-विवाह का प्रचलन किस सीमा तक था यह कह सकना कुछ कठिन अवश्य है। 'अमरकोष' से पता चलता है कि एक द्विजन्मा पुरुष पुनर्भू विवाहिता विधवा को अपनी प्रमुख पत्नी भी बना सकता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने अग्रज की विधवा पत्नी से विवाह किया था। नारद और पराशर ने विधवाओं के पुनः विवाह को नियमानुकूल बताया है किन्तु अन्य स्मृतियों ने विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम के जीवन को आवश्यक कहा है। बृहस्पति ने तो यहाँ तक कहा है कि विधवा स्त्री को अपने पति के साथ उसकी चिता में जल जाना चाहिए। सती प्रथा का प्रचलन सम्भवतः समाज में था।

ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा गुप्त कालीन समाज में कुछ सीमा तक अवश्य विद्यमान थी। यद्यपि गुप्त काल की कलाकृतियों में नारी प्रतिमाओं के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं है तथापि अभिजात कुलों की स्त्रियाँ घरों से निकलने पर घूँघट अथवा पर्दे का प्रयोग करती थीं। परन्तु इस युग में पर्दे की प्रथा विशेष कठोर नहीं थी।

वस्त्राभूषण—गुप्त-काल के साहित्यिक ग्रन्थों और कलाकृतियों से इस समय के वस्त्राभूषण पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। पुरुषों का वस्त्र साधारणतया एक अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय होता था।

स्त्रियों की पोशाक गुप्त काल में भी बहुत कुछ आज जैसी थी। साड़ी तथा पेटीकोट ही उस काल की नारियों के सामान्य वस्त्र थे। कहीं-कहीं एक लम्बी साड़ी से ही दोनों वस्त्रों का काम चल जाता है। स्त्रियों की साड़ियाँ बहुधा रंगीन हुआ करती थीं।

सूती कपड़े का प्रचलन अधिक था किन्तु ऋतु के अनुसार ऊनी और रेशमी कपड़े पहनना भी गुप्तकाल के भारतवासी जानते थे। फाह्यान के विवरण से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि भारतवासी ऊनी तथा रेशमी कपड़ों का प्रयोग बहुतायत से किया करते थे।

गुप्तकालीन साहित्य-ग्रन्थों और कलाकृतियों द्वारा इस काल के स्त्री-पुरुषों की अलंकारप्रियता तथा विभिन्न प्रकार के आभूषणों का परिचय प्राप्त होता है। स्त्रियों के आभूषण विविध प्रकार के तथा नेत्रों को भले लगने वाले होते थे। सोने तथा मोतियों के हारों का सौन्दर्य अद्भुत होता था।

भोजन-पान—गुप्त कालीन भारतीय समाज में शाकाहार तथा मांसाहार दोनों का ही प्रचलन था। ब्राह्मण तो निश्चय ही काफी सीमा तक शाकाहारी हो गये थे और मदिरापान भी इन्होंने त्याग दिया था। क्षत्रियों में फिर भी सुरा-सेवन का प्रचार बना रहा।

आमोद-प्रमोद और उत्सव—भारतवासियों का जीवन बड़ा आमोद-प्रमोदमय था। राजाओं के लिए मृगया मनोरंजन का प्रमुख साधन थी। साधारण जनता के लिए मनोरंजन की पर्याप्त व्यवस्था थी। भैसों तथा हाथियों की परस्पर लड़ाई का उस समय काफी प्रचार था और इन लड़ाइयों को देखने से लोगों का मनो-विनोद होता था। हाँ, यह अवश्य उल्लेखनीय बात है कि भारत में उस क्रूर और निर्दय

कार्य को मनोरंजन की दृष्टि से कभी नहीं देखा गया जिसका प्रचार रोम में था। वहाँ एक भयंकर पशु को मदमत्त कर अखाड़े में छोड़ दिया जाता था और उससे युद्ध करने के लिए उसी अखाड़े में किसी निहत्थे पुरुष को छोड़ा जाता था। जब पशु मनुष्य पर आघात करके उसका अंग-भंग करता या उसे लहूलुहान कर देता तो दर्शक हर्ष-निस्वन करके तालियाँ बजाते। भारतवर्ष में ऐसे आसुरी मनोरंजन की कभी कल्पना भी नहीं की गई।

'मृच्छकटिक' से द्यूतक्रीड़ा का भी परिचय मिलता है। भारतीय इतिहास के पाठकों को मालूम होगा कि ऋग्वेद के समय में भी जुए का मनोरंजन के एक महत्व-पूर्ण साधन के रूप में काफी प्रचार था। गुप्तकाल में भी जुए का प्रचलन था और कुछ लोग इसके द्वारा निश्चय ही मनोरंजन करते थे।

नगर में अनेक नाटक-गृह और गान-भवन होते थे जहाँ लोगों का मनोरंजन होता था। समाज के सुशिक्षित एवं शिष्ट जनों का मनोरंजन नृत्य, गायन, वादन तथा नाटकों द्वारा ही होता था।

सामाजिक उत्सव इस काल में आमोद-प्रमोद के सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन थे। इसका उल्लेख फाहियान के यात्रा-विवरण में किया गया है।

आर्थिक जीवन

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्त युग के भौतिक वैभव का जो विवरण दिया है वह तभी सम्भव हो सकता था जब कि देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ रही हो। इस काल में निस्सन्देह जितनी प्रगति सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में की गई थी उतनी ही आर्थिक क्षेत्र में भी।

कृषि—गुप्तकालीन भारत की आर्थिक रचना कृषि पर अवलम्बित थी। देश में इस समय जमींदारी प्रथा नहीं थी। गुप्त काल के पूर्व ही लोगों ने कृषि की वैज्ञानिक पद्धति सीख ली थी और वे इस पद्धति के द्वारा विभिन्न प्रकार की फसलें पर्याप्त परिमाण में उत्पन्न करते थे। अन्न की विविध फसलों के अतिरिक्त देश में भाँति-भाँति के फलों तथा शाकों की भी उपज होती थी। कुछ स्थान विशेषकर फलों की उपज के लिए ही विख्यात थे। कई तरह के तिलहन की भी पैदावार होती थी।

उद्योग-धन्धे—गुप्त काल में भारतीय उद्योग-धन्धों की स्थिति बड़ी ही समृद्धि-पूर्ण और सन्तोषजनक थी। कुछ उद्योग-धन्धों में भारत के गुप्त कालीन कारीगरों ने जो निपुणता प्राप्त की वह आज के यान्त्रिक युग के कारीगरों के लिए ईर्ष्या और स्पृहा की वस्तु है। लोहे की वस्तुओं के निर्माण का उद्योग इसी प्रकार का एक धन्धा है। पोत-निर्माण कला में गुप्त कालीन कारीगर काफी कुशल थे और वे पन्द्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय जलयानों की अपेक्षा बड़े और मजबूत जलयान बनाते थे। दिल्ली के निकट का लौह-स्तम्भ आज भी अपनी उत्कृष्ट कारीगरी द्वारा लोगों को आश्चर्यान्वित कर देता है। लौह उद्योग और पोत-निर्माण के अतिरिक्त अन्य उद्योग-धन्धों में भी गुप्तयुग के भारतीय कारीगर काफी निपुण थे।

गुप्त काल में वस्त्र व्यवसाय काफी विकसित दशा में था। इसके प्रमुख केन्द्र गुजरात, बंगाल, दक्षिण और तामिल देश में अवस्थित थे।

गुप्तकाल में विविध प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया जाता था जिससे यह ज्ञात होता है कि सुवर्णकार का व्यवसाय समृद्ध अवस्था में था। वास्तव में सुवर्णकार की कला इतनी विकसित थी कि इसके द्वारा विज्ञान की एक नई शाखा का जन्म

हुआ जिसका नाम 'रत्न परीक्षा' था। फाहियान के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि इस काल में सोने-चाँदी और मणि की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। ताँबे के बढ़िया बर्तन तैयार करने का उद्योग भी प्रचलित था। भगवान बुद्ध की कुछ ऐसी भी मूर्त्तियाँ मिली हैं जो पीतल और काँसे की बनी हुई हैं, जिनसे पता चलता है कि इन धातुओं का भी लोग प्रयोग करते रहे होंगे। मोती के आभूषण बनाने के व्यवसाय की गुप्तकाल में बहुत अधिक उन्नति हुई थी।

साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों स्रोतों से पता चलता है कि गुप्त युग के भारतीय उद्योग-धन्धों में गज-दन्त-शिल्प को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस काल के गजदन्त-शिल्पियों की निपुणता प्रशंसनीय थी। वे विविध प्रकार की वस्तुएँ हाथी-दाँत से तैयार करते थे, जिनका प्रयोग धनी-मानी लोग अपने घरों को सजाने में करते थे।

श्रेणियाँ--प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में व्यापारियों और व्यवसायियों की श्रेणियों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। गुप्त लेखों तथा मुहरों में कई स्थान पर व्यावसायिक श्रेणियों के अस्तित्व का पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-युग में पटकार, तैलिक, मृत्तिकार, शिल्पकार, वणिक आदि व्यवसायियों की श्रेणियाँ विद्यमान थीं। ये श्रेणियाँ समाज में वड़े आदर और सम्मान की अधिकारिणी समझी जाती थीं। ये स्वतन्त्र संस्थाएँ होती थीं और अपने ही नियमों तथा उपनियमों द्वारा संचालित होती थीं। इनके नियमों और परम्पराओं का सम्मान राज्य द्वारा किए जाने का उल्लेख 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में मिलता है। श्रेणियों सदस्यों में जो मुकदमे आपस में हुआ करते थे उनका फैसला श्रेणी की व्यवस्थापिका करती थी, राज्य के न्यायालय नहीं। श्रेणियों के पास अपनी सम्पत्ति तथा अपना कोष होता था। कई-कई श्रेणियों के पास तो इतना अधिक धन होता था कि वे दरीगृह दान कर सकतीं अथवा मन्दिर का निर्माण करा सकती थीं।

व्यापार--कृषि और उद्योग-धन्धों की समृद्धि ने व्यापार की उन्नति को अनिवार्य कर दिया। आन्तरिक व्यापार की अवस्था काफी सन्तोषजनक थी और देश के एक भाग से दूसरे भाग तक व्यापारी अपनी विक्रय सामग्रियों के साथ बिना किसी रोक-टोक के आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार भी समुन्नत दशा में था। देश के भीतरी व्यापार की सुविधा के लिए राजमार्गों और जलमार्गों की समुचित व्यवस्था थी और दोनों ही मार्ग से व्यापारी अपने समान पहुँचवाते तथा यात्रा करते थे। इस समय भड़ोच, उज्जयिनी, विदिशा, पैठन, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्र तथा पेशावर व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। ये राजपथों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे। गुप्तों के सुदृढ़ शासन-व्यवस्था के कारण राजमार्ग सर्वथा सुरक्षित थे। इस समय जल-मार्ग व्यापार की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक तथा कम व्ययसाध्य था। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी कृष्णा, कावेरी, निदयों द्वारा व्यापार किया जाता था। बड़ी-बड़ी नौकाएँ बनाई जाती थीं जिनके द्वारा व्यापार काफी सुविधापूर्ण हो गया था।

भारत का विदेशी व्यापार काफी विकसित अवस्था में था और देश की आर्थिक समृद्धि का महत्वपूर्ण कारण था। विदेशी व्यापार भी जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा किया जाता था। स्थल मार्ग द्वारा भारत पूर्व में तिब्बत तथा चीन और पश्चिम में ईरान और अरब से व्यापार करता था। सहस्रों गाड़ियों के कारवाँ भारत से विदेशों को जाते थे और यहाँ की बनी हुई वस्तुएँ विदेशी बाजारों में बिकती थीं। जलमार्गों

द्वारा विदेशी व्यापार अधिक परिमाण में किया जाता था। पूर्व में ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह बंगाल का एक प्रमुख नगर था। भारत के पूर्वीय व्यापार का यह सबसे प्रमुख केन्द्र था। चीन, लंका, जावा और सुमात्रा आदि देशों को भारतीय व्यापारी इसी बन्दरगाह द्वारा जाते थे। आन्ध्र देश में गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मुहाने पर अनेक बन्दरगाह थे जिनमें कदूर और घण्टशाला अधिक प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख टालमी ने भी किया है। कावेरी पट्टनम और तोन्दई चोल देश के प्रमुख बन्दरगाह थे। पाण्डच देश के प्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकई तथा सालि पुर थे और इसी प्रकार मालवार के समुद्री तट पर कोट्टयम और मुजरिस प्रमुख बन्दरगाह थे। चीन और अन्य पूर्वीय देशों के साथ इन बन्दरगाहों के मार्ग से भारत ने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। व्यापार के साथ-साथ इन स्थानों में भारतीय संस्कृति का भी प्रचार होता था।

गुप्त काल में पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध काफी पुराना हो चुका था। कुषाण-संस्कृति का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि कुषाण काल में भारत को पश्चिमी देशों के साथ व्यापार करने से कितना अधिक लाभ होता था। गुप्त काल में यह व्यापार और अधिक सम्पन्न तथा वृद्धिगत हुआ। जिस समय से चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने कठियावाड़ के बन्दरगाहों पर अपना अधिकार कर लिया, भारत के पश्चिमी व्यापार को प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्राचीन तामिल साहित्य में यवनों का उल्लेख किया गया है और इस साहित्य के अध्ययन द्वारा रोम और अन्य यवन देशों के साथ भारतके व्यापारिक सम्बन्ध पर काफी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। कोसमस (Cosmas) नामक यवन ने भी भारत और पश्चिमी देशों के व्यापार का उल्लेख किया है। इस लेखक ने लिखा है कि भारत की कृषि-सम्बन्धिनी उपजों में घीकुआँर, लौंग और चन्दन की लकड़ी भारत के पूर्वीतट से लंका पहुँचायी जाती थी और वहाँ से उनका निर्यात पाश्चात्य बन्दरगाहों को किया जाता था। फारस तथा इथियोपियन समुद्र तट तक ये वस्तुएँ पहुँचती थीं। गोल मिर्च का निर्यात विशेष तौर पर किया जाता था। यह वस्तु मलाबार के पाँच बन्दरगाहों से विदेशों को भेजी जाती थी। मोती, बहुमूल्य पत्थर, सुगन्धित पदार्थ, कपड़े, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल और धूपादि निर्यात की प्रमुख सामग्रियाँ थीं। इन वस्तुओं के बदले में विदेशों से सोना तथा सोने के सिक्कों का आयात होता था। भारतवासी खजूर, घोड़े, टिन, कपूर तथा मूंगे विदेशों से मँगाते थे। चीन के रेशमी वस्त्र भी देश में काफी लोकप्रिय थे।

धार्मिक अवस्था

गुप्त काल भारत के धार्मिक विकास के लिए भी विख्यात था। गुप्त सम्राटों की धार्मिक उदारता वस्तुतः प्रशंसनीय थी।

आज के प्रचलित हिन्दू धर्म के स्वरूप का निर्माण गुप्त युग में ही हुआ। वैदिक देवताओं की पूजा के स्थान पर विष्णु और शिव की उपासना का प्रचार समाज में बढ़ा। गुप्त युग के धार्मिक जीवन की यह एक प्रमुख विशेषता यह है कि इस समय धर्म की जनवादी परम्परा को, जिसकी अभिव्यक्ति शैव और वैष्णव तथा महायान सम्प्रदायों के द्वारा हुई थी, बड़ा प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कई पुराणों की रचना की गई जिनमें शैव और वैष्णव धर्मों का महत्व बतलाया गया और कथाओं के माध्यम से जनता को इन धर्मों के सिद्धान्तों से अवगत कराने का प्रयत्न किया गया।

वैदिक धर्म--यद्यपि गुप्त युग में लोक-रुचि के अधिक निकट वाले वैष्वण और शैव धर्मों का प्रचार अधिक था और बौद्ध तथा जैन धर्म भी अधिक ह्रासोन्मुखी स्थिति में नहीं थे तथापि वैदिक धर्म समाज में एक सबल शक्ति के रूप में था। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्मानुयायी थे किन्तु उन्होंने वैदिक धर्म का सक्रिय पोषण किया।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक वैदिक धर्म समाज में काफी लोकप्रिय था। बाद में भी साधारण जनता की श्रद्धा इस धर्म के प्रति बनी रही।

गुप्त युग के लेखों से इस बात की सूचना काफी मिलती है कि उन्होंने ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ दीं। यह एक उल्लेख्य तथ्य है कि ब्राह्मणों को दान देना वैदिक या ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख तत्व है।

अभिलेखों और मुद्राओं द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत के नृपतियों द्वारा वैदिक यज्ञ, विशिष्टतया अश्वमेध यज्ञ, किये जाने के उल्लेख प्रचुरतया प्राप्त होते हैं।

वैष्णव धर्म--वैदिक धर्म का प्रभाव साधारण जनता पर बहुत गम्भीर नहीं पड़ सका। भक्तिप्रधान स्मार्तधर्म की दिनोदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण वैदिक यज्ञों का प्रचार उतना अधिक नहीं रह सका जैसा कि कुछ ही वर्षों पूर्व था। पाँचवीं शताब्दी से हम निश्चय ही वैदिक यज्ञों को ह्रासोन्मुख पाते हैं।

इस बात का हमने पहले ही उल्लेख किया है कि गुप्त नरेश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उनके समकालीन अन्य राजाओं के भी वैष्णव होने का प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर उनको परम भागवत कहा गया है जिससे यह पता चलता है कि वे भगवान् वासुदेव के महान भक्त थे।

उपलब्ध प्रमाण के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि गुप्त युग में वैष्णव धर्म काफी लोकप्रिय होता जा रहा था। दक्षिण भारत में इसके प्रचार का श्रेय आलवार सन्तों को है जिन्होंने तामिल भाषा में सरस और भावपूर्ण पदों की रचना करके लोगों का ध्यान वैष्णवमत की ओर आकृष्ट किया। इनके पद इतने सरल हैं कि साधारण जन भी इन्हें समझ सकते हैं। उत्तर भारत में वैष्णव मत के प्रचार का कारण पुराणों का प्रणयन था जिनमें स्थान-स्थान पर विष्णु की महिमा गाई गई है।

गुप्त युग में भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना की गई जिनमें वाराह, कृष्ण, वामन, मत्स्य, कूर्म और राम के अतवार प्रमुख थे। इन समस्त अवतारों में वाराह और कृष्ण के अवतार सबसे अधिक लोकप्रिय थे। तामिल साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि दक्षिण में भी कृष्ण की लोकप्रियता सब अवतारों से अधिक थी।

शैव धर्म--गुप्त काल में शैव धर्म का भी काफी प्रचार था। यद्यपि गुप्त सम्राट् स्वयं 'परम भागवत्' थे तथापि उन्होंने शिव पूजा के प्रसार में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। उनके मन्त्री, सेनानायक और उच्च पदाधिकारी शैव थे। यदि गुप्त, पल्लव और शुंग नरेश अधिकांशतया वैष्णव थे तो भारशिव, वाकाटक, नल, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के नरेश शैव धर्म को मानते थे।

अपने या अपने पूर्वजों की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए किसी शिव-मन्दिर का निर्माण कराना, गुप्त युग की एक सामान्यतया प्रचलित प्रथा थी। पृथ्वीषेण और विष्णुवर्मन ने, जो गुप्त तथा पल्लवों के सेनाधिकारी थे, अपने नामों की स्मृति बनाए रखने के लिए मन्दिरों की स्थापना कराई थी।

अन्य देवताओं की पूजा—गुप्त युग में विष्णु और शिव के साथ-साथ अन्य देवताओं की भी पूजा की जाती थी। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश देवताओं की त्रिमूर्ति में विष्णु और महेश (शिव) की पूजा के विषय में हम पढ़ चुके हैं। यहाँ ब्रह्मा के विषय में भी हमें कुछ जान लेना चाहिए। पौराणिक धर्म का विकास होने पर कई वैदिक देवताओं का स्थान गौण हो गया और नए देवताओं की प्रतिष्ठा बढ़ गई। जिन देवताओं को गौण स्थान मिला उनमें से ब्रह्मा भी थे। त्रिमूर्ति में उनको स्थान अब भी प्राप्त था किन्तु उनका स्थान शिव और विष्णु के समकक्ष न रह गया। फिर भी ब्रह्मा के उपासक समाज में विद्यमान थे। पद्मपुराण में ब्रह्मा का महत्व पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है।

आजकल भी यद्यपि लोग सूर्य की पूजा कर लेते हैं तथापि देवता के रूप में सूर्योपासना उतनी प्रचलित नहीं है जैसा कि गुप्त युग में थी। वर्त्तमान युग में हमें कभी सूर्य के मन्दिर नहीं दृष्टिगत होते किन्तु गुप्त काल में कई सूर्य-मन्दिरों के उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं।

गुप्त काल में शक्ति (देवी) की पूजा का भी प्रचलन था। यहाँ स्थानाभाव के कारण शक्ति-पूजा या शाक्त धर्म के उद्‌भव पर विचार नहीं किया जा सकता परन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कालान्तर में शक्ति और शिव की पूजा का एक दूसरे के साथ समन्वय होना प्रारम्भ हो गया। शिव और शक्ति की पूजा उनके करुणामय और भयंकर, दोनों प्रकार के रूपों में की जाती थी। सम्भवतः इस तत्व मे दोनों मतों को एक दूसरे के निकट आने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। देवी के विभिन्न रूपों में उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता इत्यादि करुणाशील रूप में और चामुन्डा, दुर्गा, कालरात्रि; कात्यायिनी और भैरवी के रूप भयंकर थे।

हिन्दू धर्म का विदेशों मे प्रचार—हम यह देख चुके हैं कि पूर्ववर्ती युगों में हिन्दी धर्म को किस प्रकार विदेशियों ने ग्रहण कर लिया था। गुप्त युग में भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार होने पर हिन्दू धर्म भी वहाँ फैल गया। जावा, सुमात्रा और बोर्नियों में हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा का काफी प्रचार था और हिन्दुओं की धार्मिक विचार-धाराओं को वहाँ के निवासियों ने ग्रहण किया। चौथी शताब्दी तक मेसोपोटैमियाँ और सीरिया में हिन्दू-मन्दिरों का अस्तित्व बना रहा। यह सम्भव है कि हिन्दू धर्म ने ईसाई धर्म पर कुछ प्रभाव डाला था।

बौद्ध-धर्म—गुप्त युग का बौद्ध धर्म अपने अधिकांश रूप में महायान था। इसके उद्‌भव और विकास के विषय में हम पीछे पढ़ चुके हैं। परन्तु हमें यह नहीं समझना चाहिए कि महायान बौद्ध धर्म की प्रधानता ने हीनयान को बिल्कुल ही ह्रासोन्मुख कर दिया। यद्यपि लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण महायान धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया था तथापि गुप्त काल में हीनयान भी काफी फल-फूल रहा था। परन्तु समष्टि रूप में विवेचन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय लोक में भक्ति प्रधान स्मार्त-धर्मों का जितना अधिक प्रचार था उतना बौद्ध और जैन धर्मों का नहीं।

फाहियान पाँचवीं शताब्दी में भारत में आया था और उसने देश में बौद्ध धर्म की अवस्था के विषय में लिखा है। उसने अपनी यात्रा मध्य-एशिया के देशों से प्रारम्भ की थी जहाँ पर उसने बौद्ध धर्म को फलते फूलते हुए पाया। मार्ग में उसने मथुरा में अनेक बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध संघों को देखा और अधिकांश स्थानों में उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि नृपतिगण अधिकतर इस धर्म के प्रति सौहार्द्र का दृष्टिकोण रखते

थे और भिक्षुओं का उचित सम्मान करते थे। कुछ राजाओं ने संघों को भूमि दान में दे रक्खी थी जिससे विहारों का व्यय अच्छी तरह से चल सके।

यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से हीनयान और महायान मतों के केन्द्र भिन्न-भिन्न स्थानों में थे तथापि इन दोनों मतों के सभी सम्प्रदाय एक दूसरे से पृथक नहीं रहते थे। वहुत से स्थानों में विशेषकर मगध में वे लोग साथ-साथ रहते थे। नालन्दा, विक्रमशिला और पाटलिपुत्र के शिक्षा-केन्द्रों में महायान और हीनयान मतों के मानने वाले मिलजुलकर रहते थे।

जैन धर्म—जैन धर्म से इतिहास की दृष्टि से गुप्त युग का काफी महत्व है। इस समय जैन मत के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं। बलभी की प्रसिद्ध जैन संगीति गुप्त काल में ही हुई थी। इस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों को लेखवद्ध किया गया। इसके बाद जैन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों पर टीकाओं एवं भाष्यों की रचनाएँ कीं। भद्रबाहु द्वितीय ने महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थों पर नियुक्तियाँ (टीकाएँ) लिखीं। जैनियों ने भी संस्कृत को अपना लिया। क्षपणक तथा सिद्ध दिवाकर नाम के दो विद्वानों ने भी कई दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

तीसरी शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म भारतवर्ष में अच्छी तरह से जम गया। मगध से चलकर दक्षिण-पूर्व में कलिंग तक मथुरा और मालवा तक, पश्चिम में और दक्षिण में तामिल नाड तक जैन धर्म फैल गया। परन्तु इस समय जैन धर्म का केन्द्र मगध में न रह गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इसका प्रचार अधिक हुआ। उत्तरी भारत में जैन धर्म को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो सका किन्तु दक्षिण में कई राजवंशों ने इसका पोषण किया, अतएव वहीं इसका प्रधान केन्द्र बन गया। फाहियान ने जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जैन धर्म उसके समय में समृद्ध अवस्था में नहीं था। फिर भी व्यापारियों और मध्यवर्ग के लोगों में इस धर्म का पर्याप्त प्रचार था। मथुरा और बलभी श्वेताम्बर जैन धर्म के प्रबल केन्द्र थे। उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर जैन मत का केन्द्र था। दक्षिण भारत में कर्नाटक और मैसूर में दिगम्बर जैन मत के गढ़ थे। कदम्ब और गंग राजाओं ने इसे राजाश्रय प्रदान किया था। किन्तु बाद में जैन धर्म को शैव धर्म के रूप में एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मिल गया जिससे दक्षिण में भी जैन धर्म का प्रचार वहुत कम हो गया किन्तु यह बिलकुल नष्ट नहीं हो सका और आज भी तामिल देश, गुजरात तथा मालवा में जैनियों की संख्या काफी है।

गुप्त युग में साहित्य की उन्नति

गुप्त युग की साहित्यिक समृद्धि की तुलना एथेन्स के इतिहास के पेरीक्लीयन युग और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के एलीजाबीदन युग से की जाती है। चीनी इतिहास के स्वर्ण युग तंक काल की भाँति गुप्त युग में कविता का विकास अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कुछ इतिहासकारों ने गुप्त काल की साहित्यिक समृद्धि को ध्यान में रखते हुए इसकी तुलना लैटिन साहित्य के आगस्टन युग से की है।

विशुद्ध साहित्य—गुप्त काल में विशुद्ध साहित्य अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, आख्यायिका आदि की अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त कालीन साहित्यिक महारथियों में कविकुल गुरु कालिदास का नाम अग्रगण्य है। 'कुमार सम्भव' और रघुवंशम्'' महाकवि के दो महाकाव्य हैं। 'मेघदूतम्' और 'ऋतुसंहार' उनके दो खण्ड काव्य हैं। 'विक्रमार्वशीयम्' 'मालविकाग्निमित्रम्' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' उनके तीन नाटक हैं।

शूद्रक गुप्त-युग के दूसरे साहित्यकार थे। इनका सुविख्यात नाटक 'मृच्छकटिकम्' संस्कृत साहित्य का एक अनोखा और एक ऐसा अकेला नाटक है जो समाज के यथार्थवादी दैनिक जीवन के चित्रण से सप्राण है। 'मुद्राराक्षस' के प्रणेता विशाखदत्त भी गुप्त काल में ही हुए थे। विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का भी प्रणयन किया था किन्तु अपने मूलरूप में यह सम्पूर्ण नाटक उपलब्ध नहीं है। सुबन्धु इस काल के प्रसिद्ध गद्य लेखक थे जिनकी 'वासवदत्ता' ने, बाण के शब्दों में, कवियों के गर्व को चूर कर दिया। 'किरातर्जुनीयम्' के रचयिता भारवि का समय कुछ विद्वान् छठी शताब्दी का अन्त बतलाते हैं। भट्टि का काल भी सम्भवतः यही है। इनका महाकाव्य 'रावणवध' एक विचित्र काव्य है, जिसके प्रत्येक श्लोक के द्वारा संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम का विश्लेषण किया गया है और साथ ही साथ राम के जीवन की घटनाओं का वर्णन भी किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि भी इसी समय हुए थे। उनके तीन ग्रन्थ 'नीतिशतक' 'श्रृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' अपनी दृष्टि से अतुलनीय एवं काफी महत्त्वपूर्ण हैं। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में भर्तृश्रेष्ठ नामक कवि का उल्लेख किया गया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त गुप्त युग में ही संभवत 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करण तैयार किए गए।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चतच' की रचना भी गुप्त काल में हुई। भारत की विश्व सभ्यता की प्रमुख देनों में से विद्वान् 'पञ्चतन्त्र' को भी एक मानते हैं। इस पुस्तक में कथाओं के माध्यम द्वारा नैतिक शिक्षा और सांसारिक जीवन के अनुभव प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। संसार की लगभग प्रत्येक भाषा में 'पञ्चतन्त्र' का अनुवाद किया गया है।

धार्मिक साहित्य—गुप्त युग की साहित्यिक क्रियाशीलता धार्मिक साहित्य के सृजन एवं संवर्द्धन में भी दिखलाई पड़ी धार्मिक साहित्य में सबसे अधिक महत्व के पुराण हैं। पुराणों की रचना का कार्य गुप्त युग के काफी पहले ईसा की प्रथम शताब्दी के कई सौ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हो चुका था किन्तु आज वे जिस रूप में प्राप्त हैं वह रूप अधिकतर गुप्त-काल में ही दिया गया। वैदिक संस्कारों एवं भक्तिवादी धार्मिक आन्दोलन के समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास पुराणों में ही किया गया है और इस बात के लिए प्रमाण है कि यह प्रयास गुप्त काल में ही किया गया।

'मनुस्मृति' के आधार पर गुप्त-युग में स्मृतियाँ भी लिखी गई। याज्ञवल्क्य नारद, कात्यायन और बृहस्पति ने अपने स्मृति ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त काल में ही किया। कात्यायन का स्मृति ग्रन्थ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु इसके उदाहरण अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं।

अर्थशास्त्र के आधार पर गुप्त-युग में केवल 'कामन्दकीय नीति सार' की ही रचना की गई। 'नीतिसार' के रचयिता कामन्दक ने कौटिल्य के सिद्धान्तों और शिक्षाओं को ही अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है।

दार्शनिक साहित्य—गुप्त युग में प्रचुर दार्शनिक साहित्य का भी सृजन हुआ। हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों सभी धर्म वालों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की। सांख्य दर्शन पर सबसे पहले टीका लिखने वाले ईश्वर कृष्ण थे जिन्होंने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा।

जैमिनि के 'मीमांसा सूत्रों' की रचना गुप्तकाल के पूर्व हो चुकी थी किन्तु उन पर प्रामाणिक टीका, साम्बर भाष्य का प्रणयन ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ।

उद्योतकर नामक विद्वान् ने सातवीं शताब्दी में वात्स्यायन के मतों की पुष्टि करते हुए दिंगनाग के विचारों को काटा है। 'पदार्थधर्म संग्रह' का प्रणयन करके प्रशस्तपाद ने कनांग के वैशेषिक दर्शन को बहुत आगे बढ़ाया। प्रशस्तपाद का ग्रन्थ एक टीका मात्र नहीं है, वरन् इसकी विषय प्रतिपादन की शैली इतनी सुन्दर है कि मौलिक ग्रन्थ की उपादेयता को यह निश्चय ही बढ़ा देता है। चन्द्र नामक विद्वान् ने 'दशपदार्थ शास्त्र' लिखा जिसका अब चीनी संस्करण ही प्राप्त है।

बौद्ध और जैन धर्मों में भी प्रचुर दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। गुप्त युग में बौद्ध धर्म की दो-दो उपशाखायें हो गई हैं। हीनयान की दो शाखायें थीं—

(१) थेरवाद (स्थविरवाद) और वैषाषिक (सर्वास्तिवाद)। महायान सम्प्रदाय भी दो उपशाखाओं में विभक्त था—(१) माध्यमिक तथा (२) योगाचार। असंग योगाचार सम्प्रदाय के सबसे प्रधान आचार्य थे। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ ये हैं— (१) 'महायान सम्परिग्रह' (२) 'प्रकरण आर्यवाचा' (३) 'महायानाभिधर्म संगीति-शास्त्र' (४) 'वज्र छेदिका टीका' (५) 'योगाचार भूमि शास्त्र'। वसुबन्धु भी प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य और बड़े वाकपटु थे। वसुबन्ध ने हीनयान और महायान दोनों पर ग्रन्थ लिखे। 'अभिधर्मकोष' इनकी सर्वप्रसिद्ध कृति है जिसका प्रणयन उन्होंने वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए किया था। बौद्धों के दार्शनिक साहित्य में आचार्य दिंगनाग की रचनाओं का बहुत अधिक महत्व है। 'प्रमाण समुच्चय' इन का सबसे विख्यात ग्रन्थ है। 'न्याय प्रवेश' इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। धर्मपाल नामक काञ्ची निवासी विद्वान् ने योगाचार सम्प्रदाय का विकास करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बुद्धघोष का बौद्ध दार्शनिकों में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। 'विशुद्धिमग्ग' नामक ग्रन्थ में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप पर बुद्धघोष ने बड़ा विशद विवेचन किया है। 'समस्तपासादिका' नामक ग्रन्थ 'विनयपिटक' के समस्त ग्रन्थों की टीका है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक क्षेत्रों का भी पता चलता है। 'सुमंगल विलासिनी' बुद्धघोष की एक सुविख्यात रचना है जिनमें 'दीर्घनिकाय' की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। कतिपय विद्वानों ने इस ग्रन्थ से बौद्ध धर्म के उदयकाल के ऐतिहासिक तथ्य ढूंढ़ निकाले हैं।

गुप्त युग को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसी युग मे जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया और जैन दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी गुप्त काल में ही हुआ। आचार्य सिद्धसेन गुप्त काल के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने दिंगनाग की भाँति न्याय दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। 'न्यायावतार' जैन न्याय का सबसे प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने 'तत्वानुसारिणी तत्वार्थ टीका' नाम क मौलिक ग्रन्थ की रचना भी की। सिद्धसेन दिवाकर कवि भी थे। इनके स्तोत्र भक्ति और श्रद्धा के भावों से ओत-प्रोत हैं।

अन्यं साहित्यिक ग्रन्थ—गुप्त युग में प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह हुए जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अमरकोष' का प्रणयन किया। यह संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कोष है। चान्द्र काशमीर निवासी बौद्ध विद्वान् ने एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा जिसमें व्याकरण कि ऐसी पद्धति का विकास किया गया था जो ब्राह्मण तत्वों से मुक्त थी। चान्द्र का व्याकरण काशमीर, तिब्बत, नैपाल और लंका में बड़ा प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय था। मल्लिनाथ नामक प्रसिद्ध टीकाकार ने 'मेघदूत' की अपनी टीका में चान्द्र द्वारा चलाई गई व्याकरण-पद्धति का उल्लेख किया है। अन्य व्याकरण-ग्रन्थों की रचना भी गुप्त-युग में हुई। परन्तु इनमें से अधिकांश टीकाएँ थीं। कहा जाता है कि भर्तृहरि ने पतञ्जलि

के महाभाष्य पर अपनी टीका लिखी परन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं हुई है। जिनेन्द्रबुद्धि ने 'काशिका' पर अपनी 'न्यास' नामक टीका लिखी। माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल बध' में 'न्यास' का उल्लेख किया है।

तामिल साहित्य—गुप्त काल का तामिल साहित्य प्रमुखतया धार्मिक है। शैव नायनमारों और वैष्णव आलवारों ने तामिल भाषा में भक्ति विषयक सरस पदों की रचना की। वे सीधे-सादे भक्त थे और अपने उपास्य देवों के प्रति इन्होंने भक्ति तरंग में जो गीत गाये वे ही पदों के रूप में हो गये। नायनमारों और आलवारों के पदों में यह भाव प्रचुरता से व्यक्त किया गया है कि सर्वशक्तिमान् और भक्तवत्सलप्रभु तर्कमयी बुद्धि द्वारा नहीं अपितु भक्तिरस सने तथा तड़पते हुए हृदय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

विज्ञान

गुप्त काल में विज्ञान की भी अधिक उन्नति हुई। ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में गुप्त कालीन विज्ञान को महत्वपूर्ण देनें हैं। दशमलव पद्धति का जो विश्व सभ्यता को भारत के अनेक उपहारों में से एक प्रमुख उपहार है, विकास गुप्त युग में ही हुआ। भारत में चिकित्सा पद्धति का गुप्त काल के पूर्व ही काफी विकास हो चुका था, गुप्त काल में विकसित चिकित्सा-विज्ञान का संरक्षण और संवर्द्धन किया गया, परन्तु दुर्भाग्यवश इस युग के चिकित्सा-विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ हमें आज उपलब्ध नहीं।

ज्योतिष—आर्यभट्ट गुप्त-काल के सुप्रसिद्ध थे। आर्य ने पृथ्वी की परिधि की अनुमानतः जो माप की थी आज तक वह प्रायः सही मानी जाती है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है, आदि बातों के प्रतिपादन करने का श्रेय आर्यभट्ट को ही प्राप्त है। नक्षत्र और खगोल विद्याओं के सम्बन्ध में इनकी मान्यताएँ काफी सीमा तक निर्दोष मानी जाती हैं। इन्होंने सूर्य और चन्द्रग्रहण के विषय में पौराणिक धारणा का बड़े साहस के साथ खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहु का कोई स्थान नहीं है, यह चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है। बराहमिहिर गुप्त-काल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ थे। उन्होंने पाँच पुस्तकें लिखीं—(१) 'लघुजातक' (२) वृहज्जातक, (३) 'विवाह-पटल' (४) 'योगमाया', (५) 'वृहत् संहिता, और (६) 'पञ्चसिद्धांतिक'। अन्तिम ग्रन्थ में इन्होंने रोमक, वशिष्ठ आदि सिद्धान्तों की विवेचना की है। बराहमिहिर ने ज्योतिष विद्या में यूनानियों के ऋण को स्वीकार किया है।

ब्रह्मगुप्त भी गुप्त काल के एक प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्म सिद्धान्त' की रचना शक संवत् ५५० अर्थात् सन् ६२८ ई० में की।

गणित—गुप्त कालीन भारत में गणित की भी उन्नति हुई। इस समय ज्योतिष और गणित एक दूसरे के साथ काफी घनिष्ठ रूप में मिले हुए थे। इस काल के ज्योतिषज्ञ ही इस काल के प्रमुख गणितज्ञ थे। आर्यभट्ट ऐसे प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने गणित को एक पृथक विज्ञान माना। उनकी सबसे प्रधान देन है, अद्वितीय संख्या-पद्धति। संसार के किसी भी प्राचीन देश को दशमलव-पद्धति का ज्ञान नहीं था, किन्तु आज सारे संसार में यह प्रचलित है।

आयुर्वेद तथा रसायन शास्त्र—इस क्षेत्र में भी गुप्त-युगीन भारत ने महत्व-पूर्ण प्रगति की। नागार्जुन नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने 'रसचिकित्सा' नामक नवीन

चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार किया जिसने चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्ति समुपस्थित कर दी। नागार्जुन ने यह सिद्ध किया कि सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग-निवारण की शक्ति विद्यमान है। 'पारद' का भी आविष्कार नागार्जुन ने किया। शिल्पशास्त्र के भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त-काल में किया गया।

कलाओं की उन्नति

गुप्त काल की कलात्मक प्रगति का अध्ययन हम इन शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे (१) वास्तु कला, (२) स्थापत्य-कला अथवा तक्षण कला, (३) चित्रकला और (४) संगीत-कला।

वास्तु-कला—गुप्तकाल के पूर्ववर्ती युगों में स्तूप, चैत्य दरीगृह और विहार बनवाये जाते थे। गुप्त-काल में न केवल इनका निर्माण-कार्य जारी ही रहा वरन् इनका चरम विकास भी हुआ। बौद्धों और जैनियों की भाँति ब्राह्मणों ने भी पर्वतों में गुफाओं को खुदवाया और उनमें साधुओं के निवास की व्यवस्था की। सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में ग्वालियर राज्य में भिलसा के निकट उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई थी। गुफाओं में सुन्दर चित्र कभी-कभी बना दिये जाते थे। बाघ और अजन्ता की जगद्विख्यात चित्रकारी गुफाओं में ही खींची गई है।

गुप्त काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया। इस समय के बचे हुये प्रमुख मन्दिरों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

(१) जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान में विष्णु मन्दिर,

(२) नागौद राज्य में भूमकर का शिव मन्दिर,

(३) आजमगढ़ राज्य के नचना कुथर में पार्वती का मन्दिर,

(४) बोधगया के बौद्ध मन्दिर,

(५) देवगढ़ का दशावतार मन्दिर,

(६) आसाम के दरंग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर यह परवतिया नामक स्थान में एक मन्दिर मिला है जो काफी जीर्ण दशा में है परन्तु कला की दृष्टि से यह मन्दिर काफी उत्कृष्ट है तथा

(७) नागौद राज्य के खोह नामक स्थान में एक शिव मन्दिर भी मिला है।

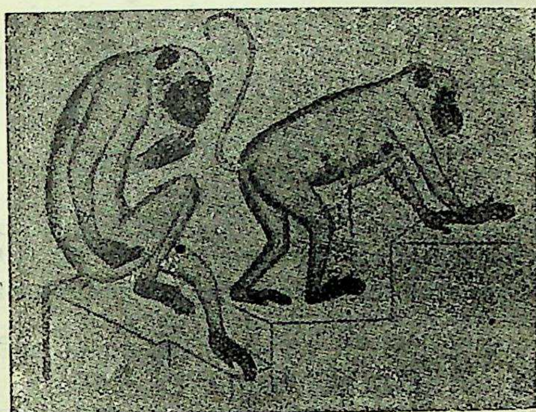
इन उपर्युक्त मन्दिरों के अतिरिक्त केवल ईंटों द्वारा निर्मित मन्दिर भी थे। भिटारगाँव का मन्दिर और पहाड़पुर तथा मध्य प्रान्त के सरपुर के मन्दिर ईंटों द्वारा ही बनाये गये हैं।

मूर्ति-कला—जैसा की हम पीछे कह आये हैं गुप्त कालीन मूर्तिकला पराकाष्ठा पर पहुँची हुई कला है।

थुरा संग्रहालय में सुरक्षित एक सजीवाकृत बुद्ध प्रतिमा गुप्त काल की अध्यात्मिक कालमयी मूर्तिकला का एक भव्य नमूना प्रस्तुत करती है। सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा जिसमें भगवान तथागत बैठे हुए उपदेश देने की मुद्रा में प्रदर्शि किए गये हैं, भारत क मूर्तिकला के श्रेष्ठतम नमून में से एक है।

गुप्त काल में बौद्ध कलाकारों ने तथागत की प्रतिमाएँ बनाईं तो हिन्दू कलाकार भी अपने इष्टदेवों की मूर्तियों के निर्माण में उनसे पीछे न रहे। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचार से शिव तथा विष्णु की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। कोहली शिव लिंहें प्रतिमा इस काल की हिन्दू-कला का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। इस युग

के हिन्दू कलाकारों ने शंकर के अर्धनारीश्वर रूप की प्रतिमा का निर्माण बड़े ही कौशल से किया। मथुरा से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा में भी, सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा की भाँति, एक स्वर्गीय सन्तुष्टि तथा गम्भीर आध्यात्मिक ध्यान-मुद्रा के दर्शन होते हैं। उदयगिरि की विशाल वराह-मूर्ति गुप्त-कालीन कलाकारक की प्रतिमा का एक सुन्दरतम् नमूना प्रस्तुत



चित्र १२—अजन्ता की चित्रकारी

करती है। सूर्य, दुर्गा, स्वामिकार्त्तिकेय आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी इस काल में बनाई गई थीं। गुप्त-काल की मूर्ति-कला सजीवता, आध्यात्मिकता, सुघड़ता, सौंदर्य पूर्णता और सुरुचिसम्पन्नता में अपना सानी नहीं रखती।

चित्र-कला—गुप्त-काल की चित्रकारी के नमूने हमें अजन्ता और बाघ की कन्दराओं के भित्ति चित्रों द्वारा प्राप्त होते हैं।

अजन्ता और बाघ की चित्रकला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। यह हमारे सामने तत्कालीन जीवन का सजीव चित्र उपस्थित करती हैं। अजन्ता के चित्रकार प्रकृति के साथ स्नेहमयी भावना रखते थे। उन्होंने फूलते हुये वृक्ष, मन्द गति से बहने वाले निर्झर तथा इतस्तत: परिभ्रमण करने वाले अरण्य नागरिकों (पशुओं) के सजीव चित्र खींचे हैं। बन्दरों और हाथियों, हिरणों और शशकों को चित्रकारों ने बड़ी सहानुभूति के साथ चित्रित किया है।

संगीत—चित्रकला की भाँति संगीत का भी भारतीय साहित्य में प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। गुप्त-काल के साहित्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इस समय गायन, वादन तथा नर्त्तन तीनों संगीत के विभिन्न रूप थे और तीनों ही का समाज में प्रचलन था। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों से पता लगता है कि उसकी वीणावादन में बहुत अधिक अभिरुचि थी और प्रयाग-प्रशस्ति में तो उसे अपने वीणा-वादन से नारद एवं तुम्बुरु को लज्जित करने वाला बतलाया गया है। गुप्त काल के कतिपय साहित्य ग्रन्थों से ऐसा संकेत मिलता है कि संगीत की शिक्षा देने के लिए शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। समाज में नृत्य का भी काफी प्रचार था। अभिजात कुलों की नारियाँ संगीत की शिक्षा प्राप्त करती थीं। इस काल की गणिकायें संगीतादि ललित-कलाओं में बड़ी निपुण होती थीं।

मुद्रा-निर्माण-कला—यूनानियों से मुद्रा-निर्माण-कला सीखकर गुप्तों के शासन-काल में भारतवासियों ने इसको एक राष्ट्रीय कला का रूप प्रदान किया और इसे उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। गुप्त-सम्राटों ने कलापूर्ण सुवर्ण मुद्राएँ चलाईं। उनकी मुद्राओं की आकार-प्रकार की विभिन्नता इस काल की समृद्ध अवस्था का संकेत करती है। गुप्त सम्राटों के सिक्के निर्माण-सुघड़ता तथा रुचि की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन पर स्पष्ट अक्षरों में लेख उत्कीर्ण हैं।

हमने पिछले पृष्ठों में गुप्त कालीन सभ्यता और संस्कृति का जो विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि गुप्त काल निस्सन्देह भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था।

प्रश्न

1. Give a brief account of the development of the Gupta literature, sciences and arts during the age. (1955), (1958.)

2. Gupta age is regarded as the Golden Age of Hindu India. On what grounds is this claim based ? (1956.)

३. गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग क्यों कहते हैं ?

४. गुप्त कालीन समाज का चित्रण कीजिए।

५. गुप्त काल में भारत की आर्थिक अवस्था पर प्रकाश डालिए।

६. गुप्त काल में हमारी आर्थिक अवस्था कैसी थी ?

७. गुप्तकालीन धार्मिक अवस्था पर प्रकाश डालिए।

८. गुप्तकालीन साहित्य एवं कला के विषय में आप क्या जानते हैं ?

अध्याय २०

थानेश्वर का वर्द्धन वंश

पिछले परिच्छेद में बताया गया था कि भारत में राजनीतिक अशान्ति के बादल मँडरा रहे थे। भारत की राजनीतिक अवस्था की दुर्बलता का संकेत हमें प्राप्त हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में थानेश्वर में एक ऐसे वीर एवं पराक्रमी पुरुष का उदय हुआ जिसनें सभ्यता एवं संस्कृति के विनाशक हूणों से देश की रक्षा कर के इसकी राजनीतिक शक्ति को दुर्बलता के क्रोड़ से पृथक् करके उसे सुदृढ़ बनाया।

प्रारम्भिक इतिहास—प्रभाकर वर्द्धन ही थानेश्वर का प्रथम शक्तिशाली राजा था जिसने 'परमभट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज' की उपाधियाँ धारण की थीं। बाण के अनुसार उसने हूण, सिन्धु देश के राजा, गुर्जर-नरेश, लाट तथा मालवा के राजाओं से युद्ध किया।

किन्तु बाण का यह कथन इतिहास के कितना निकट है यह नहीं कहा जा सकता। प्रभाकरवर्द्धन की माता महासेनगुप्त देवी गुप्त वंश की थी जिससे यह परिलक्षित होता है कि थानेश्वर राजवंश का उत्तरकालीन गुप्त-नरेशों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित था।

प्रभाकरवर्द्धन की पत्नी महादेवी यशोमति से तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं—राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन तथा राज्यश्री। राज्यश्री का ब्याह कन्नौज के मौखरी-नरेश ग्रहवर्मा से हुआ था जिससे दोनों राजकुलों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया और जिसका थानेश्वर के इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे।

६०४ ई० के लगभग हूणों ने साम्राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर आक्रमण एवं लूटमार आरम्भ कर दी जिसके दमनार्थ प्रभाकर वर्द्धन ने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन को भेजा। हर्ष भी राज्यवर्द्धन के साथ चला। युद्ध-काल में ही पिता की घातक बीमारी की सूचना प्राप्त हुई और वह राजधानी को लौट आया। यहाँ आकर उसने राज्यवर्द्धन को बुलाने के लिए दूत भेजे। राज्यवर्द्धन पिता के जीवन-काल में न लौट सका। युद्ध समाप्त करके जब वह लौटा तो उसे राज्यसिंहासन देने की बातें होने लगीं पर वह संन्यास ग्रहण करने की चिन्ता में विलीन था; किन्तु राजनीतिक अशान्ति की आशंका से उसे विवश होकर राज्य-भार अपने कन्धों पर लेना पड़ा। सम्भवतः हर्ष का यह हठ कि वह भी उसका अनुसरण करेगा, राज्यवर्द्धन को संन्यास ग्रहण करने से रोक सका। ऊपर लिखित राजनीतिक अशान्ति यह थी कि कन्नौज से एक दूत निम्न समाचार लेकर थानेश्वर आया—

"जिस दिन राजा प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु का दुःखद समाचार मिला उसी दिन मालवा के दुष्ट स्वामी ने महाराज ग्रहवर्मा का प्राणान्त कर दिया, राजकुमारी राज्यश्री चोर की पत्नी की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई हैं, और उनके चरणों में बेड़ियाँ पहना दी गई हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सुनने में आया है कि वह दुष्ट, यहाँ की सेना को नेताविहीन समझ कर इस देश पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा है।" ग्रहवर्मा का हत्यारा मालवा-नरेश देव-गुप्त था।

यह समाचार सुनते ही राज्यवर्द्धन दस हजार अश्वारोहियों को लेकर तथा राजधानी हर्ष को सौंप कर मालवा के शासक पर आक्रमण को चल पड़ा। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि मालवा के राजा (देवगुप्त) तथा कर्णसुवर्ण के गौड़ राजा शशांक में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो चुकी थी। शशांक निश्चय ही गुप्त वंश का था और उसने अपने पूर्व गौरव को पुनः स्थापित करने के लिए यह मैत्री सम्बन्ध जोड़ा था क्योंकि वह पुष्पभूति तथा मौखरी वंश की शक्ति को छिन्न-भिन्न करना चाहता था। वह यह भी जानता था कि मालवा के गुप्त लोगों तथा थानेश्वर के वर्द्धन लोगों के बीच अनबन थी। इसलिए वह मालवा के गुप्तों को अपने साथ लेकर कन्नौज पर आक्रमण करना चाहता था, पर योजना असफल रही।

हर्ष को एक दिन कुन्तल नामक एक अश्वारोही अफसर ने सूचना दी कि महाराज राजवर्द्धन ने बड़ी सरलता से मालव-नरेश को पराजित किया, किन्तु गौड़ राजा के झूठे सम्मान तथा शिष्टाचार के भुलावे में आकर उसने (राज्य-वर्द्धन) ने पर विश्वास कर लिया और उसने (गौड़-नरेश ने) राज्यवद्धन को अपने भवन में एकाकी निशस्त्र पाकर मार डाला।

हर्षवर्द्धन

भाई की हत्या का समाचार पाते ही हर्षवर्द्धन ने प्रण किया कि "मैं कुछ दिनों में ही धरती गौड़विहीन कर दूँगा.....अन्यथा अपने पापी शरीर को...पतंग-समान पटों में झोंक दूँगा।"

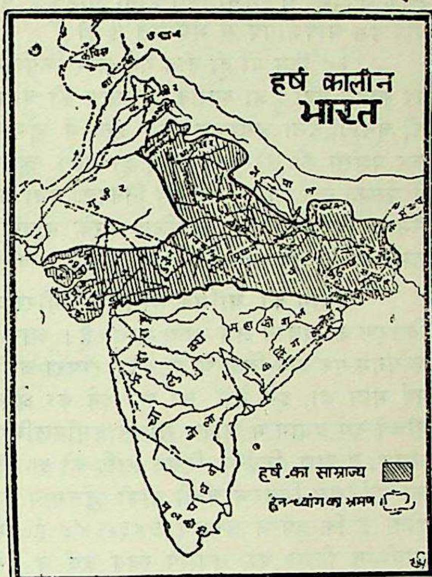
राजसिंहासन पर बैठते ही उसका पहला कार्य था बहन राज्यश्री को बचाया जो उस समय तक कारागार से मुक्त होकर विन्ध्याचल के जंगलों में चली गई थी। अतः हर्ष उसकी खोज में निकल पड़ा और वह ठीक उसी समय पहुँचा जब राज्यश्री चिता में कूदने जा रही थी। हर्ष ने कामरूप के राजा भास्कर-वर्मन से मित्रता स्थापित कर ली थी जिससे हर्ष को आगे चल कर काफी सहायता मिली।

हर्ष की विजय—हर्ष ने सर्वप्रथम अपने बहनोई के हत्यारे शशांक पर आक्रमण किया किन्तु कहा जाता है कि वह शशांक को कभी पराजित न कर सका और शशांक ६१९ ई० तक राज्य करता रहा। ह्वेनसाँग ने हर्षवर्द्धन की विजयों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है। उसके अनुसार उर्ष ने ६ वर्षों के भीतर 'पंच भारत' से युद्ध किया और उन्हें जीत कर आगामी ३० वर्षों तक विना शस्त्र उठाये शान्तिपूर्वक राज्य किया। किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। हमें यह मालूम है कि नर्मदा नदी के पार हर्षवर्द्धन की सेना नहीं बढ़ सकी थी क्योंकि दक्षिण के चालुक्य-नरेश पुलकेशिन ने उसे पराजित कर दिया था। अपने शासन-काल के अन्तिम भाग में उसने पूर्व की ओर रण-यात्रा की। अब तक शशांक की मृत्यु हो चुकी थी और कोई शक्तिशाली उत्तराधिकारी नहीं था जो हर्ष को रोक सकता, अतः हर्ष को पूर्व में विजय मिली। मगध को जीतता हुआ वह कोगद पर भी (गंजाम जिला) जो शशांक के राज्य की दक्षिणी सीमा पर था विजयी हुआ। शशांक का शेष साम्राज्य अर्थात् उत्तर-दक्षिण तथा पूर्वी बंगाल कामरूप के राजा भास्करवर्मन को मिला।

हर्ष के साम्राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। ह्वेनसाँग कुछ और लिखता है। 'हर्ष चरित्र' नामक पुस्तक में वाण हर्ष के साम्राज्य को बहुत विस्तृत बताता है पर जहाँ तक प्रमाणों से ज्ञात हो सका है, हर्ष के साम्राज्य में पूर्वी

पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा सम्मिलित थे। इनके बाहर उसकी राजसत्ता नहीं स्थापित थी। हाँ, अन्य राजे इसका दबदबा अवश्य स्वीकार करते थे।

कन्नौज की परिषद्——अब तक हमने हर्ष के राजनीतिक जीवन का दिग्दर्शन किया है। अब उसके सामाजिक एवं धार्मिक जीवन पर विचार किया जायगा, जिससे उसके व्यक्तित्व की पूर्ण रूप-रेखा हमारे सम्मुख उपस्थित हो सके। हर्ष कितना विद्यानुरागी था और उसमें तत्व ज्ञान सम्बन्धी जिज्ञासा कितनी प्रबल थी, इसका पहला उदाहरण है कन्नौज की परिषद से प्राप्त होता है जिसका आयोजन उसने चीनी यात्री ह्वेनसाँग के सम्मानार्थ किया था। उसने यात्री से कहा—"मैं कान्यकुब्ज में एक विशाल सभा करने की इच्छा करता हूँ और महायान की विशेषताओं को दिखाने तथा चित्त के भ्रम का निवारण करने के लिए श्रमणों, ब्राह्मणों तथा पंचगौड़ के बौद्ध धर्मेतर मतावलम्बियों को आज्ञा देता हूँ कि वे आकर उसमें सम्मिलित हों जिससे उनका अहंभाव दूर हो जाय और वे प्रभु के महान गुण को समझ सकें।"



चित्र १३

फरवरी ६४३ ई० में कन्नौज की परिषद की बैठक हुई जिसमें १८ देशों के राजा तीन हजार श्रमण, (महायान तथा हीनयान), तीन सहस्त्र ब्राह्मण एवं निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन तथा नालन्दा मठ के एक हजार पुरोहितों ने भाग लिया।

ह्वेनसाँग को वाद-विवाद का अध्यक्ष बनाया गया जिसने सर्व प्रथम महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की प्रशंसा की। वाद-विवाद का विषय सभा-भवन के फाटक पर तख्ती लगाकर सूचित कर दिया गया जिस पर निम्नलिखित शब्दों में सार्वजनिक चुनौती दी गई——

"यदि कोई व्यक्ति प्रस्ताव में एक शब्द भी तर्कविरुद्ध बताये अथवा उसमें उलझन पैदा कर दे तो मैं विपक्ष के अनुरोध से उसके बदले अपना सिर कटाने को प्रस्तुत हूँ।"

डा० स्मिथ का मत है कि उक्त वाद-विवाद एकतरफा था, उसकी शर्तें न्याय-संगत न थीं। हर्ष इस पर तुला हुआ था कि उसका कृपापात्र ह्वेनसाँग पराजित न होने पाये, भला ऐसी दशा में कौन विपक्ष में बोलता?

स्मिथ महोदय के मत में काफी सत्यता है क्योंकि हम देखते हैं कि इसकी प्रतिक्रिया विपक्षियों पर हुई और उन्होंने ह्वेनसाँग की हत्या का षड्यन्त्र किया। जब हर्ष को इस षड्यन्त्र का बोध हुआ तो उसने घोषणा कर दी कि "यदि कोई व्यक्ति धर्माचार्य को स्पर्श करेगा अथवा चोट पहुँचायेगा तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा और जो उनके विरुद्ध कोई शब्द कहेगा उसकी जिह्वा काट ली जायेगी, किन्तु जो लोग

उनके उपदेशों से लाभान्वित होना चाहते हैं वे सब मेरी सत्कामना पर विश्वास रक्खें और इस घोषणापत्र से भयभीत न हों।"

१८ दिन यों ही बीत गये और किसी भी भारतीय विद्वान् को विपक्ष में बोलने का साहस नहीं हुआ क्योंकि ह्वेनसाँग को चुनौती दी जा सकती थी पर हर्ष की शक्ति को चुनौती देना असम्भव था। अन्त में ह्वेनसाँग ने महायान सम्प्रदाय की दिल खोल कर प्रशंसा की और सभा भंग हो गई। ह्वेनसाँग की इस विजय के उपलक्ष में नगर में उसका एक शानदार जुलूस निकाला गया और यह घोषित कर दिया गया कि उसने समस्त विरोधियों को पराजित करके महायान सम्प्रदाय की सत्यता तथा हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों के भ्रम को सिद्ध कर दिया है।

प्रयाग का धार्मिक सम्मेलन—पौराणिक काल से ही तीर्थराज प्रयाग दान-वितरण का प्रधान क्षेत्र माना जाता है। आज भी कुम्भ पर्व के अवसर पर गंगा-यमुना के संगम पर दान-वितरण की यह परम्परा चली आ रही है किन्तु प्रारम्भ में कुम्भ एक पर्व मात्र था, इसे मेले का रूप देने का श्रेय हम हर्ष को ही दे सकते हैं। हर्ष हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में आकर समस्त धर्मावलम्बियों को आमंत्रित करके, साधु-संन्यासियों, श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ, निर्धन आदि को दान देता था। यद्यपि इस प्रकार के अधिवेशन का सर्वप्रथम विवरण चीनी यात्री ह्वेनसाँग के लेख से प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने लगभग ६४३-६४४ ई० में प्रयाग में पंचवर्षीय दान-वितरण का आयोजन किया था, तथापि स्वयं हर्ष ने इसे छठाँ अधिवेशन स्वीकार किया है। इससे यह विदित होता है कि इसके पूर्व भी पाँच ऐसे अधिवेशन हो चुके थे, किन्तु सामग्रियों के अभाव में उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते।

हर्षवर्द्धन ने चीनी यात्री ह्वेनसाँग से प्रयाग-अधिवेशन में सम्मिलित होने को कहा। यद्यपि यात्री को स्वदेश लौटने की जल्दी थी तथापि प्रयाग का आकर्षण अपेक्षाकृत प्रबल निकला और यात्री को प्रयाग आना पड़ा। प्रयाग अधिवेशन तथा हर्षवर्द्धन के महादान पर यात्री का निम्न विवरण पर्याप्त प्रकाश डालता है।

"प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि राजे-महराजे तथा अन्य धनी-मानी व्यक्ति जब यहाँ (प्रयाग) आते हैं तो वे अपना सम्पूर्ण धन दान के रूप में दे डालते हैं। महाराज हर्षवर्द्धन ने भी अपने पूर्वजों का अनुसरण करते हुए पाँच वर्ष का संचित कोष एक दिन में वितरण कर दिया। प्रथम दिवस हर्ष ने भगवान बुद्ध की एक मूर्ति बनवा कर अपने सम्पूर्ण बहुमूल्य रत्न उस पर चढ़ा दिये और तत्पश्चात् वहाँ के रहने वाले पुजारियों को उन्होंने वह सब दान कर दिया। इसके बाद उन पुजारियों को भी दान दिया गया जो बाहर से आकर वहाँ रुके थे। हर्ष ने विद्यार्थियों, विधवाओं, अनाथों और दीन-दुखियों को भी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति में हिस्सा दिया। जब उनके पास कुछ भी शेष न रहा तब उन्होंने अपना रत्नजटित मुकुट और मुक्ताहार भी उतार कर दान कर दिया।"

अन्त में अपनी निर्धनता के चिह्नस्वरूप हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री से जीर्णशीर्ण वस्त्र ले कर उसे धारण किया। यह सब कुछ कर लेने के पश्चात् हर्ष को यह प्रसन्नता थी कि उसने अपनी समस्त सम्पत्ति पुण्य खाते में लगा दी है और भगवान बुद्ध का 'दसबल' प्राप्त करने के लिए उसने मार्ग प्रशस्त कर लिया है।

अधिवेशन समाप्त होने के पश्चात् ही ह्वेनसाँग ने चीन को प्रस्थान किया। हर्ष का आदेश पाकर जालंधर के राजा उदित ने उसके साथ एक रक्षक दल नियुक्त किया और स्वयं हर्ष उसे दूर तक बिदा करने गया।

हर्ष की मृत्यु—जीवन के अन्तिम तीन-चार वर्षों में हर्ष की क्या अवस्था थी, इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सामग्रियों के अभाव में स्वल्प है। वाटर्स के अनुसार हर्ष "पुण्य का वृक्ष आरोपित करने की चेष्टा में इतना संलग्न था कि सोना और खाना भी भूल गया," और संभवतः इसी पुण्य कार्य में उसके अन्तिम दिन बीत गये होंगे। हर्ष के शब्दों में ही 'ईश्वर करे कि मैं आगामी जन्म-जन्मान्तरों में सदा इसी प्रकार अपने को बुद्ध के दस बलों से सम्पन्न कर लूँ" प्रयाग के महादान के पश्चात् हर्ष ने ये वाक्य कहे थे। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि धार्मिक कृत्यों में ही हर्ष के अन्तिम दिन बीते होंगे। ६४६ ई० के अन्तिम दिनों में अथवा ६४७ ई० के प्रारम्भ में हर्ष की मृत्यु हो गई।

हर्ष का शासन-प्रबन्ध

हर्ष के शासन-प्रबन्ध पर हमें गुप्त शासन-प्रबन्ध की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। गुप्त शासन-प्रणाली इतनी सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित थी कि उसका अनुकरण अनेक परवर्ती राज्यों ने किया।

राजा का स्थान—शासन-प्रबन्ध में राजा का सर्वोच्च स्थान था। उसे 'परमभट्टारक,' 'परमेश्वर', 'परमदेवता', 'महाराजाधिराज' आदि की उपाधियाँ प्राप्त थीं। शासन-प्रबन्ध के सक्रिय भाग लेकर राजा राज्य के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था, आज्ञा-पत्र एवं घोषणा-पत्र निकालता था, न्यायाधीश का काम करता था, युद्ध में सेना का नेतृत्व भी करता था। इन कार्यों के अतिरिक्त हर्ष का शासन-सम्बन्धी अधिक महत्वपूर्ण कार्य जनता के सुख-दुख का अनुसंधान द्वारा पर्यवेक्षण करना था।

पदाधिकारी—राजा को उचित्र मंत्रणा देने के लिए मंत्री थे जिन्हें सचिव या अमात्य कहा जाता था। दान-पत्रों पर भी हर्ष के पदाधिकारियों की सूची प्राप्त होती है, वह इस प्रकार है—दौस्साधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारमात्य, उपरिक तथा विषयपति। दान-पत्रों में दूतक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। लेखक नामक पदाधिकारी का भी इन दान-पत्रों में उल्लेख किया गया है। इसे कहीं-कहीं द्वीवर भी कहा गया है। अनेक दीवरों के ऊपर एक दीवरपति होता था।

प्रान्तीय शासन—प्रान्तों को भुक्ति अथवा देश कहते थे। प्रत्येक प्रान्त को जिलों में बाँटा गया था जिन्हें प्रदेश अथवा विषय कहते थे। प्रान्तीय शासक को 'प्रान्त भुक्ति' कहते थे। 'पथक' वर्तमान तहसील की ही भाँति एक छोटा भू-भाग था। सीमान्त प्रदेश के शासकों को सम्भवतः गोप्ता कहा जाता था। जिले के शासक विषयपति की नियुक्ति प्रान्तीय शासक करते थे। 'अधिष्ठानों में' विषयपति के केन्द्र होते थे जहाँ उनके अधिकरण (न्यायालय तथा कार्यालय) होते थे। बसाढ़ की मुहर में कुछ अधिकरणों का उल्लेख किया गया है।

प्रान्तीय शासकों तथा जिलों के शासकों की सहायता के लिए दांडिक चौरोद्धरिणिक दंडपाशिक आदि पुलिस के कर्मचारियों की भी व्यवस्था की गई थी।

ग्राम शासन—ग्राम अब भी शासन की न्यूनतम इकाई था। 'महत्तर' नामक पदाधिकारी का उल्लेख ग्राम के अधिकारियों में मिलता है जो सम्भवतः गाँव के सब मामलों की देखभाल करता था।

दण्डविधान—फौजदारी का शासन अत्यन्त कठोर था। 'राजद्रोह' के लिए आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था। सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल आचरण

करने, माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा विश्वासघात करने पर अंग-भंग (एक नाक, एक कान, एक हाथ या एक पैर का) कर दिया जाता था। देश-निर्वासन तक का भी दण्ड दिया जाता था। अन्य अपराधों के लिए भी जुर्माना किया जाता था। जल, अग्नि, तुला, विष द्वारा अपराधी की परीक्षा भी ली जाने की प्रथा प्रचलित थी।

हर्ष के समय में दण्ड-विधान निश्चय ही कठोर था और उसका प्रतिफल यह था कि अपराधों की संख्या कम थी, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सम्पूर्ण राज्य में कहीं भी कोई अरक्षित स्थान न था।

"एक बार पंजाब में चेनाब नदी को पार करने और शाकल नगर को छोड़ने के पश्चात् वह (ह्वेनसाँग) पलाश के वन से हो कर गुजरा। वहाँ पचास डाकुओं के एक दल ने उस पर आक्रमण कर दिया, वस्त्रादि सब लूट लिया और हाथ में तलवार लेकर उसका पीछा किया। अन्त में एक ब्राह्मण ने जो खेत जोत रहा था, उसकी रक्षा की। उसने पुकार कर ८० हथियारबन्द आदमियों को एकत्रित किया।"

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में फाह्यान को भारत की यात्रा में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था पर ह्वेनसाँग को जल तथा स्थल दोनों मार्गों में डाकू मिले। यह शासन की ढिलाई का सबसे बड़ा प्रमाण है और इसीलिए डा० मुकर्जी का मत है कि हर्ष का शासन-प्रबन्ध गुप्त नरेशों के शासन-प्रबन्ध की तुलना नही कर सकता। मुकर्जी का मत बिल्कुल तर्कसंगत है।

आय के स्रोत—आय के निम्नलिखित सामान्य स्रोत थे—(१) उद्रंग (एक प्रकार का भूमिकर), (२) उपरिकर (नियमित कर के अतिरिक्त कर), (३) बात (?), (४) भूत (?) (५) धान्य, (६) हिरण्य (सोना) (७) आदेय आदि।

उपरोक्त करों के अतिरिक्त दूध, फल, चरागाह तथा खनिजों पर भी कर लगाया जाता था। अनाज की मण्डियों में बिकी हुई वस्तुओं के नाप तौल के आधार पर निर्धारित कर संग्रह किया जाता था। घाटों पर भी कर लगाया जाता था। जुर्माना से भी अच्छी आय हो जाती थी। भूमि-उपज का छठाँ भाग कर रूप में लिया जाता था।

हर्ष का व्यक्तित्व

हर्ष के प्रमुख कार्यों के पश्चात् उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करने में हमें किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। यहाँ हम उसके धार्मिक विचारों, धार्मिक नीति, साहित्यिक प्रवृत्ति आदि पर प्रकाश डालेंगे।

हर्ष का धर्म—पुष्यभूति शिव का उपासक था, प्रभाकरवर्द्धन तथा उसका पिता आदित्यवर्द्धन सूर्योपासक थे। राज्यवर्द्धन तथा राज्यश्री बौद्ध थे। बाण के कथनानुसार हर्ष दिग्विजय के समय नीललोहित (शिव) उपासक था। कालान्तर में हर्ष बौद्ध मतावलम्बी हो गया। प्रारम्भ में सम्भवतः हीनयान सम्प्रदाय में था और तत्पश्चात् ह्वेनसाँग के सम्पर्क में आकर महायान सम्प्रदाय का समर्थक हो गया।

हर्ष की साहित्यिक अभिरुचि—हर्ष साहित्य-प्रेमी भी था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उसने बाण को राज्याश्रय प्रदान किया था। इत्सिंग के कथनानुसार हर्ष ने कवियों को अपने दरबार में रचनायें करने को कहा था और उनके संकलन का नाम 'जातक माला' रक्खा गया। हर्ष के विशेष कृपापात्र बाण ने 'हर्ष-चरित' के अतिरिक्त 'कादम्बरी' जैसी अमर रचना की। कुछ विद्वानों का यह मत है कि बाण ने 'पार्वती परिणय' तथा 'चण्डीशतक' नामक ग्रन्थों की भी रचना की।

बाण के सम्बन्धी (श्वसुर या साला) मयूर को भी हर्ष ने प्रश्रय प्रदान किया और उसने कामशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टक' की रचना की।

मतंग दिवाकर नामक एक जन्य प्रसिद्ध साहित्यिक हर्ष के दरबार में रहता था। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुप्रसिद्ध कवि भर्तृहरि भी जीवित था पर यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसे हर्ष का प्रश्रय प्राप्त था अथवा नहीं। हर्ष के दरबार में इतने कवियों एवं साहित्यिक व्यक्तियों का रहना संस्कृत-साहित्य कोष की अभिवृद्धि सम्बन्धी प्रवृत्ति के विकास के लिए एक सुन्दर साधन था।

हर्ष साहित्यिक व्यक्तियों को प्रश्रय ही नहीं प्रदान करता था प्रत्युत वह स्वयं साहित्यकार था। 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' तथा 'नागानन्द' नामक संस्कृत के तीन नाटकों की रचना हर्ष ने की थी। कुछ विद्वानों को इसमें सन्देह है कि उन ग्रन्थों की रचना स्वयं हर्ष ने की।

हर्षकालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक अवस्था

सामाजिक अवस्था

हर्ष कालीन भारत की विभिन्न परिस्थितियों का विंवरण हमें ह्वेनसाँग तथा समसामयिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। ह्वेनसाँग के कथनानुसार उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों के अतिरिक्त पाँचवीं मिश्रित जाति भी थी। लगता है कि यात्री ने उपजातियों को मिश्रित जाति की संज्ञा दे दी है। ह्वेनसाँग ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की काफी प्रशंसा की है। उसने बताया है कि ब्राह्मणों को समाज मे उत्तम स्थान दिया जाता था। ब्राह्मण राज-काज में भी भाग लेते थे और हर्ष के कुछ अमात्य ब्राह्मण भी थे। क्षत्रियों के सम्बन्ध में ह्येनसाँग ने लिखा है कि वे सरल, निर्दोष एवं मितव्ययी जीवन बिताने वाले थे। वैश्यों को ह्येनसाँग ने वाणिज्य-व्यापार में लगा हुआ पाया। शूद्रों का प्रधान व्यवसाय कृषि-कार्य था। शूद्रों की दशा इस काल में काफी सुधर गई थी। मिश्रित जातियों की उत्पत्ति अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से हुई थी। अछूतों की संख्या भी समाज में बहुत बड़ी थी जिन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था। मेहतर, कसाई, मछुए, नट, चाण्डाल आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। इनके निवास-स्थान चिह्नित कर दिये जाते थे। सामान्यतः स्वजातीय विवाह ही होते थे। सती-प्रथा का प्रचलन था। हर्ष की माता अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही इस विश्वास से कि अब पति नहीं बच सकता, सती होने को उद्यत थी। राज्य-श्री भी सती होने जा रही थी पर हर्ष ने ठीक अवसर पर उसे रोक लिया। 'हर्ष चरित' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुपत्नीत्व का प्रचार बहुत अधिक था। राजमहलों के अन्तःपुर में स्त्रियों की भीड़ सी लगी रहती थी।

वस्त्राभूषण—रंग-बिरंगे वस्त्रों को लोग कम पसन्द करते थे। बहुधा श्वेत वस्त्र पहने जाते थे। कपड़ों की संख्या बहुत अधिक न थी। स्त्रियाँ दोनों कन्धों को ढकता हुआ एक लम्बा वस्त्र धारण करती थीं। कुलीन पुरुषों में साफे का प्रयोग प्रचलित था

आभूषण का प्रयोग काफी होता था। विभिन्न प्रकार के आभूषण, हार, कुण्डल, कड़ा आदि का काफी प्रयोग किया जाता था।

भोजन—ह्वेनसाँग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्रायः लोग मांस का प्रयोग भोजन में नहीं करते थे। लहसुन, प्यांज भी नहीं खाया जाता था। मिट्टी तथा काष्ठ के बर्तनों का प्रयोग केवल एक बार किया जाता था। घी, दूध, दही, चीनी, मिश्री रोटी आदि भोजन के प्रधान अंग थे। गेहूँ तथा चावल जन साधारण का भोजन था।

मनोरंजन के साधन—शतरंज तथा पाशे के खेल का उल्लेख बार-बार किया गया है, जिससे यह परिलक्षित होता है कि यह खेल काफी प्रचलित था। इन्द्र-जालिक तथा यमपटिक अपनी कलायें दिखलाया करते थे। गाँवों में मदारी, नट आदि बहुधा घूम-घूम कर अपना कौशल दिखलाते थे।

नाटकों के अभिनय में निश्चय ही यह समाज उन्नतिशील रहा होगा। प्रेक्षा-गृहों (रंगशाला), संगीत-शाला तथा चित्रशालाओं का उल्लेख तत्कालीन नाटक ग्रन्थों में यत्र-तत्र किया गया है। चैत्र मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था, इसका उदाहरण 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' में मिलता है।

नारियों की स्थिति—जिस समाज में बहु-पत्नी-प्रथा प्रचलित थी उसमें नारियों की दयनीय दशा की कल्पना सहज ही की जा सकती है। यद्यपि हमें उनके सामाजिक जीवन की उन्नत अवस्था का बोध विभिन्न साधनों से होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वे संगीत, नृत्य, चित्रकला तथा शिक्षा आदि में निपुण होती थीं, तथापि उनका कौटुम्बिक जीवन पूर्णतया शान्त न था। समाज में माता (और पिता का भी) कितना उच्च स्थान था। इसकी कल्पना हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इनकी उचित सेवा न करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होता था। 'हर्ष चरित्र' के आधार पर तो हम कह सकते हैं कि राजघराने की स्त्रियाँ पूर्णतया विलासिता एवं उपभोग की वस्तु होती थीं। उच्च कुलों में पर्दा-प्रथा भी प्रचलित थी।

धार्मिक अवस्था

बौद्ध-धर्म—बौद्ध धर्म के मुख्य सम्प्रदाय महायान तथा हीनयान में से प्रथम का अस्तित्व अधिक महत्वपूर्ण था। स्वयं हर्ष भी इस सम्प्रदाय के प्रति विशेष कृपालु ज्ञात होता है। मठ तथा विहार बौद्ध धर्म की सक्रियता के केन्द्र थे। यात्री ने बौद्ध धर्म का १८ शाखाओं का भी वर्णन किया है जिनके क्रिया-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न थे और वे सभी अपनी-अपनी बौद्धिक महत्ता घोषित करते थे।

ब्राह्मण धर्म—प्रयाग तथा वाराणसी अब इस धर्म के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। आदित्य, शिव तथा विष्णु की पूजा अधिक लोकप्रिय होती जा रही थी। 'हर्ष-चरित्र' से यह ज्ञात होता है कि इन देवताओं की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं और इनकी विधिवत् पूजा होती थी। प्रयाग तथा वाराणसी के अतिरिक्त कन्नौज में भी ब्राह्मण धर्म का बोलबाला ज्ञात होता है क्योंकि वहाँ दो सौ से अधिक देव-मन्दिर निर्मित थे। ब्राह्मण-धर्म अनेक शाखाओं में गुप्तकाल से ही विभक्त चला आ रहा था। शैव धर्म का रूप अब विकृत होता जा रहा था। कर्मकाण्डों की प्रकृति एवं उनके रूप में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी।

जैन धर्म—वैशाली, पुण्ड्रवर्द्धन तथा समतट के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में इस धर्म का प्रायः अभाव-सा हो चला था। उक्त स्थानों में भी दिगम्बर सम्प्रदाय वालों का ही बाहुल्य था। इनकी दूसरी शाखा श्वेताम्बर थी। जैन धर्म के सम्बन्ध में यात्री का विवरण अपेक्षाकृत स्वल्प है।

आर्थिक अवस्था

कृषि ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय था किन्तु औद्योगिक एवं वाणिज्य सम्बन्धी उन्नति के फलस्वरूप अब वैश्य वर्ग इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था और शूद्र ही बहुधा कृषि-कार्य करते थे। सिंचाई की पर्याप्त सुविधा थी जिससे

कृषि-उपज में किसी प्रकार की कमी नहीं होने पाती थी। चरागाहों के लिए भी पर्याप्त भूमि छोड़ी जाती थी जिससे पशुओं के चारे की समस्या हल की जा सकती थी।

अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों व्यापारों की दशा काफी अच्छी थी। कुछ नये नगरों की उन्नति के मूल में व्यापारिक कारणों का ही हाथ ज्ञात होता है। बंगाल में ताम्रलिपि नामक एक बन्दरगाह था। पाटलीपुत्र से उज्जैन होता हुआ एक राज-मार्ग भड़ौंच तक जाता था जिससे काफी व्यापार होता था। विदेशी व्यापार की कुछ झलक हमें ह्वेनसाँग के विवरण से प्राप्त होती है। यात्री के अनुसार कपिशा में भारत के कोने-कोने से व्यापारिक सामग्रियाँ आया करती थीं और यहाँ से ये ईरान तथा योरप के देशों को भेजी जाती थीं। काश्मीर से होकर चीन तथा मध्य एशिया तक भारत का विदेशी व्यापार प्रसरित था। जलमार्ग से भी विदेशी काफी व्यापार होता था जिसका प्रमुख केन्द्र पूर्वकथित ताम्रलिपि जो दक्षिण पूर्वीद्वीप समूहों से सम्बद्ध था और सम्भवत: मलाया, सुमात्रा आदि से व्यापार का यही प्रमुख जल-मार्ग था।

हर्ष कालीन शिक्षा, साहित्य एवं कला

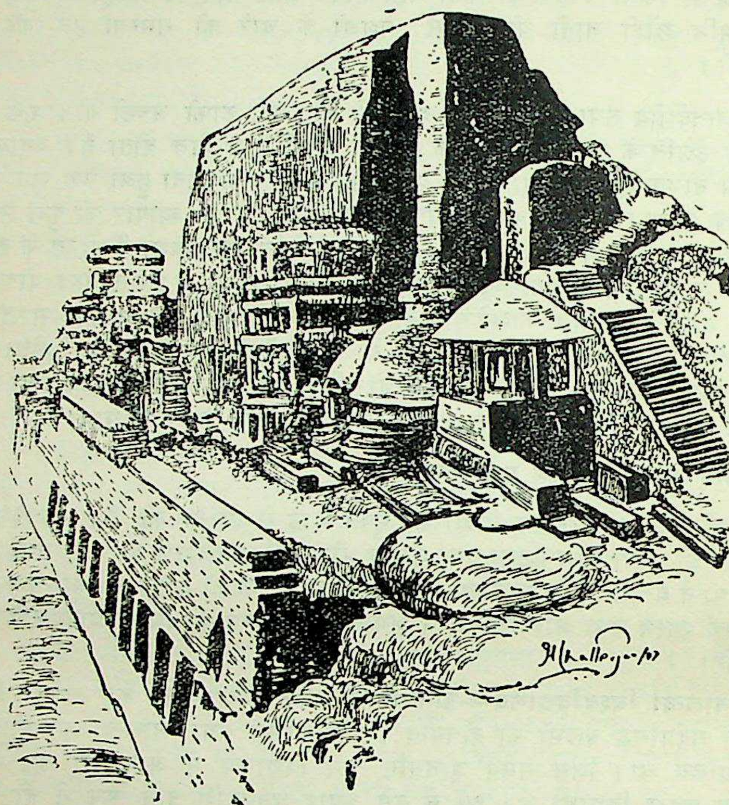
ह्वेनसाँग ने भारतीय शिक्षा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। मध्यदेश के निवासियों की भाषा की स्पष्टता तथा शुद्धता और उनके उच्चारण पर भी यात्री मुग्ध था। यात्री ने बताया है कि सात वर्ष की अवस्था के बालक को व्याकरण, यान्त्रिककला, वैद्यक, तर्क शास्त्र तथा आध्यात्म-शास्त्र अर्थात् दर्शनशास्त्र की शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाती थी।

नालन्दा विश्वविद्यालय—ह्वेनसाँग ने अनेक शिक्षा-केन्द्रों का उल्लेख किया है जिनमें सर्वप्रसिद्ध वलभी का हीनयान विश्वविद्यालय तथा नालन्दा का महायान विश्वविद्यालय था। जिस समय ह्वेनसाँग इस विद्यालय में आया था उस समय इसमें दस सहस्र विद्यार्थी थे। हर्ष ने इसे अपार धन-राशि दान रूप में दी थी। कुछ अन्य साधनों से भी संस्था को पर्याप्त धन प्राप्त होता था क्योंकि इसमें निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र की भी व्यवस्था की गई थी। भारत-विख्यात शीलभद्र यहाँ का कुलपति था। सौ योग्य आचार्य इस विद्यालय में अध्यापन कार्य करते थे। यह तीन सौ फीट ऊँचा बना था।

नालन्दा विद्यालय को कुमारगुप्त प्रथम तथा उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने प्राश्रय एवं महत्व प्रदान किया था। हर्ष ने इसके लिए पर्याप्त धन-राशि दी थी जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शीलभद्र के पूर्व दिगनाथ, स्थिरमति तथा धर्मपाल-विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध 'पण्डित' आचार्य अथवा कुलपति रह चुके थे। विश्व-विद्यालय में प्रवेश तभी सम्भव था जब कोई द्वारपाल द्वारा ली गई परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय पर केवल ३० प्रतिशत विद्यार्थी ही इसमें सफल होते थे। स्त्रियों का भी प्रवेश वैध था पर वे कक्षा में विद्यार्थियों से बातें नहीं कर सकती थीं, हाँ बाहर बात करने की आज्ञा दी गई थी। संस्कृत ही शिक्षा का माध्यम था। नालन्दा में प्रारम्भिक (८-१३ वर्ष के बालकों के लिए), माध्यमिक (१३-२० वर्ष तक), तथा उच्चतर शिक्षाओं की व्यवस्था थी। नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों की उच्च धारणा है। विश्वविद्यालय तथा उनके छात्र तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर रहे थे।

कला—हर्षकालीन कला की प्रशंसा भी ह्वेनसाँग ने की है। वह नालन्दा के

मठों तथा बिहारों की सुन्दरता को प्रशंसनीय बताता है और बुद्ध भगवान् की आठ



चित्र १४—नालन्दा विश्वविद्यालय का भग्नावशेष

फीट ऊँची ताम्र मूर्ति की भी सराहना करता है। सीरपुर राजपुर जिला (मध्यप्रदेश) में लक्षण का ईंटों वाला मन्दिर हर्ष कालीन भवन-निर्माण-कला का एक सुन्दर नमूना है।

इस काल की साहित्यिक प्रगति के सम्बन्ध में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

प्रश्न

1. Give a brief account of the career and work of Harshvardhana. (1952, 1954, 1955.)

हर्ष के जीवन चरित्र तथा उसके कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

2. Show with the help of a sketch map the extent of Harsha's Empire and estimate his achievements. (1953.)

3. Compare and contrast the works of Samudra Gupta and Harsha. (1954.)

4. Who was Hieun Tsaung ? What information do we obtain from his account of India about the social, economic and political conditions during the seventh century ? (1955.)

5. Describe the life and condition of the people under Harsha with special reference to the account of Hieun-Tsaung. (1957.)

अध्याय २१

वृहत्तर भारत

हम जानते हैं कि किसी देश की भौगोलिक स्थिति का उसके इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत ने भी अपनी भौगोलिक स्थिति से पूर्ण लाभ उठाया है। सबसे बड़ा लाभ तो इसने व्यापार तथा उपनिवेश-स्थापना के सम्बन्ध में उठाया। भारत एशिया महाद्वीप का एक अंग है, अतः एशिया के विभिन्न देशों से इसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इसकी भौगोलिक स्थिति तो और भी महत्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि हिन्द महासागर में भारत की केन्द्रीय स्थिति है और इस प्रकार यह प्राचीन सभ्य देशों के सामुद्रिक मार्ग के बीच में पड़ता था। अतः पूर्व तथा पश्चिम के देशों से प्राचीन काल में ही जल तथा स्थल दोनों मार्गों से हमारे देश का सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

इन्हीं सारी सुविधाओं के कारण भारतवासियों को विदेशियों से सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त था। जिन-जिन देशों में भारतवासियों ने अपने उपनिवेश बसाये, वहाँ भारतीय सभ्यता का प्रचार हुआ। इन्हीं उपनिवेशों को वृहत्तर भारत कहा जाता है।

मौर्य काल में—हम पढ़ चुके हैं कि भारत में मौर्य राज्य की स्थापना के पूर्व उत्तर-पश्चिम में यूनानियों की वस्तियाँ स्थापित हो चुकी थीं। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस प्रदेश को विदेशियों से मुक्त कराया। हमारे देश से अब तक यूनानियों का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण न था। चन्द्रगुप्त के शासन-काल में ही सिकन्दर के सेनापत सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया, पर परिणाम क्या हुआ इसे हम पढ़ चुके हैं। इस आक्रमण ने भारत और यूनान में मैत्री-भाव स्थापित किया। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और यूनानी राजदूत मेगस्थनीज को अपने दरबार में स्थान दिया।

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार के समय में भी भारत का विदेशों से सम्बन्ध स्थापित रहा। पश्चिमी एशिया से उसका गहरा सम्बन्ध था। मेगस्थनीज के बाद डाइमेकस दूत बनकर पाटलिपुत्र आया था। उसके लेख नाम मात्र को ही बचे हैं। सेल्यूकस के पुत्र सम्राट् एन्टियोकससोटर से तो बिन्दुसार का पत्र-व्यवहार भी चलता रहा। एक बार बिन्दुसार ने उससे कुछ अंजीर और एक दार्शनिक अध्यापक माँगा था। एन्टियोकस ने अंजीर आदि तो भेज दिया, किन्तु उसने लिखा कि हमारे यहाँ अध्यापक भेजना नियम के विरुद्ध है। मिस्र के यूनानी सम्राट् टालेमीफिलाडेल्योस ने भी आयोनीसियस नामक एक राजदूत पाटलिपुत्र भेजा था। औरों की भांति उसने भी भारत का वृत्तान्त लिखा है।

अशोक को तो विदेशों से मैत्री स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक हो गया, क्योंकि वह सारे संसार के लोगों को सुखी देखना चाहता था और यह तभी सम्भव था जब चारों ओर बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाता। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए ही उसने एशिया, योरप और अफ्रीका के विभिन्न स्थानों में अर्थात् सीरिया, मेसीडोनियाँ, रविरत्य,

मिश्र और साइरीति में अपने धर्म दूत भेजे थे। ये धर्म-प्रचारक विदेशों में जाकर न केवल बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे, वरन् साथ-साथ वहाँ की जनता के दुख-दर्द को दूर करने का प्रयास भी करते थे। वे उनकी दवा-दारू की भी व्यवस्था करते थे। उस प्राचीन काल में इस प्रकार की विश्व में यह पहली व्यवस्था थी। अशोक के इस कार्य से उपर्युक्त देशों के सम्राट् निश्चय ही प्रभावित हुए होंगे। अशोक के एक अभिलेख में इन स्थानों के सम्राटों के नाम भी दिये हैं, जैसे सीरिया सम्राट् एन्टियोकस, मिश्र का टालमीफिलडिल्कोस, सीरीन का मागस, रविरत्य का सिकन्दर आदि।

मौर्य काल के पश्चात्—मौर्य काल के पश्चात् एक बार फिर विदेशी आक्रमणों का जोर होता है। बैक्ट्रिया और पार्थिया के यूनानी शासकों के आक्रमण का विवरण हम पीछे कर चुके हैं। उत्तर-पश्चिमी एशिया में इनके साम्राज्यों की स्थापना हो जाने पर भारत से इनका सम्बन्ध बराबर बना रहा, पर वह पूर्णतया मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं रहा। पुष्यमित्र शुंग के समय में यूनानी आक्रमण का हाल हम पढ़ चुके हैं। शुंग वंश के पाँचवें सम्राट् भागभद्र के शासन-काल में तक्षशिला के यूनानी शासक ने 'हेलियोडोरस' नामक दूत भेजा था। हेलियोडोरस ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था।

शक-कुषाण-काल में—प्रथम शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० के बीच हमारे देश में विदेशियों का आगमन शुरू हुआ। मध्य एशिया से शक जाति हमारे देश में आती है और जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, इस वंश का शासन हमारे देश के कुछ भाग पर काफी समय तक रहता है। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी चीन के मूल निवासी यूहची जाति की कुषाण शाखा ने भी भारत में अपना राज्य स्थापित किया, जिनके सर्वश्रेष्ठ शासक कनिष्क के सम्बन्ध में हम पढ़ चुके हैं। कनिष्क ने चीन के सम्राट् से युद्ध किया था। कनिष्क ने भी बौद्धधर्म के प्रचारार्थ दूर देशों में धर्म प्रचारक भेजे थे। उसके समय में बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रसार मध्य तथा पूर्वी एशिया में हुआ।

गुप्त-काल में—गुप्तों के समय में तो विदेशों से हमारा सम्पर्क बहुत अधिक बढ़ गया। सीमांत के अनेक राजाओं ने समुद्रगुप्त से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। लंका के शासक मेघवर्मन ने समुद्रगुप्त को बहुमूल्य उपहार भेजे थे। रोम के साथ गुप्त काल में जो व्यापार रहा उसके सम्बन्ध में हम यथा स्थान पढ़ चुके हैं। गुप्तों के समय से ही हूण आक्रमण शुरू हो जाते हैं। हूणों ने जिस प्रकार गुप्त साम्राज्य को क्षतिग्रस्त किया, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। व्यापारिक सम्बन्ध के कारण रोमन सम्राटों और भारतीय सम्राटों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। अरीलियन, कान्सटैन्टाइन, जूलियन, जस्टीनियन आदि रोमन सम्राटों के समय में भारतीय राजदूत उनके दरबारों में गए थे। सिकन्दरिया नामक नगर में इन दोनों देश के लोग आपस में मिलते-जुलते थे। हमारे देश के कुछ ब्राह्मण भी इस समय सिकन्दरिया गए थे और कांसल सेवेरस के घर में ठहरे थे। फरात नदी की ऊपरी घाटी में भारतवासियों की बस्ती थी और वहाँ उन्होंने एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में चीनी यात्री भारत आया। गुप्त काल में कई अन्य चीनी यात्री भारत आये थे। भारत से भी कई बौद्ध धर्म-प्रचारक चीन गए थे।

हर्ष-काल में—हर्ष के समय में चीन से हमारा सम्बन्ध बना रहा। ह्वेनसांग इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। अन्य चीनी दलों का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है।

अब हम विभिन्न देशों से भारतीय सभ्यता का प्रसार और भारतीय उपनिवेशों की स्थापना पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

विदेशों में भारतीय सभ्यता का प्रसार

भारतवासियों का प्राचीन काल से ही विदेशियों से सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से स्थापित किया जा सकता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में भी बलूचिस्तान, अरब, फारस, मिश्र आदि देशों से भारत का व्यापार-सम्बन्ध स्थापित था। पौराणिक काल में भी उपनिवेश-स्थापना का विवरण मत्स्य-पुराण तथा वायु-पुराण से प्राप्त होता है। मेसोपोटैमियाँ में एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसके आधार पर विद्वानों न यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय आर्यों का सम्बन्ध १७०० ई० पू० में भी मेसोपोटैमियाँ वालों से स्थापित था। किन्तु यह सम्बन्ध व्यापारिक था। विश्व के प्राचीन सभ्य देशों में भारत का ऊँचा स्थान था। अतः अन्य देशों से इसका सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित था किन्तु यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि अब तक भारतीयों ने विदेशों में किसी प्रकार के उपनिवेश की स्थापना नहीं की थी। केवल व्यापारी अपनी वस्तुओं को लेकर विदेशों में जाते थे और उन्हें बेचकर उनकी वस्तुएँ खरीदकर भारत लौट आते थे।

ऐतिहासिक काल से विदेशी सम्बन्धों के विषय में पर्याप्त सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं, अतः उनका विस्तारपूर्वक विवरण नीचे दिया जा रहा है।

यूनान तथा रोम के साथ भारत का सम्बन्ध—मिश्र में निवास करनेवाला एक यूनानी नाविक पहली शताब्दी ई० में लाल सगर तथा अरब सागर के तट से होता हुआ भारत आया था, जिसके विवरण से यह ज्ञात होता है कि पश्चिमी देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। इस नाविक ने यह भी बतलाया है कि भारतीय व्यापारी अरब सागर के द्वीपों में बस गए थे और इन्होंने सोकोत्रा में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। प्लीनी के विवरण से हमें भारत और रोम के बीच होने वाले व्यापार का पता चलता है, जिस पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। लगभग २६ ई० पू० में पाण्ड्य राजा ने रोम के सम्राट् आगस्टस के पास राजदूत भेजा था। तत्पश्चात् तीन और राजदूत भेजे गए थे। वास्तव में सिकन्दर के बाद विदेशियों से सम्बन्ध स्थापित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया, क्योंकि उसने जल तथा स्थल दोनों प्रकार के मार्ग खोल दिये थे। अरबों के उत्थान के पश्चात् सातवीं शताब्दी ईस्वी में इन मार्गों पर अरबों का अधिकार हो गया और तब भारत के साथ उनका व्यापारिक-सम्बन्ध स्थापित हुआ।

इन देशों से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध तो था ही भारतीय संस्कृति का प्रसार भी इन देशों में खूब हुआ। हमें ज्ञात है कि अशोक ने पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिण पूर्व के योरोपीय देशों में बौद्ध भिक्षु भेजे थे। इन भिक्षुओं ने इन देशों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। सुकरात तथा उसकी परम्परा के दार्शनिकों अरस्तू, प्लेटो (अफलातून) आदि पर भारतीय दर्शन का कितना प्रभाव है, यह यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा सकता, किन्तु साथ ही इसके सत्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती कि भारतीय दर्शन ने यूनानी दर्शन को प्रभावित किया। इस्लाम धर्म के उदय के पूर्व पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार पाया जाता है। जहाँ भारत ने यूनानियों को दर्शन के अनेक तत्व बताये वहीं स्वयं भारतीयों ने यूनान तथा रोमवालों से मुद्रा-निर्माण तथा भवन-निर्माण-कला की कुछ शैलियाँ सीखीं। अरबों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने

के पश्चात् एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ था कि इन्होंने पाश्चात्य देशों में भारतीय सभ्यता का प्रसार किया। अरबों ने ही इन देशों में भारतीय औषधियों तथा दशमलव पद्धति का प्रचार किया था।

मध्य एशिया तथा भारत का पारस्परिक सम्बन्ध—प्रारम्भ में धर्मोपदेशकों ने मध्य एशिया में भारतीय सभ्यता का प्रसार प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् कुषाणों के राजनीतिक प्रभाव के कारण भी मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। उसी समय आधुनिक खोतान के निकट काफी बौद्ध बस गये। इसी के फलस्वरूप तीसरी शताब्दी ई० तक खोतान बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया। चीन की सीमा तक यहाँ की राजभाषा प्राकृत और राजलिपि खरोष्ट्री हो गई। यहाँ जो कुछ भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि यहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई थी। इसी प्रकार मध्य-एशिया के उत्तरी भाग में कूचा बौद्ध धर्म का केन्द्र था। कुमारजीव नामक बौद्ध भिक्षु ने राजा का आश्रय पाकर बौद्ध धर्म का खब प्रचार किया। कुमारजीव ने ३८ संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिससे चीन वालों में भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। चीनी ह्वेनसाँग ने भी हमें बताया है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी में मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था।

चीन और भारत का सम्बन्ध—चीन और भारत का सम्बन्ध प्राचीन काल में पूर्णतया व्यापारिक था, किन्तु भारत में बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् भारत और चीन का सम्बन्ध अधिक घनिष्ट हो गया। धर्म ही इसके मूल में था। खोतान से ही चीन में सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। वास्तव में चीन में बौद्ध धर्म को प्रचारित करने का श्रेय बौद्ध भिक्षु कश्यप मातंग तथा धर्मरत्न को दिया जा सकता है। अनेक भारतीय विद्वानों ने चीन में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया, जिससे न केवल बौद्ध धर्म का अधिकाधिक प्रचार हुआ प्रत्युत वहाँ भारतीय सभ्यता का भी प्रसार हुआ। तीसरी से छठीं शताब्दी ई० तक तो चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। चीन से अनेक यात्री बौद्ध धर्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत आये थे, जिनके सम्बन्ध में हम पीछे पढ़ चुके हैं। इन यात्रियों ने भी चीन और भारत में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कराने में पर्याप्त योग दिया। जब चीन और भारत में धार्मिक सम्बन्ध स्थापित हो गया तो इनके व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने में देर न लगी। कैन्टन में भारतीय व्यापारी काफी संख्या में बसे थे।

चीन और भारत का राजनीतिक सम्बन्ध भी गहरा था। चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक अनेक भारतीय और चीनी सम्राटों ने एक दूसरे के दरबार में अपने दूत या दूतमंडल भेजे थे। गुप्त नरेश, हर्ष वर्द्धन कन्नौज के राजा यशोवर्मन आदि के नाम भारतीय नरेशों में विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने चीन से गहरा सम्बन्ध स्थापित किया था। आज भी हमारा सम्बन्ध चीन से उसी प्रकार बना आ रहा है। उसमें अब और घनिष्टता बढ़ती जा रही है।

जापान और कोरिया से भारत का सम्बन्ध—मध्य एशिया में एक बार बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने के बाद वह आगे बढ़ता गया। चीन से बौद्ध धर्म कोरिया पहुँचा। कोरिया में लगभग चौथी शताब्दी ई० से ही इसका प्रचार प्रारम्भ हुआ। कोरिया नरेश के प्रयासों के फलस्वरूप कोरिया से बौद्ध-धर्म जापान पहुँचा। छठी शताब्दी ई० तक जापान में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार हुआ।

तिब्बत और भारत का सम्बन्ध—तिब्बत में स्रांग-गैम्पो नामक एक सम्राट्

सातवीं शताब्दी में राज्य करता था। इसने नैपाल तथा चीन की राजकुमारियों से व्याह किया था। इनके सम्पर्क में आने के पश्चात् इसे बौद्ध धर्म की विशेषताओं का बोध हुआ और उसने तव्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तब से तिव्वत और भारत का निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया। पाल राजाओं के शासन-काल में तिव्वत तथा भारत का सम्बन्ध और घनिष्ट हो गया।

अफगानिस्तान और फारस से भारत का सम्बन्ध—इन देशों से भारत का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही था। दोनों भारत के काफी निकट हैं, इसलिए सम्बन्ध स्थापित होना सम्भव भी था। लगभग तीसरी शताब्दी ई० तक इन देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया था। ग्यारहवीं शताब्दी के कुछ ही वर्ष पूर्व काबुल की घाटी में हिन्दू-धर्म का प्रचार था, इस बात के अनेक प्रमाण खुदाइयों द्वारा प्राप्त हुए हैं कि इस्लाम-धर्म के उदय के पूर्व अफगानिस्तान में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार था। इतिहासकार अलबरूनी ने यह बताया है कि इस्लाम धर्म के उदय के पूर्व फारस, खुरासान, ईराक, मोसल तथा सीरिया के कई भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार था।

उपनिवेश-स्थापना

वैदिक काल के मनुष्यों को ही नौका बनाना आ गया था और वे विशाल नौकाओं से ही जलयात्रा किया करते थे। लगभग चौथी-तीसरी शताब्दी ई० पू० से लोग सामुद्रिक यात्राओं में भी विशेष रुचि लेने लगे थे। यद्यपि इसके पूर्व भी यें सामुद्रिक यात्रा करते थे, किन्तु बंगाल की खाड़ी को पारकर के हिन्द-चीन तथा मलाया द्वीप समूह में ये इससे पहले सम्भवतः नहीं गये थे। पूर्वीय प्रदेशों को हमारे प्राचीन ग्रन्थों में सुवर्ण-भूमि कहा गया है, यहाँ पर भारतवासियों के आने का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों का तो मत है कि पूर्वी द्वीप समूह में भारतीयों ने अपने उपनिवेश बहुत पहले ही स्थापित कर लिए थे। कुछ लोगों का यह मत है कि मलाया द्वीप, अन्नम. कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा बोर्नियो तथा बाली द्वी ों में दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ई० तक भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। इन द्वीपों में काफी दिनों तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार रहा। यहाँ शैव-मत का अधिक प्रचार था। नीचे इन स्थानों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना के सम्बन्ध में संक्षेप में प्रकाल डाला जायगा।

चम्पा (हिन्द चीन) में उपनिवेशन स्थापना—लगभग दूसरी शताब्दी ई० में चम्पा में हिन्दू-राज्य स्थापित हो जाने का प्रमाण मिलता है, किन्तु संस्थापक का नाम ज्ञात नहीं है। ३८० ई० में भद्रवर्मा नामक एक शक्तिशाली राजा का पता चलता है। तत्पश्चात् उसका पुत्र गंगाराज सिहासनारूढ़ हुआ। दोनों शैव मत के मानने वाले थे। ७५७ ई० तक यह राजवंश चलता रहा। इसके बाद चम्पा में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। इसी प्रकार चम्पा में कई राजवंशों की स्थापना हुई। अधिकांश राजाओं के नाम में वर्मा लगा हुआ है, इससे कुछ लोग इन विभिन्न राजवंशों को एक मानने को तैयार हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है। नवीं शताब्दी में अनामियों ने अपना अधिकार चम्पा पर कर लिया। किन्तु कुछ काल पश्चात् श्री हरि वर्मा नामक व्यक्ति ने अनामियों को चम्पा से निकाल कर एक नये राजवंश की स्थापना की। अब भी राजनीतिक उथल-पुथल कम नहीं हुई। वहुत तीव्र गति से राजवंश बदलते रहे। १२६० ई० में चंगेज खां के उत्तराधिकारी कुबलई खां ने

चम्पा पर अपना अधिकार कर लिया। पर कुबलई खां का शासन भी स्थायी न हो सका और १२८७ ई० में इसके हाथ से चम्पा निकल गया। १३९० ई० में फिर एक नये राजवंश की स्थापना हुई, जिसका प्रथम राजा जयसिंह वर्मदेव था। इसके उत्तराधिकारी दुर्बल निकले और अन्त में चम्पा सदा के लिए अनामियों के हाथ में चला गया।

कम्बोडिया (हिन्द चीन) में उपनिवेश स्थापना—कहा जाता है कि दक्षिण भारत के कण्डियन नामक ब्राह्मण ने लगभग पहली शताब्दी में यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। जयवर्मन प्रथम, जयवर्मन द्वितीय, यशोवर्मन तथा सूर्यवर्मन यहाँ के सुप्रसिद्ध एवं शक्तिशाली शासक हुए। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० में कम्बोडिया पर अनामियों तथा थाई लोगों के भीषण आक्रमण प्रारम्भ हो गये, जिससे इसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। कम्बोडिया में शैव-धर्म का खूब प्रचार था। कुछ काल पश्चात् यहाँ वैष्णव धर्म का भी प्रचार हुआ। साथ-साथ बौद्ध धर्म भी चल रहा था। लगभग सभी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजायें लोग करते रहे। भारतीय सभ्यता का अनुकरण इन्हें भारतीय धर्म स्वीकार करने के कारण करना पड़ता था।

मलाया में उपनिवेश स्थापना—आठवीं शताब्दी ई० में शैलेन्द्र नामक एक व्यक्ति ने मलाया में हिन्दू-राज्य की स्थापना की। यह राज्य शीघ्र ही शक्तिशाली हो गया और इसके अधीन सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली द्वीप हो गये। शैलेन्द्र वंशीय राजे बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस वंश के राजाओं ने अनेक स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण कराया था। ग्यारहवीं शताब्दी में चोल नरेश राजेन्द्र चोल प्रथम ने शैलेन्द्र राज्य पर आक्रमण कर दिया। वह विजयी हुआ पर चोल एक शताब्दी से अधिक यहाँ नहीं टिक सके। शैलेन्द्र वंश का पुन: अधिकार हो गया पर वह भी तेरहवीं शताब्दी में समाप्त हो गया।

जावा में उपनिवेश-स्थापना—वैसे तो चौथी शताब्दी ई० में ही जावा में हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी. किन्तु शैलेन्द्र वंश के शासकों ने इसे विजित करके लगभग नवीं शताब्दी तक अपने अधीन रक्खा। तत्पश्चात् जावा वालों ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया।

तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विजय नामक सम्राट् ने जावा में एक नये राजवंश की स्थापना की। यह बहुत शक्तिशाली निकला और पड़ोसी राज्य को पराजित करके १३६५ ई० तक इसने मलाया प्रायद्वीप तथा मलाया द्वीप समूह को अपने अधीन बना लिया।

मल्लका उपनिवेश-स्थापना—जावा के एक हिन्दू सामन्त ने १५वीं शताब्दी में मलक्का में आकर यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की। बहुत शीघ्र इस राज्य ने उन्नति कर ली. किन्तु इस राजवंश के दूसरे शासक ने इस्लामधर्म स्वीकार कर लिया। इसका प्रभाव पड़ोसी राज्यों पर भी पड़ा और देखते-देखते जावा में भी इस्लाम धर्म का प्रचार हो गया। यहाँ के हिन्दू शासक को पदच्युत कर दिया गया। जावा के हिन्दुओं को भाग कर बाली द्वीप में शरण लेनी पड़ी। यहाँ अब भी हिन्दू-धर्म का प्राबल्य है।

जावा तथा मलक्का आदि द्वीपों में भारतीय संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। प्रारम्भ में ही यहाँ हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म जोरों पर था पर कुछ काल पश्चात् बौद्ध धर्म का बोलबाला हुआ।

बाली तथा बोर्नियों द्वीप में हिन्दू-राज्य की स्थापना—बाली में हिन्दू राज्य की स्थापना का इतिहास ठीक-ठीक नहीं प्राप्त होता। विद्वानों का ऐसा मत है कि सातवीं शताब्दी ई० के लगभग .यहाँ हिन्दू-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। तभी सम्भवतः कोण्डिन्य नामक कोई क्षत्रिय शासक वहाँ राज्य करता रहा। तत्पश्चात् दसवीं शताब्दी में उग्रसेन केसरी आदि भारतीय राजाओं का उल्लेख मिलता है। ऊपर बताया जा चुका है कि १६वीं शताब्दी में जावा के हिन्दुओं ने मुसलमान आक्रमणों के भय से बाली में शरण ली थी। तब से बाली में हिन्दू-सभ्यता का प्राबल्य स्थापित हो गया है।

बोर्नियो में चौथी शताब्दी ई० में हिन्दू-राज्य की स्थापना हुई थी। मूलवर्मा उस समय यहाँ का शासक था।

सिंहल द्वीप—छठीं शताब्दी ई० में काठियावाड़ के राजकुमार विजय ने यहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना की। तत्पश्चात् सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को भेजकर दोनों देशों के सम्बन्ध को बढ़ाया और लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बौद्ध धर्म का लंका में अधिक स्वागत हुआ। यहाँ के शासकों ने उसे प्रश्रय प्रदान किया। लंका वालों ने बौद्ध धर्म स्वीकार करलेने के पश्चात् पाली भाषा तथा ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया।

सुवर्ण भूमि—भारतीय साहित्य में वर्मा को सुवर्ण भूमि कहा गया है। आदि-काल से ही भारतीय व्यापारी यहाँ अर्थ प्राप्ति के लालच से व्यापार करने आते थे। सम्राट् अशोक ने यहाँ बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। यहाँ के निवासी अब भी बौद्ध अनुयायी हैं।

श्याम—ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक यह कम्बोडिया के हिन्दू राज्य के अधीन था, तत्पश्चात् यह थाई जाति के प्रभाव में आया। तभी से यहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रचार शुरू हुआ। यहाँ अब भी बौद्ध धर्म का प्राबल्य है।

उपरोक्त विवरण से हमें भारतीय सभ्यता के प्रसार की झाँकी मिलती है। इन सारे उपनिवेशों का अन्त अरबों, तुर्कों, मंगोलों आदि वाह्य आक्रमणकारियों तथा पारस्परिक संघर्षों ने कर दिया।

वैदेशिक सम्बन्ध का भारत पर प्रभाव

साम्राज्यों के युग में भारत का विदेशों से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित रहा जिसका प्रभाव भारत पर पड़े बिना नहीं रह सका। मौर्य-काल से ही हमें व्यापक रूप में विदेशी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। चन्द्रगुप्त के दरबार पर ईरानी प्रभाव हमें स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। (१) ईरानी सम्राट् अपने जन्म-दिवस के समय पर 'केश-काढ़ने' (Hair washing) का उत्सव मनाते थे। चन्द्र गुप्त मौर्य भी इस प्रथा का पालन करता था। (२) दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि ईरानियों की भाँति 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने यह व्यवस्था की है कि वैद्य तथा तपस्वी से परामर्श लेते समय सम्राट् उस कमरे में बैठे, जहाँ हवन-अग्नि (पवित्र-अग्नि) जल रही हो। (३) सीमांत प्रदेशों में लिपि का शताब्दियों तक प्रयोग में लाना भी भारत पर ईरानी प्रभाव का द्योतक है। (४) अशोक के अभिलेखों पर भी हम ईरानी प्रभाव देख सकते हैं। (५) ईरानी पदवी क्षत्रप का प्रयोग भी ईरानी प्रभाव को प्रकट करता है। (६) विदेशियों से भारत का सम्बन्ध रहने का एक सबसे बड़ा ऐतिहासिक प्रभाव यह पड़ा कि विदेशी यात्रियों ने हमारे देश के विषय में अपनी योग्यता के अनुसार कुछ न कुछ

लिखा है। इनके विवरणों से हमारे इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। इन यात्रियों में मेगस्थनीज, डाइमेकस. डायोनोसियस, फाहियान, ह्वेनसाँग, इत्सिग आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। (७) कहा जाता है कि विदेशों के सम्पर्क के कारण ही बौद्ध धर्म की महायान शाखा को पनपने का मौका मिला। (८) भारतीय कला और विज्ञान (ज्योतिष) पर जो यूनानी प्रभाव पड़ा, उसका संक्षिप्त परिचय हम पिछले पृष्ठों में प्राप्त कर चुके हैं। (९) विदेशी सम्पर्क का प्रभाव हमारे शासन-प्रबन्ध पर भी कुछ-कुछ पड़ा। विशेषकर चीन और रोमन शासन-प्रणाली के कुछ तत्व हमने अवश्य ग्रहण किए। कुषाण शासकों का अपने को देवपुत्र कहना कुछ-कुछ चीनी प्रणाली से मिलता-जुलता है। (१०) गुप्तों की मुद्राओं की सुन्दरता और कलात्मकता में हम रोमन प्रभाव ही देखते हैं। (११) विदेशी व्यापार से भी भारत को काफी लाभ पहुँचा है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विदेशों के सम्पर्क में आकर भारत को काफी लाभ हुआ, कुछ बर्बर जातियों के आक्रमणों ने उसे क्षति भी पहुँचाई।

उपनिवेशों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

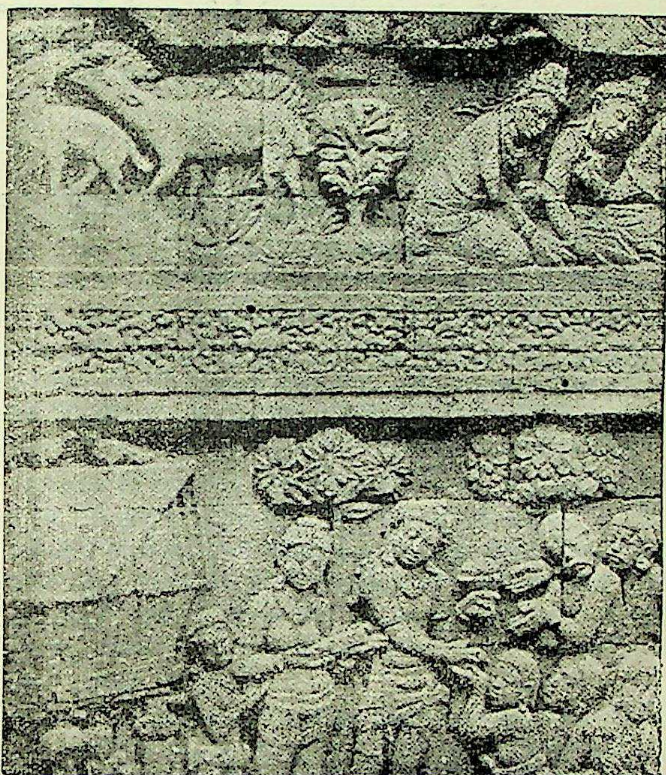
जहाँ हमने विदेशों से कुछ सीखा था वहाँ उसके स्थान पर हमने उन्हें बहुत कुछ सिखलाया भी। भारतीय उपनिवेशों पर भारतीय धर्म, साहित्य, कला और सामाजिक रीति-रिवाजों का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। यहाँ हम उसी प्रभाव को संक्षेप में बतायेंगे।

जावा, बोर्नियो, अन्नम, कम्बोडिया, मलाया आदि द्वीपों के निवासी भारतीय साहित्य, धर्म और राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं से काफी प्रभावित थे। उनके लेखों से ही इसका प्रमाण मिल जाता है। चम्पा और यूनान के लेखों से भी यह ज्ञात होता है कि यहाँ के लोग हमारी पौराणिक कथाओं से खूब परिचित थे। इसी प्रकार पश्चिमी जावा में जो अभिलेख मिले हैं उससे यह पता चलता है कि यहाँ के निवासी भारतीय संस्कृति से काफी प्रभावित थे। उन पर हिन्दू-धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा था। उनके अभिलेखों की भाषा शुद्ध संस्कृत है और भारतीय अभिलेखों की भाँति ही वे काव्य में लिखे गये हैं। जावा में तो महीना और दूरी नापने के पैमाने के भारतीय ढंग से लोग आज भी परिचित हैं। यहाँ की कुछ नदियों के नाम जैसे गोमती, चन्द्रमण आदि बिल्कुल भारतीय हैं। बोर्नियो और मलाया द्वीप में भारतीय धर्म का प्रभाव इस प्रकार देखने को मिलता है कि कुछ भारतीय देवताओं की मूर्त्तियाँ बोर्नियो में और दुर्गा, गणेश, नन्दी आदि की मूर्त्तियाँ मलाया में प्राप्त हुई हैं। मूर्त्तियों के साथ जो अस्त्र-शस्त्र भारत में दिखाये जाते हैं वही यहाँ भी देखने को मिले हैं। उदाहरणार्थ यहाँ भी शिव के हाथ में त्रिशूल और विष्णु के हाथ में चक्र, शंख, गदा, तथा पद्म दिखाया गया है। इतना ही नहीं ये भी गंगा को पवित्र नदी मानते थे, जिसका प्रमाण यत्र-तत्र मिलता है। ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

भारतीय धर्म से प्रभावित होने वाले स्थान भारतीय कला से अवश्य ही प्रभावित होंगे। जावा की कला पर निश्चय ही भारतीय कला का प्रभाव पड़ा। जावा के सुप्रसिद्ध बोरोबोदूर के स्थापत्य चित्रों में महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ चित्रित हैं। यह पूर्णतया कला का प्रभाव ही है।

जावा के सामाजिक विचारों पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। उनकी शासन-पद्धति पर भी हमारे देश का कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता

है। चम्पा के सामाजिक संगठन पर भी भारतीय प्रभाव रहा, क्योंकि वह बहुत कुछ हमारी वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप रहा। वहाँ भी हमारे देश की भाँति थोड़ा बहुत परि-



चित्र १५--जावा का बोरोबोदूर मन्दिर

वर्त्तन के साथ चार वर्ण थे। यहाँ के नृत्य और संगीत पर भी भारतीय प्रभाव पड़ा है। इतना ही नहीं यहाँ संस्कृत भाषा का काफी प्रचार रहा और यही चम्पा की राज्यभाषा भी थी।

कम्बोडिया के कला पर भी भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। वहाँ का सुप्रसिद्ध मन्दिर अंगकोरवाट भारतीय मन्दिरों से काफी मिलता-जुलता है। अन्य प्राचीन मन्दिरों की आकृति भी बहुत-कुछ गुप्त कालीन मन्दिरों-सी है। स्थापत्य चित्रों पर भारतीय प्रभाव और भी अधिक पड़ा है। कहा जाता है कि यहाँ की अनेक मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण भारतीय कलाकारों ने किया था, जो उप-निवेश-स्थापकों के साथ कम्बोडिया गये थे।

कलिंग निवासियों ने मलाया और उसके समस्त द्वीपों में भारतीय सभ्यता का प्रसार किया था। सुमात्रा बौद्ध धर्म का सुप्रसिद्ध केन्द्र बन गया था और लगभग एक हजार बौद्ध भिक्षु यहाँ निवास करते थे। इन्होंने सुमात्रा के निकटवर्ती भागों पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा था। मलाया के सभी अभिलेख संस्कृत भाषा में हैं।

उपर्युक्त स्थानों को सभ्यता एवं संस्कृति का पाठ पढ़ाने का श्रेय भारत को प्राप्त है। इन स्थानों के अतिरिक्त विश्व के अन्य देशों को भी भारत ने अपने दर्शन और साहित्य से प्रभावित किया। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों की विद्वता से विदेशियों ने काफी लाभ उठाया था। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीयों ने प्राचीन काल में विश्व के अनेक देशों को सभ्यता और संस्कृति सम्बन्धी कुछ ज्ञान दिये और जिनसे कुछ सीखा जा सकता था, उससे ज्ञान प्राप्त करने में भी वे नहीं चूके।

प्रश्न

१. विदेशों में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

२. विदेशों में उपनिवेश-स्थापना पर प्रकाश डालिए।

३. विदेशी सम्पर्क से भारत को क्या लाभ हुआ?

1. Briefly describe the establishment of Indian colonies in the Far East. (Apr. 1955.)

2. Describe the objects, nature and extent of Hindu colonisation of "Greater India." (Sept. 1956.)

अध्याय २२

राजपूत काल

भाग १. राजपूत कौन थे

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद भारतवर्ष में फिर राजनैतिक विघटन हो गया। उत्तर तथा दक्षिण में छोटे-छोटे राज्य बन जाते हैं। परन्तु अब से राज्यकुल राजपूत के नाम से पुकारे जाने लगे। अत: प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ये राजपूत पूर्व काल के क्षत्रियों का ही कालान्तरिक नाम है या ये लोग कोई और थे जिन्होंने अपने राज्य स्थापित कर लिये थे और अपने को राजपूत कहने लगे। राजपूतों पर खोज करने वाले विद्वानों ने अवश्य अपने-अपने मतों का प्रकाश डाला हैं परन्तु उनमें मत्यैक नहीं है। अत: हम उन विद्वानों के भिन्न-भिन्न मतों पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

अग्निकुंड का सिद्धान्त—चन्दवरदाई ने जो पृथ्वीराज चौहान का दरबारी कवि था, राजपूतों की उत्पत्ति के विषय पर लिखा है कि जब परशुराम ने पृथ्वी को नि:-क्षत्रिय कर दिया तो ब्राह्मणों को उनकी तपस्या में रक्षा करने वाला कोई नहीं रहा। अपने को नि:सहाय पाकर उन्होंने अपने तपोबल पर भरोसा कर आबू पर्वत पर एक महान यज्ञ किया। इसी यज्ञ की समाप्ति पर उस हवन कुंड से चार सशस्त्र योद्धाओं की उत्पत्ति हुई। इन्ही चार योद्धाओं के वंशज क्रमशः चौहान, चालुक्य (या सोलांकी) परमार तथा प्रतिहार कहलाये।

इस मत पर विचार करने पर हम समझ सकते हैं कि यह कितना खोखला है। परशुराम की कथा रामायण काल की है और राजपूत हर्ष के बाद इतिहास क्षेत्र में आये। यह मत तो चन्दबरदाई ने केवल चौहानों की महत्ता स्थापित करने के लिये ही लिखा था। यह कवि की कल्पनात्मक रचना मात्र है।

अभारतीयता सिद्धान्त

टाड का मत—राजस्थान पर गवेषणा करने वाले महान विद्वान् जेम्स टाड ने राजपूतों की शारीरिक बनावट उनके रस्म-रिवाज आदि का अध्ययन करते हुए उनके उत्पत्ति के विषय पर भी प्रकाश डाला है। उनका मत है कि राजपूत अभारतीय हैं। भारत पर आक्रमण करने वाले शक, हूण, कुषान, गुर्जर आदि भारतवर्ष को ही अपना घर बनाकर यहीं बस गये और यहीं उन्होंने अपने राज्य भी बना लिये। ये विदेशी आक्रमणकारी अपने साथ पर्याप्त मात्रा में अपने देश की स्त्रियों को नहीं लाये थे। अत: उन्होंने यहाँ के विजित प्रान्तों के स्त्रियों से विवाह कर लिया। इन्हीं के वंशजों ने जो युद्धप्रिय थे अपना एक पृथक वर्ग बना लिया और अपने को राजपूत कहने लगे। राजपूतों का अग्नि पूजा करना, उनका अपना-अपना सामाजिक संगठन तथा कुल बनाना, उनकें शरीर की बनावट इस बात का प्रमाण है। इस मत का समर्थन प्रोफेसर भंडारकर ने भी किया है।

भारतवर्ष में राजनैतिक उथल-पुथल के समय ब्राह्मणों ने इनकी शरण ली और इनको सूर्यवंश या चंद्रवंश से जोड़ कर इनकी काल्पनिक वंशावली बना दिया। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि विदेशियों के आक्रमण के पहले के ग्रन्थों में राजपूतों का उल्लेख नहीं मिलता है। इसका कारण यही है कि उस समय राजपूत नाम की जाति थी ही नहीं।

यद्यपि स्मिथ साहब इस मत से सम्पूर्ण सहमत नहीं हैं फिर भी वे इस बात को मानते हैं राजपूतों में काफी मात्रा में विदेशी लोगों की संख्या है। उनके मत से क्षत्रिय तथा विदेशी दोनों के ही ऐसे वंशज जो युद्धप्रिय थे तथा जिन्होंने युद्ध तथा शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया था अपने को राजपूत कहने लगे।

भारतीयता का सिद्धान्त

भारतीय विद्वान् वैद्य महोदय तथा गौरीशंकर ओझा दोनों ने ही अभारतीयता के सिद्धान्त का खंडन किया है। उनका मत है कि राजपूत आर्य संतान हैं। अग्नि-पूजा भारतवर्ष का प्राचीन संस्कार है। बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व अग्नि पूजा आर्यों में पर्याप्त मात्रा में प्रचलित थी। उन्होंने यह भी कहा है कि नौवीं तथा दसवीं शताब्दी के शिलालेखों में राजपूतों ने अपने को सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी कहा है। इन विद्वानों के मत में ऐसा उल्लेख बिना ऐतिहासिक तथ्य के नहीं हो सकता है।

इन सारे मतों को देखते हुए हम यही कह सकते हैं कि राजपूत न तो सम्पूर्ण रूप से आर्यों की ही सन्तान थे और न सम्पूर्ण विदेशियों के वंशज थे। इस वर्ग में भारतीय तथा अभारतीय सभी सम्मिलित हो गये थे। ऐसे सभी लोग राजनैतिक विश्रृंखलता से लाभ उठाकर अपने राज्य बनाने में सफल हुए और अपने को औरों से पृथक रखने के लिये अपने आप को राजपुत्र कहने लगे। कालान्तर में राजपुत्र बिगड़ कर राजपूत बन गया।

भाग २. उत्तरी भारत के मुख्य राजपूत राज्य

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के राजनीतिक गगनमण्डल पर एक बार पुनः कुछ समय. के लिए अंधकार छा जाता है। पट परिवर्तन पर हमें छोटे-छोटे राज्य दिखाई देते हैं। इन राज्यों का पारस्परिक संघर्ष इस युग की राजनीतिक अवस्था की विशेषता बन जाती है। भारतवर्ष के छोटे-छोटे राज्यों का वर्णन नीचे दिया जाता है।

कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार

गुर्जर प्रतिहारों की वंशावली द्वारा हमें ५०० ई० के पूर्व का उनका इतिहास नहीं विदित होता। सबसे पहले उनका उल्लेख पुलकेशिन द्वितीय के एहोल अभिलेख (६३४ ई०) में किया गया है। छठी शताब्दी के प्रारम्भ से गुर्जरों ने भारत की राजनीतिक घटनाओं में महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने पंजाब, मारवाड़, और भड़ौच में अपने राज्य स्थापित कर लिये।

गुर्जर-प्रतिहारों के प्रारम्भिक इतिहास में सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि अरबों के प्रसार को रोक कर गुर्जर-प्रतिहारों ने वस्तुतः भारत की प्रतीहारी (द्वार-रक्षक) का कार्य किया। इस वंश के संस्थापक नागभट्ट प्रथम ने, जिसका समय अनुमानतः ७२५-७४० तक निश्चित किया जा सकता है, म्लेच्छों को पराजित किया था।

गुर्जर-प्रतीहार वंश का चतुर्थ नरेश वत्सराज अपने कुल का एक शक्तिशाली राजा था। यह सम्भवतः नागभट्ट प्रथम का प्रपौत्र था। वत्सराज ने बंगाल के शासक को पराजित किया और उससे दो छत्र छीन लिये; किन्तु राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव नामक राजा ने उसे पराजित कर दिया और अन्त में वह बंगाल के राजा के द्वारा भी हरा दिया गया। वत्सराज ने अपने वंश को शक्ति और प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयास किया।

वत्सराज का उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय (८००-८३४) भी अपने कुल का एक प्रतापी सम्राट् था। नागभट्ट को अपने सैन्य-जीवन के प्रारम्भ में कई सफलताएँ प्राप्त हुईं। नागभट्ट द्वितीय का सब से महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने बंगाल के राजा धर्मपाल को मुँगेर के निकट पराजित किया और कन्नौज के शासक चक्रायुध को वहाँ से निकाल कर बाहर कर दिया। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि बंगाल का राजा धर्मपाल चक्रायुध का संरक्षक था। कन्नौज पर गुर्जर-प्रतिहारों का अधिकार स्थापित हो गया। नागभट्ट द्वितीय को इस बात के लिए श्रेय प्रदान किया जाता है कि उसने उत्तर में सिन्ध से लेकर दक्षिण में आन्ध्र तक और पश्चिम में आनर्त (काठियावाड़ में एक स्थान) से लेकर पूर्व में बंगाल की सीमाओं तक अपने राज्य का विस्तार किया। यद्यपि राष्ट्रकूट वंश के राजा गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय को पराजित कर दिया तथापि कन्नौज पर प्रतीहार वंश का अधिकार बना रहा। नागभट्ट द्वितीय को गोविन्द तृतीय द्वारा पराजय सहन करने से कुछ हानि अवश्य उठानी पड़ी किन्तु उसने अपने हाथ से कन्नौज नहीं जाने दिया और इसे अपनी राजधानी बनाई। नागभट्ट द्वितीय का उत्तराधिकारी रामभद्र था (८३४-८४०) जिसके शासन-काल में कोई महत्वपूर्ण घटना घटित नहीं हुई।

मिहिर भोज—मिहिर भोज अपने वंश का अत्यन्त प्रतापी और प्रभावशाली नरेश था। इसने सुदीर्घ काल (८४०-८९०) तक शासन किया। मिहिर भोज को ही वास्तव में अपने राजकुल की सीमाओं को विस्तृत करने का श्रेय दिया जा सकता है क्योंकि उसके पूर्वजों का पर्याप्त समय पालों और राष्ट्रकूटों से युद्ध करने में व्यतीत हो जाता था। मिहिर भोज को इस बात का गौरव प्राप्त था कि राजनीतिक प्रभुता के लिए तीन राजकुलों में जो संघर्ष छिड़ा उसने अपने वंश को सबसे अधिक शक्तिशाली बनाया। विभिन्न दिशाओं में उसकी विजयों के फलस्वरूप गुर्जर-प्रतिहारों का राज्य एक वास्तविक साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। उसके राज्य में पूर्वी पंजाब, राजपूताना का अधिकांश भाग, वर्तमान उत्तर प्रदेश का अधिकतर हिस्सा और ग्वालियर आदि प्रदेश सम्मिलित थे।

महेन्द्र पाल—मिहिर भोज का उत्तराधिकारी महेन्द्र पाल (८९०-९०८) अपने महान् पिता का एक पुत्र था। अपने पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य के ऊपर न केवल उसने अपना सुदृढ़ अधिकार रक्खा वरन् उसमें कुछ अन्य भाग भी मिलाये। उसके अभिलेख पेहेवा (करनाल, आधुनिक पूर्वी पंजाब का एक जिला), मगध में गया तथा काठियावाड़ में प्राप्त हुए हैं। सियहदोनि (ग्वालियर) तथा श्रावस्ती के भुक्ति में भी उसके अभिलेख मिले हैं। उसके अभिलेख यह सूचित करते हैं उसने पालों से मगध और उत्तर बंगाल छीन लिया। काश्मीर के राजा शंकर वर्मन के आक्रमणों के फलस्वरूप महेन्द्रपाल की राज-सीमा कुछ घट गई, परन्तु अन्य किसी प्रकार से ह्रास की सूचना हमें नहीं प्राप्त होती। महेन्द्र पाल ने हर्ष और यशोवर्मन की भाँति विद्या को प्रोत्साहन दिया। उसके राज दरबार में राजशेखर नामक कवि रहता था।

महीपाल--महेन्द्रपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र भोज द्वितीय हुआ, किन्तु अन्तवन्त अल्पकालीन शासन के बाद वह मर गया। उसके बाद उसका अनुज महीपाल (९१०-४०) कन्नौज के राज-सिहासन पर आसीन हुआ। महीपाल के शासन-काल से कन्नौज के प्रतीहार वंश की राजलक्ष्मी विचलित होने लगी, परन्तु उसके शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में उसके राज्य में शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। साम्राज्य की शक्ति इस समय अक्षुण्ण बनी रही और इसकी सीमाएँ संकुचित भी नहीं होने पाई। कवि राजशेखर ने, जिसने उसकी राजसभा को भी सुशोभित किया था, उसे आर्यावर्त का महाराजाधिराज कहा है और उसने मुरलों, मेकलों, कलिंगों, केरलों और कुन्तलों पर महीपाल की विजयों का भी उल्लेख किया है। सन् ९१६ ई० में राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने एक बहुत बड़ी सेना लेकर कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और इसको अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु महीपाल ने चन्देल राजा की सहायता से अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। कन्नौज के साथ-साथ उसने दोआब, बनारस ग्वालियर और सुदूरवर्ती काठियावाड़ पर भी अपना स्वामित्व स्थापित किया।

महीपाल के उत्तराधिकारी--महीपाल की मृत्यु सन् ९४४ ई० के लगभग हुई। उसके बाद महेन्द्रपाल द्वितीय राजा हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को दो-तीन वर्ष तक सम्हाला। उसके बाद उसका अनुज देवपाल प्रतीहार साम्राज्य का स्वामी हुआ। देवपाल के समय से साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। परवर्ती प्रतीहार राजाओं ने गंगा की घाटी, राजपूताना के कुछ भागों और मालवा पर किसी प्रकार अपना अधिकार स्थापित रक्खा। परन्तु चन्देलों ने, जो पहले उनके सामन्त थे, उनका विरोध करते हुए, अपनी आक्रमणात्मक नीति प्रारम्भ की। चालुक्यों ने गुजरात में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, परमार मालवा में स्वतन्त्र हो गए और चन्देलों तथा चेदियों ने यमुना तथा नर्मदा के मध्यवर्ती भाग में अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। महीपाल के पश्चात् महेन्द्रपाल, देवपाल, विजयपाल और राज्यपाल प्रतीहार वंश के राजसिंहासन पर बैठे थे, परन्तु इनमें से कोई भी अपने वंश के गौरव को पुनर्जीवित न कर सका। जब राज्यपाल कन्नौज के राज्य सिंहासन पर बैठा (९५०-१०१८) तब उसका राज्य सिकुड़ कर केवल गंगा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश तक ही रह गया था। मुसलमानों के आक्रमण दसवीं शताब्दी में होने लगे थे. जिनका आघात राज्यपाल के राज्य को भी लगा। जब गजनी के महमूद ने १०१८-१९ में कन्नौज पर आक्रमण किया तो राज्यपाल ने निर्विरोध आत्मसमर्पण कर दिया। फिर भी महमूद ने कन्नौज को काफी लूटा-खसोटा। महमूद के लौट जाने के बाद चन्देल राजकुमार विद्याधर ने राज्यपाल को उसकी कायरता का दण्ड देने के लिये उसके ऊपर आक्रमण कर दिया और युद्ध में उसे मार डाला। इस प्रकार प्रतीहार साम्राज्य को एक दुखद अन्त देखना पड़ा।

सभी प्रतीहार-नरेश शैव या वैष्णव धर्मों के अनुयायी थे। कुछ प्रतीहार शासक वैष्णव धर्म को मानते थे और कुछ शैव धर्म को। भगवती के प्रति भी उनकी श्रद्धा और भक्ति थी। गुर्जर प्रतिहारों के पश्चात् कन्नौज का राज्य गहड़वालों के अधिकार में चला गया।

कन्नौज के गहड़वाल नरेश

गहड़वालों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनका मूल निवास स्थान दक्षिण भारत में था परन्तु इस धारणा का अन्य विद्वान् समर्थन नहीं करते। कन्नौज पर

इन्द्रदेव नामक एक गहड़वाल सरदार ने कब्जा कर लिया। चन्द्रदेव ने सम्राटोचित विरुद धारण किये जिससे प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र नृपति था। चन्द्रदेव ने पांचाल नरेश को. जिसका सम्बन्ध राष्ट्रकूट कुल से था पराजित कर दिया और कलचुरियों की उपेक्षा करते हुए उसने अपने राज्य का विस्तार सम्भवतः इलाहाबाद और वनारस तक किया। गहड़वालों ने काशी को अपनी दूसरी राजधानी का रूप प्रदान किया और अभिलेखों में उनको कान्यकुब्ज तथा काशी का स्वामी कहा गया है।

मदन चन्द्र—चन्द्रदेव का उत्तराधिकारी रामचन्द्र हुआ। गहड़वालों ने यामीनी शासकों की सत्ता का विरोध किया क्योंकि मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों से ज्ञात होता है कि मसूद तृतीय (१०९९-१११५ ई०) ने हिन्दोस्तान पर आक्रमण कर दिया, जिसकी राजधानी कन्नौज थी और उसके राजा को बन्दी लिया गया। इन इतिहासकारों के अनुसार मल्हिराजा ने (मल्हि नाम सम्भवतः मदन चन्द्र का एक विकृत रूप है) एक गहरी रकम भेंटकर अपने को मुक्त किया।

गोविन्द चन्द्र—गोविन्द चन्द्र सन् ११६४ ई० के पूर्व अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठा। गोविन्द चन्द्र निस्सन्देह अपने कुल का सबसे प्रतापी और पराक्रमी शासक था। उसके चालीस अभिलेख. जिन पर १११४ से लेकर ११५४ तक के वर्षों की तिथियाँ पड़ी हैं उसके सुदीर्घ शासन-काल का परिचय देते हैं। उसके सिक्कों से भी गहड़वालों की परिवर्धमाना शक्ति की सूचना प्राप्ति होती है। उसके अभिलेख यह स्पष्ट सूचित करते हैं कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पचास वर्षों में उत्तरी भारत के काफी विशाल भूभाग पर उसका प्रभाव विद्यमान था। उसने लाहौर के यामिनी शासकों का विरोध किया और पालों से भी वह लड़ा। उसने सेन राजाओं की नौका शक्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए मुंगेर अथवा पटना तक अपनी सेना बढ़ाई। उसने चन्देलों को पराजित करके उनसे पूर्वी मालवा छीन लिया। दक्षिण कोशल के कलचुरि नरेशों के साथ गोविन्द चन्द्र ने कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये।

विजय चन्द्र—गोविन्द चन्द्र का उत्तराधिकारी उसका तृतीय पुत्र विजयचन्द्र (११५५-११७०) था। उसने तुर्कों से मध्यदेश की रक्षा की। अपने शासन-काल में उसने मुसलमानों को अपने राज्य की भूमि पर पाँव नहीं रखने दिया। 'पृथ्वीराजरासो' नामक हिन्दू काव्य-ग्रन्थ में इसके विजयों की तालिका दी हुई है, परन्तु उस पर विश्वास करना कठिन है। विग्रहराज वीसलदेव के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसने विजय चन्द्र से दिल्ली छीन ली।

जयचन्द्र—विजयचन्द्र का उत्तराधिकारी जयचन्द्र ११७० ई० में कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। अपने वंश का वह एक प्रतापी नरेश था। उसके पास एक विशाल सेना थी। उसको कतिपय मुसलमान इतिहासकारों ने भारत का सबसे बड़ा सम्राट् कहा है। भारतीय इतिहास और अनुश्रुति में उसे काफी ख्याति (या कुख्याति) प्राप्त हुई है। उसके अभिलेख जिन पर ११७० और ११८९ के बीच की तिथियाँ खुदी हैं यह सूचित करते हैं कि उसने उत्तराधिकार द्वारा जो विशाल साम्राज्य प्राप्त किया था उसकी पूर्ण रूपेण रक्षा की। कहा गया है कि उसने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार पराजित किया। उसके राज्य की पूर्वी सीमायें गया तक फैली थीं। पूर्व में उसका राज्य बंगाल के सेनों के राज्य की सीमा को स्पर्श करता था। 'पृथ्वीराजरासो' के अध्ययन से पता चलता है कि साँभर के चौहान नृपति पृथ्वीराज तृतीय उसकी पुत्री संयोगिता को स्वयंवर-स्थल से भगा ले

गया था और बाद में उसने उसके साथ विवाह कर लिया। जयचन्द्र और पृथ्वीराज चौहान का पारस्परिक सम्बन्ध निस्सन्देह कटुतापूर्ण था, किन्तु इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है कि राजा जयचन्द्र ने पृथ्वीराज के विरुद्ध शहाद्दीन गोरी की सहायता की थी। इस विषय में 'पृथ्वीराजरासो' का साक्ष्य तनिक भी विश्वसनीय जान नहीं पड़ता और जयचन्द्र पर देशद्रोहिता का आरोप लगाना उचित तथा तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। देश पर विदेशी आक्रमण के रूप में आने वाली भयंकर आपत्ति का सामना करने के लिए एक साम्य सूत्र में ग्रन्थित न होने का दोष उस समय के सभी हिन्दू नरेशों के विरुद्ध लगाया जा सकता है, केवल जयचन्द्र के ही विरुद्ध नहीं। परन्तु अपनी राजनीतिक मूर्खता और देशप्रेमशून्यता का दण्ड उन भारतीय राजाओं को मिल गया। जयचन्द्र भी इस दण्ड से मुक्त नहीं रह सका। उसने सोचा था कि शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को पराजित करके वापस लौट जायगा, किन्तु गोरी ने ११९२ ई० में पृथ्वीराज को हरा कर कन्नौज के राज पर आक्रमण कर दिया। इस समय जयचन्द्र काफी वृद्ध हो गया था, फिर भी अपनी सेना लेकर उसने गोरी के आक्रमण का सामना करने के लिए रणभूमि की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावा के मैदान में उससे मुठभेड़ की। वीरतापूर्वक लड़ते हुए जयचन्द्र युद्धभूमि में मारा गया किन्तु उसके राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार नहीं जमाया और उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा दिया।

गहड़वालों का अन्त––जयचन्द्र की राजसभा में संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि श्री हर्ष रहते थे जिन्होंने 'नैषधचरित' नामक महाकाव्य और 'खण्डन-खण्ड खाद्य' नामक तर्क ग्रन्थ का प्रणयन किया। जयचन्द्र के पश्चात् हरिश्चन्द्र ने भी कुछ समय तक अवश्य कन्नौज पर राज्य किया। गहड़वालों का शासन कन्नौज राज्य के केवल पूर्वी भाग में कुछ दिनों तक और जारी रहा, परन्तु सन् १२२६ ई० तक वह भी मुसलमानों के हाथ में चला गया। कन्नौज पर अभी तक एक सामन्त का शासन था परन्तु सन् १२२६ ई० में मुस्लिम शासक इल्तुतमिश ने इस पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद भारतीय इतिहास में कन्नौज का कोई विशेष राजनीतिक महत्व नहीं रह गया। शेरशाह ने इसको नष्ट कर दिया और आज प्राचीन कन्नौज भग्न स्थिति में है।

शाकम्भरी और अजमेर के चौहान

चाहमान वंश के अनेक राजपूत सरदार आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अजमेर के उत्तर में साँभर झील के निकट साँभर (शाकम्भरी) नामक स्थान पर राज्य करने लगे थे। इस वंश की अन्य शाखाओं का राज्य आगरा और ग्वालियर के मध्य में धौलपुर नामक स्थान में, रणथम्भौर में और आबू पर्वत के उत्तर में नड्डूल (नदोल) में भी था। परन्तु ये वंश शाकम्भरी के चौहानों की तरह विख्यात और महत्वपूर्ण नहीं थे। इसी वंश के कुछ सरदार गुर्जर महेन्द्रपाल द्वितीय के समय में उज्जैन के शासक के सामन्त थे। भड़ौच के चाहमान सरदार, जो नागभट्ट प्रथम के सामन्त थे, साँभर के चौहानों की ही तरह प्राचीन थे।

विग्रह द्वितीय इस वंश का प्रथम उल्लेखनीय नरेश था। उसने सन् ९३३ के लगभग शासन करना आरम्भ किया और अपने राजवंश की स्वतन्त्रता स्थापित की। कहा जाता है कि उसने अन्हिलवाड़ के मूलराज प्रथम को पराजित किया। पृथ्वीराज

प्रथम ने सन् ११०५ ई० के लगभग राज्य किया। उसके पुत्र अजयराज ने अजयमेरु अथवा अजमेर नामक नगर की स्थापना की। उसने बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शासन करना शुरू किया। वह अपने कुल का प्रथम शासक था जिसने एक आक्रमणात्मक साम्राज्यवादी नीति का अवलम्बन किया। उसने उज्जैन पर आक्रमण किया और परमार सेनानायक को बन्दी बना लिया। उसके लिए यह कहा जाता है कि उसने युद्ध में तीन राजाओं को तलवार के घाट उतार दिया। परन्तु हमें इस बात का विवरण प्राप्त नहीं है कि इन युद्धों के फलस्वरूप उसके राज्य की सीमा में कोई विस्तार हुआ या नहीं। अजयराज के उपरान्त अर्णोराज शासक हुआ, जिसके दो अभिलेखों पर सन् ११३९ ई० की तिथि दी हुई है। उसका जयसिंह सिद्धराज और अन्हिलवाड़ के कुमारपाल से संघर्ष हुआ। अर्णोराज ने कुछ तुरुष्कों (अर्थात् पंजाब के मुसलमानों को, जिन्होंने उसके राज्य पर आक्रमण किया था) युद्ध में पराजित कर दिया और मार डाला।

विग्रह राज चतुर्थ—विग्रहराज चतुर्थ अथवा वीसलदेव चाहमान वंश का एक अति प्रतापी विख्यात नरेश था, जिसने चाहमानों की शक्ति को काफी बढ़ा दिया और उसे एक साम्राज्य-सत्ता के रूप में परिणत करने का प्रयास किया। सन् ११५३ ई० में विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव शाकम्भरी के राजसिंहासन पर बैठा। उसने गहड़वालों से दिल्ली छीन कर अपने राज्य में मिला लिया। उसने जाबालिपुर, नद्दूल और राजपूताना के अन्य छोटे-छोटे भू-भागों पर अपना अधिकार कर लिया। ये राज्य कुमारपाल के अधीनस्थ थे, अतएव इनको विजित कर विग्रहराज चतुर्थ ने उस पराजय का बदला लिया जो उसके पिता को चालुक्यों द्वारा सहन करनी पड़ी थी। उसने गुजरात तक अपने राज्य की सीमा बढ़ाई और जयसिंह सिद्धराज को पराजित किया। विग्रहराज चतुर्थ के लेखों से पता चलता है कि उसका राज्य उत्तर में शिवालक की पहाड़ियों तक फैला हुआ था और दक्षिण में कम से कम जयपुर के जिले को उसके राज्य की सीमा स्पर्श करती थी।

विग्रहराज चतुर्थ प्राचीन भारत के राजपूत राजाओं की पंक्ति में एक गौरवशाली स्थान का अधिकारी है। वह केवल विजेता ही न था वरन् उसका सुयश उसके एक ग्रन्थ "हरिकेलि नाटक' पर भी अवलम्बित है। वह स्वयं एक नाटककार था और विद्वानों एवं कवियों का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार में सोमदेव रहता था जिसने अपने संरक्षक के सम्मान में 'ललितविग्रहराज नाटक' का प्रणयन किया। विग्रहराज की विद्यानुरागिता भी विख्यात थी। उसने मालवा के भोज प्रथम की भांति अजमेर में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कराई थी। इस संस्कृत विद्यालय के स्थान पर आज एक मस्जिद खड़ी है जो विद्यालय की एक भव्य दीवार तुड़वाकर बनवाई गई थी। अजमेर की इस मस्जिद का नाम 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' है। इसमें जड़े कुछ पाषाण खंटों पर 'हरिकेलि नाटक' के कुछ अंश खुदे हुए दिखाई पड़ते हैं। 'ललितविग्रहराज नाटक' भी संस्कृत विद्यालय के भग्नावशेषों पर उत्कीर्ण मिला है। विग्रहराज चतुर्थ का देहान्त ११६४ ई० में हुआ।

पृथ्वीराज तृतीय—चाहमान वंश का सबसे प्रतापी राजा पृथ्वीराज तृतीय था। उत्तरी भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् के रूप में उसकी स्मृति लोक गाथाओं से समलंकृत की गई है और इसने अनेक लोक-गीतों को विषय प्रदान किया है। चन्द्रबरदाई नामक ख्यात-नामा कवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' में उसे अमर बना दिया है। उसके जीवन चरित्र से सम्बन्धित एक अन्य ग्रन्थ है जिसका नाम 'पृथ्वीराज विजय' है। मुस्लिम इतिहासकारों ने भी पृथ्वीराज तृतीय के विषय में

अपने विवरण दिये हैं। सभी साक्ष्यों को मिलाकर, जिनमें अभिलेखों का साक्ष्य भी सम्मिलित है, पृथ्वीराज तृतीय के जीवन की मूल घटनाओं का प्रमाणित और रोमांचक कल्पनाओं से रहित विवरण दिया जा सकता है।

पृथ्वीराज तृतीय एक महान् विजेता और रणबाँकुरा सेनानायक था। उसने परमाल नामक चन्देल राजा को पराजित किया और उससे ११८२ ई० में उसकी राजधानी महोबा छीन ली। सन् ११८७ ई० में उसने गुजरात पर आक्रमण किया परन्तु उसे वहाँ विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी और चालुक्य भीम द्वितीय के साथ उसने संधि सम्बन्ध स्थापित कर लिया। पृथ्वीराज तृतीय की गहड़वाल नरेश जयचन्द्र के साथ शत्रुता थी, यह हम पीछे कह चुके हैं।

पृथ्वीराज का यश मुख्यतः इस बात पर अवलम्बित है कि उसने मुस्लिम आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया, यद्यपि देश में राष्ट्रीयता की भावना के अभाव और अपनी अदूरदर्शिता के कारण वह दुबारा इस आक्रमण के सामने न ठहर सका। मुहम्मद गोरी ने पंजाब को विजित कर लेने के उपरान्त पृथ्वीराज चौहान के पास यह सन्देश भिजवाया कि वह चौहान राजा के साथ मित्रता करना चाहता है। परन्तु पृथ्वीराज ने, जो इस समय यौवन की स्फूर्ति और साहसिकता से उद्वेलित हो रहा था, न केवल गोरी के प्रस्ताव को घृणापूर्वक ठुकरा दिया वरन् वह मुहम्मद गोरी से मोर्चा लेने के लिए आगे बढ़ा। परन्तु अपने वृद्ध मन्त्री के परामर्श को मान कर यह चुपचाप गोरी के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। जब मुहम्मद गोरी, पृथ्वीराज के राज्य की सीमा में प्रविष्ट होकर उसकी प्रजा को संत्रस्त और उत्पीड़ित करने लगा तो चाहमान-राजा एक विशाल सेना लेकर उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा। तराइन के मैदान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई और एक भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध में मुसलमानों के छक्के छुट गये और वे भाग खड़े हुए। गोरी बड़ी कठिनाई से अपने कुछ विश्वासपात्र सरदारों के साथ प्राण लेकर रणक्षेत्र से भाग निकला। "बुझते हुए प्रदीप की अन्तिम प्रभापूर्ण शिखा की भाँति हिन्दुओं की यह अन्तिम महान् सैनिक सफलता थी।"

परन्तु इस गहरी पराजय से गोरी तनिक भी हतोत्साह नहीं हुआ वरन् अपनी इस अपमानजनक पराजय का बदला लेने के लिए वह दिन-रात बेचैन रहने लगा। मध्य-एशिया के पहाड़ी लड़ाकुओं की एक विशाल सेना एकत्र कर गोरी ने पुनः अगले ही वर्ष पृथ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज ने इस आक्रमण की कल्पना तक न की थी। इस आकस्मिक और अप्रत्याशित विपत्ति से वह घबरा-सा गया, किन्तु साहस बटोर कर उसने पड़ोस के राजाओं से सहायता के लिए आमंत्रित किया। फिरिश्ता नामक मुस्लिम इतिहासकार का कथन है कि पड़ोसी राजाओं ने उसकी सहायता की भी। किन्तु तब भी आकस्मिक विपत्ति के सामने पृथ्वीराज और उसके साथी अधिक समय तक टिक न सके। राजपूत सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया परन्तु अन्त में उनको पराजय ही सहन करनी पड़ी। इस युद्ध में अनेक वीर राजपूत सरदार खेत रहे। स्वयं पृथ्वीराज भी बन्दी बना लिया गया और उसे तलवार के घाट उतार दिया गया। शाकम्भरी और अजमेर के राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार कर लिया।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद मुहम्मद गोरी ने उसके पुत्र को अजमेर के सिंहासन पर बैठा दिया और उसे वार्षिक कर भेजने के लिए विवश किया। परन्तु कुछ ही समय के बाद अपने चाचा के कारण उसे अजमेर छोड़कर रणथम्भौर चला जाना पड़ा। पृथ्वीराज के पुत्र ने रणथम्भौर में एक नये राजकुल की स्थापना की, जिसका अन्त

अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १३०१ में किया। इधर कुतुबुद्दीन ने हरिराज को पराजित कर चौहान वंश का अन्त कर दिया।

बुन्देलखण्ड के चन्देल

प्रतीहार साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जो राज्य उठ खड़े हुए उनमें जैजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देलों का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था।

नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नन्नुक ने छतरपुर के निकट अपना एक राज्य स्थापित कर लिया। नन्नुक के पौत्र जयशक्ति (जेजा या जेजाक) और विजयशक्ति (विजा या विज्जक) थे। जयशक्ति के ही नाम के आधार पर चन्देल राज्य का नाम जैजाकभुक्ति पड़ा। इस वंश का प्रथम राजकुमार, जिसने वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त की, हर्ष था। इसने महिपाल को ९१६ में राष्ट्रकूट आक्रमण के उपरान्त कन्नौज पर फिर से अधिकार करने में सहायता प्रदान की। उसने महीपाल प्रथम या क्षितिपाल का उसके गृह-कलह में भी साथ दिया और उसके सौतेले भाई भोजराज द्वितीय को सिंहासनच्युत कर दिया। हर्ष के समय में चन्देलों की शक्ति जमुना तक फैल गई जो उनके और कन्नौज राज्य के बीच की सीमा बन गई। हर्ष ने चाहमन वंश की एक कन्या के साथ अपना विवाह किया था। उसकी ही चन्देलों की शक्ति और महानता का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है।

यशोवर्मन—हर्ष का पुत्र यशोवर्मन था, जिसने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने गुर्जरों को काफी क्षति पहुँचाई। वह एक महत्वाकांक्षी नरेश था। उसने प्रतीहार साम्राज्य की गिरती हुई अवस्था में जो उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया वह चेदियों के विरुद्ध आक्रमण करने में बड़ा भाग्यवान प्रमाणित हुआ इसी आक्रमण के फलस्वरूप उसे कालिंजर का प्रसिद्ध गढ़ प्राप्त हुआ। यशोवर्मन ने उत्तर में यमुना तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके बाद उसने अपना विजय-अभियान आरम्भ किया और अभिलेखों के अनुसार उसने गौड़ों, कोशलों, काश्मीरियों मैथिलों, मालवों, चेदियों और गुर्जरों को परास्त किया। यशोवर्मन ने खजुराहों के एक प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया और इसमें विष्णु भगवान की उस प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराया जो उसने देवपाल से प्राप्त की थी। यशोवर्मन की मृत्यु के उपरान्त धंग राजा हुआ।

धंग—दसवीं शताब्दी के अन्त में धंग उत्तर भारत का सबसे प्रतापी और शक्तिशाली नरेश हो गया। हमने पीछे यह देखा था कि यशोवर्मन के शासन-काल तक चन्देल प्रतीहार शक्ति की अधीनिता स्वीकार करते थे। धंग ने अधीनिता के इस छद्मवेश को भी उतार फेंका और अपनी पूर्ण स्वाधीनता घोषित कर दी। उसके शासन-काल में चन्देलों की शक्ति का बड़ी तेजी से विकास हुआ। सन् ९५४ ई० तक उसका राज्य उत्तर में यमुना तक, उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर तक, दक्षिण पश्चिम में भिलसा तक फैल गया। ग्वालियर और कालिंजर उसके हाथ में आ जाने से मध्य भारत में उसकी शक्ति काफी सुदृढ़ हो गई। उसने सम्भवतः इलाहाबाद पर भी अपना अधिकार जमाया। अपने पचास वर्ष के सुदीर्घकाल के शासन में उसने प्रतीहार साम्राज्य के भूभागों को विजित करना आरम्भ किया और यमुना के उत्तर में दूर तक और पूर्व में बनारस तक अपना राज्य बढ़ा लिया। खजुराहो में उसने दो मन्दिरों का निर्माण कराया जिनका नाम मार्कटेश्वर और प्रमथनाथ पड़ा। एक विद्वान् का कथन है कि खजुराहो के

सुन्दरतम मन्दिरों का निर्माता धंग ही था। सौ वर्ष की लम्बी आयु में धंग का देहावसान प्रयाग में हुआ।

विद्याधर—धंग के उपरान्त उसका पुत्र गण्ड चन्देल राज्य का स्वामी हुआ। उसने भी अपने पिता की भांति महमूद गजनवी के विरुद्ध संगठित किये गये हिन्दू राजाओं के संघ में भाग लिया था। आनन्दपाल जयपाल के पुत्र के अनुरोध पर महमूद के आक्रमणों का सामना करने के लिए हिन्दू राजाओं ने अपना एक संघ बनाया था, परन्तु यह संघ भी महमूद के प्रमाद को रोकने में सफल न हो सका। उसके बाद विद्याधर जेजाकभुक्ति राज्य का अधिकारी हुआ। विद्याधर ने महमूद के प्रति आत्म-समर्पण करने के कारण राज्यपाल प्रतिहार को घोर दण्ड दिया और कन्नौज के साम्राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया। परमार नरेश भोज प्रथम और कलचुरि राजा कोक्कल द्वितीय के साथ विद्याधर की शत्रुता थी, परन्तु उसके सामने इन राजाओं की शक्ति तुच्छ थी। उसका प्रभाव चम्बल से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ था। अतएव मुस्लिम लेखकों ने उसे "अपने समय का सबसे प्रभावशाली राजकुमार" कहा है। जब १०२१ ई० में गजनी के महमूद ने भारत पर आक्रमण किया और जब वह विद्याधर के सामने आया तो कुछ लेखकों के अनुसार विद्याधर रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। महमूद ने दो बार चन्देलों पर आक्रमण किए परन्तु लम्बे घेरे के बाद भी उसके दुर्गों पर अधिकार न कर सकने के कारण उसे वापस लौट जाना पड़ा।

चेदि नरेश गांगेय के उत्थान ने चन्देलों की शक्ति के विकास में बाधा पहुँचाई, उसके पुत्र लक्ष्मीकर्ण कलचुरि की शक्ति ने भी चन्देलों की शक्ति को पर्याप्त हानि पहुँचाई। गन्ड के पौत्र विजयपाल को विवश होकर बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी और उसके पुत्र देववर्मन को गांगेय पुत्र कर्ण ने सिंहासनच्युत कर दिया। कर्ण ने भी कीर्तिवर्मन को अपनी सेना में नौकरी करने के लिए बाध्य किया। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कीर्तिवर्मन ने ब्राह्मण योद्धा गोपाल की सहायता से अपने वंश की लुप्तप्राय शक्ति और मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित किया।

उसके बाद चन्देल वंश में मदनवर्मन नामक उल्लेखनीय नरेश हुआ। मदन वर्मन ने ११२९ ई० से लेकर ११६३ ई० तक शासन किया। इसके अभिलेखों से पता चलता है कि खजुराहो, कालिंजर, महोबा और अजयगढ़ पर उसका अधिकार था। उसने मालवा, गुजरात और चेदि इत्यादि राज्यों से संघर्ष किया परन्तु गहड़वालों के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। उसके राज्य की सीमायें बेतवा और यमुना नदियों द्वारा निर्मित होती थीं। लगभग सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड, बुन्देलखण्ड का उत्तरी भाग और दक्षिण में जबलपुर के पड़ोस का प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित थे।

महेन्द्रवर्मन के बाद उसका पौत्र परमार्दिदेव चन्देल राज्य का अधिपति बना। उसका प्रारम्भिक सैन्य जीवन बड़ा सफल रहा और उसने चालुक्यों से भिलसा प्रदेश छीन लिया। परन्तु उसे चाहमान नरेश पृथ्वीराज तृतीय के द्वारा पराजय सहन करनी पड़ी। उससे उसकी शक्ति बिल्कुल टूट गई। कुतुबद्दीन ऐ क ने १२०२ में कालिंजर पर घेरा डालकर इसे अपने अधिकार में कर लिया और दूसरे वर्ष महोबा पर भी अधिकार हो गया। किन्तु त्रैलोक्यवर्मन (१२०२-१२४१) ने १२०५ में कालिंजर पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया और पुनः अपने वंश को स्थापित किया जिससे कालिंजर पर चन्देलों का अधिकार बना रहा। रानी दुर्गावती जिसने

अकबर से युद्ध किया था, एक चन्देल राजकुमारी ही थी। कालिंजर के दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार १५६९ ई० में जाकर हो पाया।

मालवा के परमार

परमार वंश की स्थापना उपेन्द्र अथवा कृष्णराजा ने दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में की थी। पहले परमार लोग दक्कन के राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। आबू पर्वत के निकट उपेन्द्र रहता था। उसे राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय ने मालवा का शासक नियुक्त कर दिया। उपेन्द्र के बाद उसके दो वंशजों ने राष्ट्रकूट के माण्डलिक नृपतियों के रूप में मालवा पर शासन किया और वे अपने स्वामी (राष्ट्रकूट सम्राट) के प्रति वफादार बने रहे। चौथे परमार सामन्त वाक्पति प्रथम ने अपने वंश की स्थिति का उन्नयन किया।

वाक्पति मुञ्ज—वाक्पति मुञ्ज ने मालवा के परमारों की शक्ति का वास्तविक रूप में विकास किया। अपने समय का वह एक महान् योद्धा और अपने कुल का सब से शक्तिशाली नरेश था। उसका सम्पूर्ण जीवन युद्धों और विजयों में व्यतीत हुआ। 'उत्पल राज,' 'अमोघवर्ष,' 'श्रीवल्लभ,' 'पृथ्वी वल्लभ', आदि विरुद उसने धारण किये। उदयपुर के अभिलेख में वाक्पति मुञ्ज की विजयों की एक पूरी सूची दी गई है। सबसे पहले त्रिपुरी के राजा युवराज द्वितीय को पराजित किया। इसके बाद उसने लाट (गुजरात), कर्नाटक, चोल और केरल के राजाओं को युद्ध में परास्त किया। उसने उन हूणों पर जो मालवा के उत्तर-पश्चिम में हूणमण्डल नामक एक छोटे से प्रदेश पर शासन कर रहे थे, भी विजय प्राप्त की। हूणमण्डल नामक यह लघु-प्रदेश तोरमाण और मिहिरकुल के विशाल साम्राज्य का अन्तिम अवशेष था। मुञ्ज ने नदूदूल के चाह-मानों पर आक्रमण किया और उनसे आबू पर्वत और आधुनिक जयपुर राज्य के दक्षिण के अनेक राज्यों को छीन लिया। उसने अन्हिलपाटन में चालुक्य वंश के संस्थापक मूलराज को भी हराया।

अपने पड़ोस के राज्यों को जीत लेने के उपरान्त मुञ्ज ने चालुक्य नरेश तैल द्वितीय पर आक्रमण करने का विचार किया। मुञ्ज ने तैल द्वितीय की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए उस पर छः बार आक्रमण किये, परन्तु जब उसने, सातवीं बार अपने अनुभवी मंत्री की चेतावनी को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए, गोदावरी पार किया तो वह बन्दी बना लिया गया। उसे कारावास में डाल दिया गया। मुञ्ज ने बाहर आने की योजनाएँ बना रक्खी थीं, किन्तु उसकी योजनाओं की सूचना उसके शत्रु को मिल गई जिससे उसका वध करा दिया गया। इस प्रकार राज्यारोहण के बीस वर्ष पश्चात् सन् ९९५ ई० में मुञ्ज को अपना दुःखद अन्त देखना पड़ा।

राजपूत युग के हिन्दू शासकों में मुञ्ज अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। मुञ्ज स्वयं कवि था और उसके द्वारा रचित पद्यों का संकलन काव्य-संग्रहों में मिलता है। कला और साहित्य का वह महान् संरक्षक और पोषक था। धनंजय, हलायुध, धनिक और पद्मगुप्त नामक कवि उसकी राजसभा को सुशोभित करते थे। पद्मगुप्त 'नवसाह-सांकचरित, और 'हलायुध अभिधानरत्न, माला' तथा 'मृतसंजीवनी' के रचयिता थे। मुञ्ज के लिए यह भी कहा जाता है कि वह एक उदार शासक था। उसने अनेक बड़े-बड़े जलाशय खुदवाये और कई मंदिरों का निर्माण कराया।

मुञ्ज के पश्चात् उसका भाई सिन्धुराज मालवा के राजसिंहासन पर बैठा। उसने चालुक्य राजा को परास्त कर अपने खोये हुए राज्यों को फिर से अधिकार में कर

लिया। कहते हैं कि उसने हूणों और लाटों के विरुद्ध युद्ध किया। सिन्धुल अथवा सिन्धुराज का शासन अत्यन्त स्वल्प काल तक ही रहा।

भोज--भोज का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है। भारत के सबसे विख्यात और लोकप्रिय शासकों में भोज की गणना की जाती है। उसका शासन-काल अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा। भोज अपने समय का एक पराक्रमी योद्धा था किन्तु अपनी सैनिक सफलताओं के द्वारा वह अपने राज्य की सीमा का विस्तार अधिक न कर सका। हाँ, यह अवश्य है कि भोज के सैनिक-कार्यों ने समकालीन नरेशों के बीच उसकी ख्याति जमा दी। भोज ने कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय को परास्त करके मुञ्ज की हार का बदला लिया। भोज ने कलिंग के गणों के एक सामन्त इन्द्ररथ और उत्तरी कोंकण के शासकों को हराया। गांगेयदेव और राजेन्द्र चोल से उसने मित्रता स्थापित की, जिससे वह अपने चिर शत्रु दक्कन के चालुक्य से लोहा ले सके। भोज ने गुजरात के भीम प्रथम तथा लाट के कीर्तिराज को परास्त किया। कहते हैं कि उसने एक बार मुस्लिम सेना के विरुद्ध भी युद्ध किया और हूणों के ऊपर उसके द्वारा आक्रमण किये जाने का उल्लेख मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में भोज की विजयों का अतिरञ्जनपूर्ण वर्णन है और उसे कैलास तथा मलय की भूमि का विजेता कहा गया है। निस्सन्देह यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथ्य से दूर है। वास्तव में भोज को युद्धों में जितनी विजयें प्राप्त हुईं लगभग इतनी ही पराजयों को भी उसने सहन किया।

भोज की ख्याति उसके युद्धों के कारण नहीं वरन् उसके विद्यानुराग, उसके प्रकाण्ड पांडित्य, विद्या और साहित्य के सम्वर्द्धन में उसके योगदान एवं लोक कल्याण के लिए किए गए कार्यों से है जो आज भी उसकी कीर्त्तिलता को मुरझाने नहीं दे रहे हैं। भोज को इतने अधिक और विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचयिता बताया गया है कि उनको भोज द्वारा प्रणीत मानने में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, कोष, वास्तु, अलंकार आदि विषयों पर उसके ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। कुछ ग्रन्थों के, जो भोजरचित बताये गये हैं, नाम इस प्रकार हैं—'आयुर्वेदसर्वस्व, 'राजमृगांक,' 'व्यवहार समुच्चय,' 'शब्दानुशासन,' 'समरांगण-सूत्रधार,' 'सरस्वती-कन्ठाभरण,' 'नाम मालिका,' 'युक्ति-कल्पतरु' इत्यादि। सम्भव है कि इन समस्त ग्रन्थों की रचना भोज ने न की हो, परन्तु इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि वह एक महान् और विख्यात लेखक था। भोज ने 'रामायण चम्पू' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गद्य और पद्य दोनों की शैलियाँ विद्यमान हैं। 'सरस्वती-कन्ठाभरण' और 'श्रृंगार-प्रकाश' नामक ग्रन्थ काव्य-शास्त्र के हैं। विद्वानों के बीच इन ग्रन्थों का अधिक समादर होता है। भोज विद्या का महान् प्रोत्साहक और संरक्षक था। उसने धारा में संस्कृत का एक महाविद्यालय बनवाया जहाँ दूर-दूर के विद्यार्थी अपनी बौद्धिक पिपासा शान्त करते थे। इसकी दीवालों पर बहुमूल्य रचनाओं पर अभिलिखित अनेक प्रस्तर-खण्डं उपलब्ध हुए हैं। इस विद्यालय की इमारत को अब भी भोजशाला कहते हैं। मालवा के नवाबों ने इसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी। भोज की राज सभा में अनेक विद्वान् रहा करते थे। उसकी राजसभा के विद्वानों में धर्मपाल और उसके भाई शोभन का नाम अधिक उल्लेखनीय है। सम्भवतः सीता नाम की कवियित्री को भी राजा भोज का संरक्षण प्राप्त था।

भोज के लोक सम्बन्धी कार्य—अपने राज्य भर में मन्दिरों का निर्माण करा के उसने अपनी धर्मानुरागी प्रजा की प्रशंसा अर्जित की और राज्य को सजाया। उसने भोजपुर नामक नगर बसाया और इसके निकट एक बड़ी झील खुदवाई।

भोज ने संस्कृत विद्यालय सरस्वती मन्दिर के निकट बनवाया था। इस मन्दिर के लिए सरस्वती की जो मूर्ति बनवाई गई थी वह आज भी देखी जा सकती है। यह मूर्ति ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खी हुई है। इसकी सुन्दरता और कलात्मकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

भोज के उत्तराधिकारी—भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह एक ऐसे समय में मालवा के परमार राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ जिस समय राज्य को चालुक्य और कलचुरि घेरे हुए थे। ऐसी कठिन परिस्थिति में जयसिंह ने अपने दक्षिणी पड़ोसियों दक्कन के चालुक्यों से सहायता की याचना की। दक्कन के चालुक्यों ने अपना पुराना वैर भुलाकर सिद्धराज की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और राजकुमार विक्रमादित्य ने मालवा को उसके शत्रुओं से मुक्त कर दिया। उदयादित्य ने, जो सम्भवतः भोज का भाई था, सिंहासन पर अनुचित तरीकों से अपना अधिकार जमा लिया। उसने मालवा की गिरती शक्ति को सँभालने का प्रयत्न किया। उसने उदयपुर में नील कन्ठेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया जो अब भी अच्छी स्थिति में विद्यमान है और उस युग के उत्तर भारत की वास्तुकला का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करता है। इन्दौर के एक गाँव में बहुत से जैन और हिन्दू मन्दिर हैं जिनमें से अधिकांश का निर्माण सम्भवतः उदयादित्य ने कराया था।

उदयादित्य के उपरान्त लक्ष्मणदेव मालवा राज्य का स्वामी हुआ। उसने यशकर्ण कलचुरी और कदाचित् चोलों तथा गजनी के महमूद वंशजों पर विजय प्राप्त की। नर वर्मन और यशोवर्मन लक्ष्मणदेव के बाद मालवा के उत्तराधिकारी हुए, जिनकी ज्ञात तिथि क्रमशः १०९७-११११ और ११३४-११४२ है। इस काल में मालवा के ऊपर सोलंकियों ने अपना अधिकार जमा लिया और ११३७ से लेकर ११७३ तक उस पर उनका अधिकार रहा। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद परमारों का राज्य उसके उत्तराधिकारियों के बीच विभाजित कर दिया गया। कुमार पाल के पश्चात् सोलंकी नरेश मुसीबत में पड़ गये जिससे मालवा के परमारों को अपनी शक्ति सँभालने का अवसर प्राप्त हो गया। विन्ध्यवर्मन ने ११९२ में धर को अपने अधिकार में कर लिया और उसके उत्तराधिकारी सुमत वर्मन ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया।

अर्जुनवर्मन के समय में मालवा का प्राचीन वैभव कुछ अंशों में लौट आया। अर्जुनवर्मन ने स्वयं 'अमरू शतक' पर एक टीका लिखी और उसके शासन-काल में 'पारिजात मंजरी' नामक नाटक लिखा गया, जो अपने पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं है परन्तु यह पाषाण-स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया गया था, अतएव इसके कुछ अंश अब भी मिलते हैं। अर्जुनवर्मन की मृत्यु के पश्चात् परमारों की शक्ति धीरे-धीरे गिरने लगी। सन् १२९२ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को खूब लूटा। इसके बाद मालवा की हिन्दू-सत्ता का नाश हो गया।

अन्हिलवाड़ के सोलंकी

गुजरात में अन्हिणवाड़ (पाटन) नामक स्थान पर पहले प्रतीहार साम्राज्य का अधिकार था परन्तु राजनीतिक प्रभुता के लिए राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों में जो पारस्परिक संघर्ष हुआ उससे लाभ उठाकर मूलराज प्रथम दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और अन्हिलवाड़ को अपनी राजधानी बनाया।

मूलराज सोलंकी—मूलराज सोलंकी ने अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर लेने के बाद इसकी सीमाओं के विस्तार का भी प्रयत्न किया। उसने शीघ्र ही कच्छ देश और सुराष्ट्र के पूर्वीय भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उसे अपने प्रबल पड़ोसियों का भी सामना करना पड़ा। मूलराज की मृत्यु रणस्थल में विग्रहराज द्वितीय के हाथों हुई। मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने धारा नगरी के परमार नरेश सिन्धुराज को पराजित किया। चामुण्डराज का पौत्र भीमदेव प्रथम (१०२२) सोलंकी राजकुल का एक विख्यात नरेश था।

भीमदेव प्रथम—भीमदेव प्रथम के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में महमूद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था। भीम ने उसके आक्रमण का मुकाबिला करने का निश्चय किया परन्तु एकाएक उसके ऊपर मुस्लिम आक्रमणकारियों का आतंक छा गया और वह रणभूमि छोड़कर भाग गया। महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को खूब लूटा-खसोटा और अतुल संपत्ति लादकर अपने देश ले गया। महमूद द्वारा सोमनाथ के मन्दिर को तुड़वा दिये जाने पर भीमदेव ने उसका पुर्ननिर्माण कराया। महमूद के लौट जाने पर भीमदेव ने फिर से अपनी शक्ति का संगठन किया। पहले उसने आबू के परमार राजा को हराया। भीमदेव के उपरान्त कर्णदेव अन्हिलवाड़ के राजसिंहासन पर समासीन हुआ। कर्ण ने १०६४ से लेकर १०९४ तक शासन किया। कर्ण का शासन-काल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए विख्यात है। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। उसके समय में उसके ही नाम से एक नगर की स्थापना की गई। उसने कवि बिल्हटा को राजाश्रय प्रदान किया। कर्ण को परमार राजा उदयादित्य ने युद्ध में पराजित किया।

जयसिंह सिद्ध राज—कर्ण का पुत्र जयसिंह सिद्धराज अपने वंश का प्रतापी और विख्यात राजा था। उसने अपनी रणवाहिनी को चारों दिशाओं में घुमाया और लगभग सर्वत्र विजय पाई। अपनी विजयों से उसने अपने पड़ोसियों को आतंकित कर दिया। उसने सुराष्ट्र के आभीर सरदार को युद्ध में पराजित करके उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। जयसिंह ने बारह वर्षों तक मालवा से युद्ध किया और नरवर्मन तथा यशोवर्मन दोनों को सिंहासनाच्युत करके उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। नदूदूल और शाकम्भरी दोनों स्थानों के चाहमान नरेशों ने उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया और वे उसके सामन्त के रूप में अपने राज्य का शासन करते रहे। जयसिंह ने यशःकर्ण कलचुरि और गोविन्दचन्द्र गहड़वाल से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। उसने चन्देल राज्य पर भी आक्रमण किया और कालिंजर तथा महोबा तक आगे बढ़ गया। चन्देल नरेश मदनवर्मन को विवश होकर जयसिंह के साथ सन्धि करनी पड़ी और इस सन्धि के फलस्वरूप उसने सोलंकी राज्य को भिलसा का प्रदेश दिया। जयसिंह ने चालुक्य नृपति विक्रमादित्य षष्ठ पर भी विजय प्राप्त की। कहा जाता है कि सिन्ध के अरबों के विरुद्ध युद्ध में भी जयसिंह को सफलता प्राप्त हुई थी। उसके अभिलेख के प्राप्ति-स्थानों से विदित होता है कि गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा और दक्षिणी राजपूताना उसके राज्य में सम्मिलित थे। जयसिंह ने १११३-१४ ई० में एक नया सम्वत् चलाया।

यद्यपि सोलंकी नरेश जयसिंह का भी समय राजा भोज की भाँति अधिकतर युद्ध में व्यतीत हुआ तथापि भोज की ही तरह इसने भी विद्या को प्रश्रय प्रदान किया। ज्योतिष, न्याय और पुराण के अध्ययन के लिए जयसिंह ने शिक्षण-संस्थाएँ खुलवाईं। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध जैन लेखक महापण्डित हेमचन्द्र रहते थे। जयसिंह ने अपने

राज्य में मन्दिरों का निर्माण कराया। स्वयं शैव होते हुए भी उसने जैन पण्डित हेमचन्द्र को अपनी राजसभा में स्थान दिया। जयसिंह ने 'अवन्तिनाथ' और 'राजसिद्ध' के विरुद धारण किए।

कुमारपाल—जयसिंह के उपरान्त उसके दूर के एक सम्बन्धी कुमारपाल ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया, क्योंकि जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। कुमारपाल ने शाकम्भरी के चाहमानों को पराजित किया और आबू के परमारों को दबाया। कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को भी उसने हराया था। कुमारपाल जैन धर्म के इतिहास में काफी प्रसिद्ध है। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के सशक्त धर्मनिरूपण से प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैन मत ग्रहण कर लिया। उसने अपने राज्य भर में अहिंसा के सिद्धान्तों के परिपालन के लिए कठोर आज्ञाएँ निकलवा दीं। जैन धर्म का अनुयायी होने पर भी कुमारपाल ने अपने पूर्वजों की शिवोपासना सम्बन्धिनी मनोवृत्ति का त्याग नहीं किया। इसने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया।

भीमसेन द्वितीय—कुमारपाल के बाद गुजरात का शासक अजयपाल हुआ जिसने अपने राज्य में जैन मत के विरुद्ध एक प्रतिक्रियात्मक नीति का प्रचार किया। उसने जैन मन्दिरों को विध्वंस कराना शुरू किया। कहा जाता है कि उसने महापंडित हेमचन्द्र के प्रिय शिष्य और प्रसिद्ध लेखक रामचन्द्र का वध करा दिया था। उसके राज्य के एक अफसर ने उसकी हत्या कर दी। अजयपाल के पश्चात् मूलराज द्वितीय ने कुछ समय तक शासन किया। उसके बाद भीमदेव द्वितीय राजा हुआ जिसने अपने राज्यारोहण के वर्ष ही गोर के मुहम्मद को युद्ध में हराया। सन् ११९५ में भीमदेव द्वितीय ने कुतुबुद्दीन से युद्ध किया और उसे इतनी गहरी पराजय दी कि मुस्लिम सेनानायक को अजमेर तक ढकेल दिया। परन्तु दूसरे वर्ष (११९७ ई०) में अन्हिलवाड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। किन्तु कुतुबुद्दीन का गुजरात पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं स्थापित हो सका।

भीमदेव द्वितीय ने एक लम्बे समय साठ वर्षों तक शासन किया। उसके समय में मुसलमानों के जो आक्रमण हुए उससे उसके राज्य की स्थिति काफी डावाँडोल हो गई और प्रान्तीय शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का अवसर ताकना आरम्भ किया। किसी प्रकार अन्हिलवाड़ अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता हुआ अलाउद्दीन खिलजी के पूर्व तक बना रहा।

त्रिपुरी के कलचुरि

कलचुरि वंश का संस्थापक तथा प्रथम ऐतिहासिक शासक कोक्कल प्रथम (८७५-९२५) था, जिसने राष्ट्रकूटों और चन्देलों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किये।

कोक्कल ने अपने विजयों के द्वारा जिस राज की स्थापना की उसमें उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद विघटन के तत्व उत्पन्न हो गये। जिससे कलचुरियों की शक्ति क्षीण होने लगी। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में गांगेयदेव की अधीनता में कलचुरियों को भारत की सबसे महान् राजनीतिक शक्ति होने का गौरव प्राप्त हो गया।

गांगेयदेव—गांगेयदेव ने कीर देश अथवा काँगड़ा घाटी तक उत्तर भारत में आक्रमण किये, पूर्व में बनारस तथा प्रयाग तक अपने राज्य की सीमा को बढ़ाया। प्रयाग और वाराणसी से और आगे वह पूर्व में बढ़ा। अपनी सेना लेकर वह सफलता-

पूर्वक पूर्वी समुद्रतट तक पहुँच गया और उसने उड़ीसा को विजित किया। अपनी इन विजयों के कारण उसने 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया। उसने पालों के बल की अवहेलना करते हुए अंग पर आक्रमण किया। गांगेयदेव की मृत्यु प्रयाग में हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसकी सौ पत्नियाँ उसके साथ चिता में जल कर भस्म हो गईं।

लक्ष्मी कर्ण—गांगेयदेव के उपरान्त उसका प्रतापी पुत्र लक्ष्मी कर्ण अथवा कर्णराज सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता की भाँति एक वीर सैनिक और 'सहस्रों युद्धों का विजेता' था। उसने काफी विस्तृत और महत्वपूर्ण विजयों द्वारा कलचुरी शक्ति का विकास किया। कल्याणी और अन्हिलवाड़ के शासकों से सहायता प्राप्त कर कर्ण ने परमार राजा भोज को परास्त किया। उसने चन्देलों और पालों पर विजय प्राप्त की। उसके अभिलेख बंगाल और उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन भागों पर उसका अधिकार था। कर्ण का राज्य गुजरात से लेकर बंगाल और गंगा से महानदी तक फैला हुआ था।

कर्ण अपनी विजय-वाहिनी को पूर्वी समुद्र तट की सैर कराता हुआ कांची तक पहुँच गया जिस पर उस समय चोलों का राज्य था। कहा जाता है कि कर्ण ने दक्षिण में पल्लवों, शुंगों, मुरलों और सुदूर दक्षिण के पाण्ड्यों को पराजित किया। यह सम्भव है कि दक्षिण की इन जातियों ने चोलों की सहायता की हो और उसने इन सबकी सामूहिक शक्ति को मात दिया हो। कर्ण की इन विजयों के कारण उसे 'भारतीय इतिहास के सबसे महान् विजेताओं में से एक' कहा गया है। उसकी तुलना प्रसिद्ध विजेता नेपोलियन के साथ की गई है। परन्तु यह भूलना न चाहिए कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कर्ण को कई पराजयें सहनी पड़ी थीं। पालों, चन्देलों का कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ सका। उसकी विजयों ने उसके गौरव को तो बढ़ाया किन्तु उसकी राज्य सीमा में कोई विस्तार नहीं किया। १०७२ ई० में कर्ण ने अपने पुत्र के लिए सिंहासन त्याग दिया।

यशःकर्ण—सन् १०७३ के लगभग यशःकर्ण त्रिपुरी के सिंहासन पर बैठा। उसने वेंगीराज्य और उत्तरी बिहार तक धावे बोले। उसके पिता के अन्तिम दिनों में उसके राज्य की स्थिति काफी डावाँडोल हो गई थी और इसी डावाँडोल स्थिति में उसने राजसिंहासन पर पैर धरा था। परन्तु अपने राज्य की इस विषम स्थिति का विचार न करते हुए यशःकर्ण ने अपने पिता और पितामह की भाँति सैन्य विजय का क्रम जारी रक्खा। पहले तो उसे कुछ सफलता मिली लेकिन शीघ्र ही उसका राज्य स्वयं आक्रमणों का केन्द्रबिन्दु बन गया। इन सब पराजयों ने उसकी शक्ति को झकझोर दिया। उसके हाथ से प्रयाग और वाराणसी के नगर निकल गये और उसके वंश का गौरव श्रीहत हो गया।

यशःकर्ण के उत्तराधिकारी और कलचुरि वंश का पतन—यशःकर्ण के उपरान्त उसका पुत्र गयाकर्ण सिंहासनारूढ़ हुआ। किन्तु अपने पिता के शासनकाल में आरम्भ होने वाली अपने वंश की राजनीतिक अवनति को वह रोक सका। गयाकर्ण का द्वितीय पुत्र जयसिंह कुछ प्रतापी था। उसने कुछ अंश तक अपने वंश के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने में सफलता प्राप्त की। उसने सोलंकी-नरेश कुमारपाल को पराजित किया। जयसिंह की मृत्यु ११७५ और ११८० के मध्य किसी समय हुई। उसका पुत्र विजयसिंह कालकल प्रथम के वंश का अंतिम नरेश था जिसने त्रिपुरी पर राज्य किया। विजय सिंह को ११९६ और १२०० के बीच में जैतुगि प्रथम ने, जो देवगिरि के

यादव वंश का नरेश था, मार डाला और त्रिपुरी के कलचुरि वंश का उन्मूलन कर दिया।

बंगाल के पाल

बंगाल का प्रान्त मगध राज्य में सम्मिलित था। नन्दों के समय में भी बंगाल मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। मगध के राजसिंहासन पर बैठने वाला सम्राट् बंगाल का भी स्वामी होता था। छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गौड़ अथवा बंगाल स्वतन्त्र हो गया और गुप्त-शक्ति काफी बढ़ गई। परन्तु शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल की राजनीतिक एकता और सार्वभौमिकता विनष्ट हो गई। अब सम्राट हर्षवर्द्धन और कामरूपाधिपति भास्करवर्मन दोनों को अवसर प्राप्त हो गया और उन्होंने बंगाल पर आक्रमण करके इसको सम्भवतः दो भागों में विभक्त कर दिया, जिनको उन्होंने आपस में बाँट लिया। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शैल वंश के एक राजा ने पौन्ड्र पर अधिकार कर लिया। काश्मीर-नरेश ललितादित्य युक्तापीड और कन्नौज-नरेश यशोवर्मन ने भी बंगाल पर आक्रमण किया था। कामरूप-नरेश हर्ष देव ने अवसर पाकर बंगाल को विजित कर लिया। एक दृढ़ शासन-शक्ति के अभाव में बंगाल अव्यवस्था और अराजकता का केन्द्र हो गया। आक्रमणों के ताँते ने बंगाल में चारों ओर अशान्ति एवं गड़बड़ी फैला दी, जिससे ऊब कर सारे सरदारों और जनता ने मिलकर गोपाल नामक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया। गोपाल को सम्पूर्ण बंगाल का शासक स्वीकार कर लिया गया।

गोपाल—आठवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में गोपाल ने बंगाल का शासन सँभाला। गोपाल ने बंगाल में हिमालय से लेकर समुद्र तट तक सम्पूर्ण राज्य को सुसंगठित किया और विगत डेढ़ शताब्दियों की अराजकता और अव्यवस्था का अन्त करके समस्त बंगाल में शान्ति स्थापित की। उसने नालन्दा के निकट ओदन्तपुरी नामक स्थान पर एक विश्वविद्यालय की स्थापना कराई। गोपाल ने अपनी मृत्यु के समय अपने उत्तराधिकारी के लिए एक समृद्ध और सुशासित राज्य छोड़ा। उसके उत्तराधिकारियों ने बंगाल को राजनीतिक उत्कर्ष और सांस्कृतिक गौरव की उस पराकाष्ठा पर पहुँचाया जिसकी उसने पहले कभी स्वप्न में भी कल्पना न की थी। गोपाल के बाद धर्मपाल बंगाल का राजा हुआ।

धर्मपाल—धर्मपाल अपने वंश की वास्तविक महत्ता का संस्थापक था। धर्मपाल एक सुयोग्य और कर्मठ शासक था, जिसने अपने राज्य की सीमा सोन नदी के पश्चिम तक बढ़ा दी। वह धार्मिक मनोवृत्ति का था और पिता की भाँति बौद्ध था, फिर भी राजनीतिक दृष्टि से वह महत्वाकांक्षी था। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि धर्मपाल के राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में जालंधर और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक था। सम्भव है कि तारानाथ का यह कथन अत्युक्तिपूर्ण हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्त उत्तरी भारत में धर्मपाल की शक्ति का प्रभाव जमा हुआ था।

धर्मपाल ने लगभग ४६ वर्षों तक राज्य किया। उसने विक्रमशिला और सोमपुर में बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। विक्रमशिला में एक विश्वविद्यालय की स्थापना भी उसने कराई थी। विक्रमशिला में भी नालन्दा की भाँति विद्या का एक बहुत बड़ा केन्द्र स्थापित हो गया था। धर्मपाल ने अपने राज्य में अन्य कई मन्दिरों और बौद्ध विहारों का निर्माण कराया था।

देवपाल——देवपाल वंश का तृतीय राजा था। अपने वंश का यह एक शक्तिशाली राजा था। उसने अड़तालीस वर्षों तक राज्य किया और कदाचित् मुद्‌गगिरी (मुंगेर) को अपनी राजधानी बनाया। उसके सेनापति लवसेन ने बिहार और उड़ीसा पर विजय प्राप्त की। देवपाल ने अपने पिता की प्रसार-नीति को जारी रक्खा। एक अभिलेख में कहा गया है कि वह हिमालय और विन्ध्याचल के सम्पूर्ण मध्यवर्ती प्रदेश का स्वामी था और दक्षिण में उसने सेतुबन्ध रामेश्वर तक विजय प्राप्त की। उड़ीसा और आसाम पर उसका अधिकार हो जाने से उसका राज्य काफी विस्तृत हो गया। समकालीन नरेशों के बीच देवपाल की प्रतिष्ठा काफी जम गई, किन्तु प्रतिहार-नरेश मिहिर-भोज के राज्यारोहण से गुर्जरों की साम्राज्यवादिता का उदय हुआ जो महेन्द्रपाल की मृत्यु तक बनी रही।

देवपाल ने कलाओं को पनपने का अवसर प्रदान किया। बोधिगया अथवा महाबोधि के मन्दिर के निर्माण में भी देवपाल का योग था। वह विद्या का उदार संरक्षक था और उसकी राजसभा बौद्ध विद्वानों के लिए एक आश्रयस्थान के रूप में हो गई। बौद्ध कवि वज्रपत्त उसकी राजसभा में रहता था और उसने 'लोकेश्वर शतक' नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की थी। देवपाल का शासन-काल ८१५ और ८५५ के बीच रक्खा जा सकता है।

नारायण पाल——देवपाल के बाद बंगाल राज्य पर कई छोटे-छोटे राजाओं ने राज्य किया परन्तु इनके शासन की अवधि बहुत अल्प थी। उन्होंने बहुत थोड़े समय तक ही राज्य किया। नारायण पाल अपने वंश का एक शक्तिशाली शासक था जिसने कम से कम ५४ वर्ष तक राज्य किया। अपने पूर्वजों के विपरीत नारायणपाल शैव-धर्म का अनुयायी था और उसने बाहर से शैव-संन्यासियों को अपने राज्य में आमन्त्रित किया था।

महीपाल प्रथम——नारायण पाल के बाद उसका पुत्र राज्यपाल शासनाधिकारी नहीं हुआ। गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय (९३५-९९२) के समय में पालों की शक्ति कुछ अंशों में बढ़ गई। महीपाल प्रथम के राज्यकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी चोलों का आक्रमण। राजेन्द्र चोल के एक सेनानायक ने उड़ीसा के मार्ग से होकर बंगाल पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का महीपाल प्रथम ने सामना किया परन्तु चोल सेना ने उसे पराजित कर दिया। फिर भी चोल-नरेश ने उसे गंगा पार न बढ़ने दिया।

महीपाल बंगाल के शासकों में काफी प्रसिद्ध है। आज भी उसकी प्रशंसा में गीत गाये जाते हैं। नालन्दा के विशाल बुद्धमन्दिर का पुनर्निर्माण महीपाल प्रथम के शासन के ग्यारहवें वर्ष में कराया गया था। बनारस के बौद्ध मन्दिरों की, उसके सम्बन्धियों स्थिरपाल और बसन्तपाल ने मरम्मत कराई थी। महीपाल प्रथम के ही समय में मगध से धर्मपाल तथा अन्य धर्माचार्यों ने आमन्त्रण मिलने पर तिब्बत की यात्रा की थी और वहाँ उन्होंने बौद्धों को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। महीपाल के सुदीर्घकालीन शासन के उपरान्त नयपाल पालवंश के राज्य का स्वामी हुआ।

नयपाल——नयपाल को बहुत थोड़े ही समय तक राज्य करने को मिला। उसके शासन-काल में हिन्दुओं का तीर्थस्थान गया, एक भव्य और शानदार नगर के रूप में हो गया। नयपाल के शासन-काल के अन्तिम दिनों में मगध पर विख्यात चेदि-

नरेश कर्ण ने आक्रमण कर दिया। चेदि-सेनाओं ने पहले तो पाल राज्य को क्षति पहुँचाई परन्तु बाद में पाल सेना ने चेदियों को परास्त कर दिया।

नयपाल के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल तृतीय राजा हुआ। विग्रहपाल तृतीय के समय में पाल साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो चला था। उसकी मृत्यु ने उसके राज्य की स्थिति को और अधिक जटिल कर दिया।

विग्रहपाल तृतीय के उत्तराधिकारी—विग्रहपाल तृतीय की मृत्यु के बाद बंगाल में गृह युद्ध छिड़ गया। उसके तीन पुत्र थे—महीपाल द्वितीय, सूरपाल और रामपाल। महीपाल द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ और अपने भाई सूरपाल तथा रामपाल को बन्दी बना लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिंहासन के लिए गृहयुद्ध के कारण पाल राज्य काफी कठिनाई में पड़ गया। तीनों को परस्पर युद्ध करते हुए देखकर बंगाल में वर्मन लोग उठ खड़े हुए। इस समय तक पाल राज्य की सीमाएँ यों ही काफी संकुचित हो गई थीं; वर्मनों के उत्थान से वे सीमाएँ और अधिक सिकुड़ गईं। इस स्थिति में रामपाल ने बड़े धैर्य से काम लिया।

रामपाल—रामपाल ने अपने वंश के समर्थकों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर लिया और कैवर्त नामक विद्रोही कबीले को पराजित किया। उसने आसाम तथा अन्य राज्यों पर भी विजय प्राप्त की। रामपाल ने उत्तरी बंगाल पर भी विजय प्राप्त की, उसने कलिंग पर भी आक्रमण किया। इन विजयों से पाल राज्य की स्थिति कुछ सुधर गई, परन्तु शीघ्र ही फिर साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया वेगवती हो गई। मामा की मृत्यु हो जाने से रामपाल के चित्त को इतना प्रबल आघात पहुँचा कि गंगा में डूब कर उसने अपना प्राण त्याग दिया।

पाल साम्राज्य का पतन—रामपाल के बाद पाल साम्राज्य की स्थिति और अधिक डावाँडोल हो गई। उसके पुत्र कुमारपाल के समय में आसाम स्वतन्त्र हो गया। उसका पुत्र गोपाल तृतीय मदनपाल के द्वारा मार डाला गया। मदनपाल का अधिकार दक्षिणी बिहार पटना और मुंगेर तक विस्तृत था। उसके पश्चात् गोविन्द पाल शासक हुआ जिसका अधिकार केवल गया तक ही सीमित रह गया। गोविन्दपाल गहड़वालों और सेनों के बीच घिर गया। दोनों ओर से घिर जाने के कारण पाल साम्राज्य की स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो गई। पाल-नरेश नाम मात्र को ही राजा रह गये। सेन वंश के उत्कर्ष, सामन्तों के विद्रोह और परवर्ती पाल नरेशों की अयोग्यता के कारण पालों के साम्राज्य का पतन हो गया।

पाल शासन का महत्व—"पाल-शासन के अन्तर्गत न केवल बंगाल की गणना सबसे बढ़ी-चढ़ी शक्तियों में की जाने लगी अपितु वह बौद्धिक और कला सम्बन्धी क्षेत्रों में उत्कृष्ट हो गया। प्रसिद्ध चित्रकार, शिल्पी एवं काँसे की प्रतिमा गढ़ने वाले धीमान् और वितपाल साम्राज्य में ही राज्याश्रय पाकर अपनी कला के निर्माण में संलग्न रहे।" कला के क्षेत्र में पाल नरेशों का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान था। सारे बंगाल और बिहार में पाल-नरेशों ने चैत्यों, बिहारों, मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया।

शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में भी पालों की देन महत्वपूर्ण थी। हम देख चुके हैं कि ओदन्तपुरी और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों की स्थापना पाल-नरेशों ने ही की थी। नालन्दा की भाँति इन विश्वविद्यालयों का यश भी देश के दूरवर्ती भाग तक फैला हुआ था और दूर-दूर के विद्यार्थी यहाँ ज्ञानार्जन के लिए आया करते

थे। शिक्षा के संरक्षण और प्रसार में इन बौद्ध विश्वविद्यालयों का काफी महत्वपूर्ण योगदान था। दो-एक नरेशों को छोड़कर बाकी सभी पालनृपति बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म को उस समय राज्याश्रय प्रदान किया जिस समय देश के अन्य भागों में यह पतनोन्मुख था। पाल नरेशों ने अपने राज्य में बौद्ध धर्म के प्रचार का पूरा प्रयत्न किया, परन्तु उनका धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं था। वे ब्राह्मणों को भी दान-दक्षिणा देकर सम्मानित करते थे। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अतीश नामक प्रसिद्ध दार्शनिक भिक्षु ने तिब्बत की यात्रा की थी। पालों के शासन-काल में साहित्य की उन्नति अधिक तो नहीं हुई जितनी कला की किन्तु संध्याकाल नन्दी का 'रामपाल चरित' नामक श्लेषात्मक महाकाव्य इसी समय लिखा गया। 'लोकेश्वर शतक' नामक काव्य की रचना बौद्ध कवि बज्रदत्त ने देवपाल के समय में ही की थी।

बंगाल का सेन वंश

विजय सेन—सेन वंश के संस्थापक सामसेन के पौत्र विजय सेन ने अपने वंश के गौरव को बढ़ाया। उसने ६२ वर्षों तक राज्य किया। विजय सेन ने बंगाल से वर्मनों को निकाल बाहर किया। उत्तरी बंगाल के मदन पाल को निर्वासित करने वाला भी विजय सेन ही था। कहा जाता है कि उसने नैपाल, आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की। रामपाल की मृत्यु के बाद पाल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर विजय सेन ने जिस राज्य की स्थापना की उसमें पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी बंगाल के भाग सम्मिलित थे। उसने परम माहेश्वर की उपाधि ग्रहण की जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विजय सेन शैव था। सैन्य विजयों के साथ-साथ उसने सांस्कृतिक और धार्मिक कार्य भी किये। उसने शिव-मन्दिर का निर्माण कराया, एक झील खुदवाई, विजयपुर नामक नगर बसाया और कवि उमापति को राज्याश्रय प्रदान किया।

बल्लाल सेन—बल्लाल सेन एक विद्वान् शासक था। वंश क्रमानुगत द्वारा उसे जो राज्य मिला उसकी उसने पूर्ण रूप से रक्षा की। उसका राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था। कहा जाता है कि बल्लाल सेन ने अपने गुरु की सहायता से 'दानसागर' और 'अद्भुत सागर' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। दूसरा ग्रन्थ वह अपूर्ण ही छोड़ कर मर गया। 'परम माहेश्वर' और 'निश्शंकशंकर' आदि विरुदों से बल्लाल सेन के शैव होने का प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मण सेन—लक्ष्मण सेन अपने वंश का एक प्रसिद्ध शासक था, साथ ही साथ भारत के सबसे कायर नरेशों में भी उसकी गणना की जानी चाहिए। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार, जब मुहम्मद बिन-बख्तियार खिल्जी बिहार को रौंदता हुआ अपनी छोटी सी सेना लेकर उसकी राजधानी पहुँचा तो लक्ष्मण सेन चुपचाप अपने महल के पिछले दरवाजे से निकल भागा।

लक्ष्मण सेन का शासन संस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसकी राज सभा में 'पाँच रत्न' रहते थे जिनके नाम थे—(गीत गोविन्द के रचयिता), जयदेव उमापति, धोयी (पवनदूत के रचयिता), हलायुध और श्रीधर दास। लक्ष्मण सेन ने स्वयं अपने पिता के अपूर्ण ग्रन्थ 'अद्भुत सागर' को पूरा किया।

लक्ष्मण सेन के राज्य पर मुसलमानों का आक्रमण ११९९ ई० में हुआ था। इसके बाद सेन राजवंश का अंत हो गया यद्यपि पूर्वी बंगाल पर और बाद तक इस वंश के राजा राज्य करते रहे।

काश्मीर का राज्य

प्राचीन भारत में काश्मीर का शेष भारत के साथ बहुत गहरा और अविच्छिन्न राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से काश्मीर कभी भी भारत से पृथक नहीं था। कुछ समय तक तो काश्मीर संस्कृत विद्या के प्रमुख केन्द्र के रूप में रहा। अशोक का काश्मीर पर अधिकार था। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में इस बात का उल्लेख मिलता है कि अशोक की मृत्यु के बाद जब मौर्य साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति का ह्रास होने लगा तो उसके पुत्र जालौक ने जो काश्मीर में राजप्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा था, अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके केन्द्र से पृथक एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी थी। जालोक के उपरान्त काश्मीर में किस राजा अथवा राजवंश का अधिकार था यह विश्वसनीय रूप में हमें ज्ञात नहीं, परन्तु कुषाणों के अधिकार में काश्मीर था यह असन्दिग्ध रूप से हमें मालूम है।

कर्कोटक राजवंश—काश्मीर में दुर्लभवर्द्धन ने नाग या कर्कोटक वंश की स्थापना की। उसके राज्य काल में ह्वेनसाँग ने काश्मीर की यात्रा की। चीनी यात्री के लेख से ज्ञात होता है कि दुर्लभवर्द्धन का राज्य केवल मुख्य काश्मीर तक ही सीमित नहीं था वरन् पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी पंजाब के कुछ भाग पर भी उसका अधिकार था। दुर्लभ वर्द्धन ने छत्तीस वर्षों तक राज्य किया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी दुर्लभक का शासन-काल पचास वर्षों तक रहा, परन्तु उसके विषय में कोई ज्ञातव्य ऐतिहासिक बात मालूम नहीं है।

दुर्लभक के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्रापीड काश्मीर सिंहासन पर समासीन हुआ। चन्द्रापीड काश्मीर का एक प्रसिद्ध नरेश था। उसने अरबों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए चीनी सम्राट् के पास अपना एक राजदूत भेजा था। यद्यपि उसे चीन देश से कोई सहायता प्राप्त न हो सकी तथापि उसने मुहम्मद बिनकासिम को काश्मीर की सीमा में घुसने नहीं दिया।

कर्कोटक राजवंश का सबसे प्रसिद्ध शासक ललितादित्य युक्तापीड था जो ७२४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। ललितादित्य काश्मीर का तो सबसे प्रसिद्ध शासक था ही अपने समकालीन शासकों में भी उसको सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। वह एक महान् विजेता और उल्लेखनीय सम्राट् था।

यशोवर्मन के सम्बन्ध में पढ़ते हुए हम देख चुके हैं कि उसकी भाँति ललितादित्य ने भी चीनी सम्राट् की राज सभा में अपना राजदूत भेजा था। इसके बाद ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच किस प्रकार संधि और विग्रह के सम्बन्ध स्थापित हुए, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं।

कन्नौज के शासक यशोवर्मन को युद्ध में पराजित करने के पश्चात् ललितादित्य ने अपना दिग्विजय अभियान प्रारम्भ किया। ललितादित्य पूर्वी समुद्र की ओर बढ़ा और कलिंग तक पहुँच गया। गौड़ाधिपति ने ललितादित्य की अधीनता निर्विरोध ही स्वीकार कर ली और उसने ललितादित्य की सेना के लिए कुछ हाथी भिजवा दिये। कर्णाट होता हुआ ललितादित्य कावेरी पहुँचा और उसने कुछ द्वीपों को भी विजित किया। पश्चिम की ओर अभिमुख होने पर उसने सात कोकणों का दमन किया और द्वारका तक पहुँच गया। इसके पश्चात् ललितादित्य ने अवन्ति तथा अन्य राज्यों को भी जीता परन्तु यह कहना कुछ कठिन है कि कल्हण द्वारा वर्णित ललितादित्य-दिग्विजय का विवरण पूर्णतः सत्य है।

ललितादित्य की मृत्यु लगभग सन् ७६० ईस्वी में हुई। उसने छत्तीस वर्षों तक राज्य किया। उसके पश्चात् काश्मीर के राजसिंहासन पर कई दुर्बल नरेश बैठे जिनके शासन-काल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। जयापीड विनयादित्य कर्कोटक राजकुल का अन्तिम पराक्रमी और प्रतापी सम्राट् था। उसने अपने वंश के विलुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। अपने पितामह की भाँति जयापीड विनयादित्य ने भी कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा वज्रायुध अथवा इंद्रायुध को सिंहासनच्युत कर दिया।

उत्पल वंश का शासन—काश्मीर में उत्पल वंश की स्थापना करने वाला अवन्ति वर्मन था। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने युद्ध से विरत होकर प्रजा के सुख-संवर्द्धन की ओर ध्यान दिया। जयापीड स्वयं भी अपने जीवन के अन्तिम समय में धन-लोलुप हो गया था और अकिञ्चन हो गया था। अवन्तिवर्मन ने अपने राज्य के आर्थिक साधनों को विकसित करने तथा बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने सबसे पहले उन राजकीय अधिकारियों को उनके पद से च्युत कर दिया जो निर्धन ग्रामवासियों को प्रपीड़ित करते थे। अवन्तिवर्मन ने अपने राज्य में सिंचाई के विकसित साधनों की व्यवस्था की। उसका सचिव सूर्य्य लोक-कल्याण के कार्यों में बड़ी अभिरुचि रखता था। उसने नालियों और बाँधों का निर्माण कराया और वितस्ता (झेलम) के मार्ग को बदल कर बाढ़ से उस प्रदेश की रक्षा की। अवन्तिवर्मन की राजसभा को विद्वान् और साहित्यकार अपनी उपस्थिति द्वारा गौरवान्वित किया करते थे। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। इन सब कार्यों का वर्णन कल्हण ने बड़े उत्साह से किया है।

अवन्तिवर्मन के बाद उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिए युद्ध छिड़ गया। अपने भाइयों को पराजित कर शंकरवर्मन ने राज सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। काश्मीर निवासियों के लिए यह एक दुर्भाग्य प्रमाणित हुआ कि शंकर वर्मन ने अपने पिता को शान्तिनीति का त्याग करके युद्ध नीति का अवलम्बन किया। अपने युद्धों के लिए धन की उसे आवश्यकता पड़ी जिसे प्राप्त करने के लिए उसने प्रजा को कर के भारों से उत्पीड़ित करना आरम्भ किया और मन्दिरों की सम्पत्ति लूटने में भी वह न हिचका। शंकर वर्मन के पश्चात् उसका पुत्र गोपाल वर्मन राजा हुआ। इसके शासन-काल में शासन-व्यवस्था और अधिक बिगड़ गई तथा प्रजा का दुःख किसी प्रकार भी कम न हो सका। तन्त्रिन और एकांगी नामक सैनिक अधिकारियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और कशमकश का जनता के हितों पर अच्छा प्रभाव न पड़ा। वे जनता के ऊपर अत्याचार करते थे। पार्थ नामक बालक राजा के शासन-काल में (९१७-१८) काश्मीर में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। परन्तु यह दुर्भिक्ष प्राकृतिक कारणों द्वारा समुद्भूत नहीं हुआ था अपितु शासकों की असावधानी तथा विलासप्रियता और शासनाधिकारियों की धनलिप्सा एवं शोषणनीति ने इसको जन्म दिया था। कल्हण ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जिस समय प्रजा दुर्भिक्ष से पीड़ित थी और अन्नाभाव से त्राहि-त्राहि कर रही थी, राज वंश के लोग अपने ऐश्वर्य से अभिभूत थे और मन्त्रिन तथा तन्त्रिन चुपचाप चावल अधिकाधिक मूल्य पर बेचकर धन-संग्रह कर रहे थे। काश्मीर के परवर्ती युग का इतिहास गौरवशाली नहीं है। षड्यन्त्रों और विग्रहों की कथाओं से इतिहास भरा पड़ा हुआ है। हम इस इतिहास के अध्ययन को छोड़कर काश्मीर के सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन करते हैं जो निस्सन्देह इतिहास का उज्वलतर पक्ष है।

काश्मीर संस्कृति

हम यह पहले कह चुके हैं कि काश्मीर सांस्कृतिक दृष्टि से कभी भारत से विच्छिन्न नहीं होने पाया है। जिस युग का हम इस समय अध्ययन कर रहे हैं, उसमें काश्मीर संस्कृत विद्या का केन्द्र था। डा० आर० सी० मज़ूमदार ने काश्मीर राज्य के घृणित पक्षों की कटु आलोचना करते हुए संस्कृति तथा कलाओं के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बात कही हैं। आप कहते हैं, "यद्यपि राजनीतिक विकास और बर्बर क्रूरता में काश्मीरियों की तुलना मध्य काल के योरप निवासियों से की जा सकती है तथापि परिष्कार, संस्कृति और उन बातों में जो सभ्यता का निर्माण करती हैं, वे काफी विकसित अवस्था में थे। विद्या का प्रचार था और देश में यह अधिक प्रशंसित थी। संगीत तथा नृत्य जैसी ललित कलाओं की आराधना राजा और प्रजा दोनों के द्वारा समान रूप से की जाती थी। कला और वास्तु की बहुत अधिक उन्नति हुई और यहाँ तक कि सबसे निकृष्ट राजाओं और उनके अफसरों ने मन्दिरों और मठों के निर्माण की प्रथा को जारी रक्खा। धर्म और दर्शन में काश्मीर ने उल्लेखनीय प्रगति दिखाया और शैव धर्म के एक नये सम्प्रदाय का विकास किया जिसकी मानवता और विचार प्रधानता अनेक पूर्ववर्ती शैव सम्प्रदायों के भयंकर और हिंसा-प्रधान चित्र के नितान्त विपरीत है।" हमने गुप्त युग की साहित्यिक प्रगति का अध्ययन करते हुए भर्तृमेन्ठ नामक कवि के विषय में पढ़ा है जो काश्मीर के राजा मातृगुप्त का राजकवि था और जिसका उल्लेख कल्हण ने किया है। अवन्ति वर्मन के राज्य काल में काश्मीर में कवियों की एक शृंखला-सी थी। शिवस्वामिन ने 'अवदान शतक' के आधार पर एक महाकाव्य लिखा। रत्नाकर ने शैव विषयों पर रचनायें लिखीं और अभिनन्द ने बाण रचित 'कादम्बरी' को सरल संस्कृत में पद्यबद्ध किया। क्षेमेन्द्र नामक प्रसिद्ध लेखक ने काश्मीर को गौरवान्वित कर दिया। उसने अपनी 'बृहत्कथामञ्जरी' नामक रचना में गुणाढ्य की कृति को सरल कविता के माध्यम द्वारा संक्षिप्त कर दिया। यह एक स्मरणीय बात है कि क्षेमेन्द्र ने इस रचना के द्वारा गुणाढ्य और संस्कृत साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा की, क्योंकि मूल पैशाची प्राकृत में लिखी गई "बृहत्कथा" लुप्तप्राय हो चुकी थी। 'अवदान कल्पलता' नामक ग्रन्थ में बौद्ध कथाओं को उसने संस्कृत में लिखा। क्षेमेन्द्र ने विष्णु के अवतारों, रामायण और महाभारत तथा काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित विषयों पर भी कविताएँ लिखीं। सोम देव नामक प्रसिद्ध लेखक को उत्पन्न करने का गौरव काश्मीर की ही बसुधा को प्राप्त है। उसने 'कथा सरित्सागर' नामक सुविख्यात कथा-ग्रन्थ का प्रणयन किया। विल्हण एक काश्मीरी नरेश का राजकवि था। इन सबके अतिरिक्त कल्हण के कारण काश्मीर विशेष रूप से गौरवान्वित हुआ, क्योंकि कवि कल्हण के रूप में उसे अपना इतिहासकार मिल गया। इस प्रकार वह कवि और इतिहासकार दोनों था। काश्मीर में अनेक सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री हुए।

काश्मीर में बौद्ध धर्म का भी काफी प्रचार हुआ था। कनिष्क के समय में प्रसिद्ध बौद्ध संगीति काश्मीर में ही हुई थी। परन्तु शैव धर्म के एक अत्यन्त दिव्य स्वरूप के विकास करने के कारण धार्मिक जगत में काश्मीर का महत्व सविशेष है।

प्रश्न

1. Who were the Rājputs ? (1947, 1948, 1952.)
   (राजपूत कौन थे ?)

2. What were the chief Rajput kingdoms in Northern India in the twelfth century ? (1947.)

(बारहवीं शताब्दी ई० में उत्तरी भारत में कौन-कौन से मुख्य राजपूत राज्य थे ?)

3. Give a brief account of the rise and fall of Pratiharas of Kanauj. (1942.)

(कन्नौज के प्रतिहारों के उत्थान और पतन का संक्षिप्त वर्णन दीजिये।)

4. What do you know about of the Chauhans of Shakambhari and Ajmer ?

(शाकम्भरी और अजमेर के चौहानों के विषय में आप क्या जानते हैं ?)

अध्याय २३

दक्षिणापथ के राजकुल

दक्षिणापथ का अभिप्राय—संस्कृत शब्द 'दक्षिणापथ' का अभिप्राय नर्मदा नदी के दक्षिण के देश से है। इस प्रदेश का वर्त्तमान नाम दक्कन है। जिस प्रकार बिन्ध्य और हिमालय के बीच की सारी भूमि को 'उत्तरापथ' की संज्ञा दी गई थी, उसी प्रकार नर्मदा नदी के दक्षिणवर्ती भूभाग को दक्षिणापथ कहा जाता था।

दक्षिणापथ का पूर्व इतिहास—आर्यों के दक्षिणापथ में प्रवेश और प्रसार से उत्तरापथ के निवासियों के साथ दक्कन के लोगों का सम्पर्क हुआ। 'रामायण' में वर्णित दक्षिणापथ में राम का कथानक सम्भवतः एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिए हुए है जो उस प्रदेश में आर्यों के राजनीतिक विस्तार का सूचक है। महाकाव्य की एक और पुरानी परम्परा के अनुसार महर्षि अगस्त्य पहले ऋषि थे जिन्होंने विन्ध्य गिरि के पारवर्ती प्रदेशों में आर्य-धर्म और संस्कृति का प्रकाश फैलाया और एक उपनिवेश बसाया। यदि इस परम्परा में कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यह सांस्कृतिक प्रवेश निश्चय ही राजनीतिक प्रभुता के स्थापित होने के पहले हुआ होगा और उसका काल लगभग आठवीं शताब्दी ई० पू० का अन्त अथवा सातवीं शताब्दी ई० पू० का प्रारम्भ माना जा सकता है।

मौर्य साम्राज्य की सीमाएँ नर्मदा के दक्षिण में अवश्य ही फैली थीं, यद्यपि सुदूर दक्षिण के भाग उसमें सम्मिलित नहीं थे। मौर्यों का साम्राज्य सुदूर दक्षिण तक भले ही विस्तृत न रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने भारत में जिस राजनीतिक एकता की स्थापना की उसका प्रभाव दक्षिण के काफी भूभाग पर था। किन्तु मौर्य साम्राज्य के विनष्ट हो जाने पर जिस प्रकार उत्तरापथ की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी राजनीतिक एकता का अभाव उत्पन्न हो गया।

आन्ध्र या सातवाहन राज्य की स्थापना से कुछ समय के लिए दक्षिण में काफी दूर तक राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। परन्तु ईसा की पाँचवीं सदी में जैसे ही यह साम्राज्य नष्ट हुआ यह राजनीतिक एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। दक्कन के विभिन्न भागों में कई राज्य उठ खड़े हुए। तृतीय सदी ईस्वी के मध्य ईश्वरसेन नामक आभीर सरदार ने सारा महाराष्ट्र सातवाहनों से छीन लिया। नागों के अधिकार में भी कुछ प्रदेश आ गये। ईसा की तीसरी शताब्दी से वाकाटक वंश के नरेश ने मध्य-भारत और दक्कन के कुछ भागों पर राज्य करना आरम्भ किया। गुप्तयुग में जिस अभिनव राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ था उसका प्रसार दक्कन और सुदूर दक्षिणापंथ तक था। परन्तु वाकाटक और गुप्त राज्यों के पतन से दक्षिणापथ में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति फिर एक बार सशक्त हो गई और अनेक राजवंशों की स्थापना हो गई। इन राजवंशों में वातापी (बादामी) का चालुक्य वंश काफी विख्यात और शक्तिशाली था, अतएव हम पहले इसी वंश के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

चालुक्य

बदामी के प्रारम्भिक चालुक्य नरेश

चालुक्य वंश का प्रथम नरेश जयसिंह था, जिसने राष्ट्रकूटों और कदम्बों से लड़कर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। जयसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी रणराज था जिसके समय में चालुक्यों की शक्ति का विशेष विकास न हो सका। परन्तु उसके प्रिय पुत्र पुलकेशिन प्रथम को चालुक्य वंश का वास्तविक संस्थापक कहा जाता है। उसका राज्य सम्भवतः आधुनिक बीजापुर जिले तक सीमित था और बादामी उसकी राजधानी थी।

कीर्तिवर्मन—पुलकेशिन वर्मन ने अपने पड़ोसियों के ऊपर जो सफलता प्राप्त की थी, उसमें उसे अपने पुत्र कीर्तिवर्मन से महत्वपूर्ण सहायता मिली थी। कीर्तिवर्मन के समय में वातापी के चालुक्यों की शक्ति का पर्याप्त विकास हुआ। मंगलेश के महाकूट स्तम्भ अभिलेख के अनुसार कीर्तिवर्मन ने लंग, अंग, कलिंग, वत्तूर, मगध, मद्रक, केरल, गंग, भूष्क, पान्डय, द्रमिल चोलिय, आलक और वैजन्ती के राजाओं को पराजित किया। परन्तु यह निश्चित है कि इस अभिलेख की शैली नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण है, अतएव इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। कीर्तिवर्मन की सफलताओं के फलस्वरूप, जिनमें से कुछ उसके पिता के शासन-काल में प्राप्त की गई थीं चालुक्यों का राजनीतिक प्रभाव बम्बई राज्य तथा मैसूर और मद्रास से लगे हुए काफी विस्तृत भागों पर फैल गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मन ने कोंकण के उन भागों को भी अपने राज्य में मिला लिया था जो मौर्यों के अधीनस्थ थे। महाराज कीर्तिवर्मन का शासनकाल ५६६-६७ से ५९७-९८ तक निश्चित किया गया है।

मंगलेश—कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसके पुत्र नाबालिग थे, अतएव राजसिंहासन पर उसके सौतेले भाई ने अपना अधिकार जमा लिया। रेवती-द्वीप और कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेना मंगलेश की सबसे बड़ी सफलतायें थीं।

पुलकेशिन द्वितीय—पुलकेशिन द्वितीय (६१०-११ से लेकर ६४२ तक) अपने वंश का सबसे प्रतापी नरेश था ही, अपने समकालीन राजाओं में भी उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसके सिंहासनारोहण के समय में उसके राज्य की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी।

पुलकेशिन द्वितीय की सैन्य सफलतायें और विजयें—अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ कर लेने के उपरान्त पुलकेशिन द्वितीय ने विजय-अभियान प्रारम्भ किया।

पुलकेशिन द्वितीय की सबसे महत्वपूर्ण सफलता थी इसके द्वारा उत्तरापथ के सम्राट् हर्ष की पराजय। हर्ष ने पुलकेशिन पर आक्रमण किया परन्तु वह विफल प्रयत्न ही रहा। पुलकेशिन के सामने हर्ष की एक न चल सकी और उसे वापस लौटना पड़ा। इस विजय ने पुलकेशिन की प्रतिष्ठा को बहुत अधिक बढ़ा दिया। अपने अन्य समकालीन राज्यों पर उसका आतंक जम गया। महाकोशल और कलिंग के नृपति उससे भयभीत और आतंकित हो गए। उन्होंने शीघ्र ही उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद समुद्रतटीय पथ द्वारा चालुक्य की सेना दक्षिण दिशा की ओर मुड़ी

पिष्टपुर और एक अन्य दुर्ग पर पुलकेशिन द्वितीय का अधिकार हो गया। पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मन को युद्ध में पराजित किया और उसे अपने दुर्ग में शरण लेने के लिए बाध्य किया। पुलकेशिन द्वितीय के आक्रमण ने पल्लवों की राजधानी काञ्ची (आधुनिक कंजीवरम) को खतरे में डाल दिया। इसके बाद उसने कावेरी को पार कर चोलों, केरलों और पाण्ड्यों को अपना मित्र बनाया। पुलकेशिन द्वितीय का अन्त सुखद नहीं हुआ। उसके जीवन के अन्तिम दिनों में चालुक्य शक्ति का ह्रास होने लगा। पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन ने ६४२ में वातापी पर आक्रमण किया और पुलकेशिन द्वितीय को युद्ध में मार डाला। वातापी पर पल्लवों का अधिकार हो गया, किन्तु यह अधिकार भी स्थायी न हो सका। कुछ ही दिनों बाद चालुक्यों ने पुनः अपनी शक्ति संगठित कर ली।

पुलकेशिन द्वितीय का साम्राज्य—पुलकेशिन द्वितीय के सुविशाल साम्राज्य की सीमायें उत्तर में विन्ध्य पर्वत श्रेणी और महानदी तक, दक्षिण में मैसूर के पठार तक और आसिन्धु-सिन्धु पर्यन्त फैली थीं।

ह्वेनसाँग का विवरण—ह्वेनसाँग ने ६४१-४२ ई० में पुलकेशिन से नासिक में भेंट की थी और उसने राज्य का भ्रमण भी किया था। चीनी यात्री ने पुलकेशिन द्वितीय के व्यक्तित्व तथा उसके राज्य और उसके प्रजाजनों के सम्बन्ध में अपने वृत्तान्त लिखे हैं। पुलकेशिन के विषय में ह्वेनसाँग लिखता है, "वह क्षत्रिय जाति का है, उसके विचार विशाल और गम्भीर हैं और अपनी सहानुभूति तथा दान-क्रियाओं का उसने काफी विस्तार कर रक्खा है। उसके प्रजाजन पूर्ण भक्ति के साथ उसकी सेवा करते हैं।"

चालुक्य की शक्ति का पुनरुत्थान—तेरह वर्षों तक चालुक्यों की शक्ति को पल्लवों ने ग्रसित कर रक्खा था। चालुक्यों का राज्य विभिन्न भागों में बट गया था, परन्तु विक्रमादित्य प्रथम (६५५-८०) ने, जो पुलकेशिन द्वितीय का सुयोग्य और वीर पुत्र था, अपने वंश के गौरव को फिर से उपस्थित किया। उसने अपने पैतृक राज्य को पल्लवों से छीन लिया। अपने पहले सामरिक प्रयास में ही उसने पल्लव राजधानी को लूटने के बाद सुदूर दक्षिण तक धावे किये और चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों की शक्तियों को परास्त किया। विनयादित्य ने ६८० से लेकर ६९६ तक और विजयादित्य ने लगभग ६९६ से लेकर ७३३ तक शासन किया।

विक्रमादित्य द्वितीय—विक्रमाचित्य द्वितीय चालुक्य वंश का प्रतापी नरेश था। उसके उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन द्वितीय ने ताम्रपत्रों में विक्रमादित्य की सैनिक सफलताओं का वर्णन किया है। इस साक्ष्य के अनुसार उसने अपने प्रकृत्यमित्र को परास्त किया। उसकी सेना पल्लवों की राजधानी काञ्ची में प्रविष्ट हो गयी, किन्तु उसे नष्ट नहीं किया गया। उसने राजसिंहासन और अन्य मन्दिरों को उन सुवर्ण ढेरों से परिपूरित कर दिया जिन्हें कुछ दिनों पूर्व पल्लवों ने छीन लिया था। उसने चोल, पाण्ड्य और केरल शक्तियों को भी आतंकित तथा भयत्रस्त कर दिया। उसके राज्य काल में अरबों ने, जिन्होंने सन् ७१२ ई० में सिंध पर अधिकार कर लिया था, दक्षिण पर भी आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने उनका सामना किया और इन्हें पराजित किया। उसका यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसके कारण दक्षिण अरबों के हाथ में जाने से बच गया। परन्तु वह पल्लवों की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट न कर सका। पल्लव नृपति पल्लवमल्ल ने पराजित होने पर भी अपनी राजधानी कांची पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया।

चालुक्य सत्ता का अन्त—विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद शासक हुआ। कीर्तिवर्मन द्वितीय वातापी के चालुक्य कुल का अन्तिम नृपति था। ७५३ ई० में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने उसको पराजित कर दिया। कीर्तिवर्मन द्वितीय के राज्य के अधिकांश भागों पर दन्तिदुर्ग का अधिकार स्थापित हो गया। एक अभिलेख से पता चलता है कि कर्नाटक क्षेत्र में विक्रमादित्य की सत्ता ७५७ ई० तक बनी रही किन्तु राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने वातापी के चालुक्य राजवंश की मूल शाखा का उन्मूलन कर दिया। परन्तु अन्यन्त्र उसकी दूसरी शाखाओं ने अपना अधिकार बनाये रक्खा।

चालुक्यों के समय में धर्म और कला की अवस्था

चालुक्य वंश के शासन की प्रारम्भिक दो शताब्दियों में ब्राह्मण धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। राजाओं और प्रजाजनों ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। पौराणिक देवताओं का समाज में सम्मान था। वातापी तथा पत्त्रदलक में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विशाल मन्दिर बने थे। परन्तु चालुक्य राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण दक्षिण में जैन धर्म को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म के प्रति चालुक्य में इस धर्म की क्या अवस्था थी, इस पर ह्वेनसाँग के लेख के प्रकाश पड़त है। चीन नरेशों का क्या दृष्टिकोण था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता परन्तु उनके राज्य में इस धर्म की क्या अवस्था थी, इस पर ह्वेनसाँग के लेख से प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री लिखता है, "बौद्ध विहारों की संख्या १८० से ऊपर थी और ५००० से अधिक की संख्या में हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भिक्षु वहाँ विद्यमान थे। राजधानी के भीतर और बाहर ५ अशोक स्तूप थे जहाँ पिछले चार बुद्ध कभी बैठे थे और उन्होंने वायुसेवन किया था। वहाँ पर पत्थर और ईंटों के अन्य स्तूप भी थे।" परन्तु जैन धर्म की अत्यधिक उन्नति के कारण बौद्ध धर्म का विकास रुक गया।

कला—चालुक्यों के शासन-काल में कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। अजन्ता और एलौरा दोनों ही चालुक्य राज्य में अवस्थित थे। इनके कुछ चित्र चालुक्यों के समय में बनवाये गये थे। औरंगाबाद और नासिक में अनेक बौद्ध गुहा स्थापत्य अब भी विद्यमान हैं। बादामी में भगवान् विष्णु के नृसिंह आदि अवतारों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बड़ी प्रशंसनीय हैं। एहोल, बादामी और पत्र दल में इस काल के बने हुए मन्दिर हैं। विरुपाक्ष मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है जिसमें भित्ति चित्रों द्वारा रामायण की कथाओं को दिग्दर्शित किया गया है। चालुक्य राजाओं ने हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिर बनवाये और मन्दिरों को प्रचुर दान दिया।

मान्य खेट (मालखेड) के राष्ट्रकूट

आठवीं शताब्दी के छठे दशाब्द में दक्षिण में राजनीतिक प्रभुता चालुक्यों के हाथ से निकाल कर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई। राष्ट्रकूटों ने अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया और आगे चलकर राजनीतिक प्रभुता के लिए जिन तीन शक्तियों में संघर्ष छिड़ा उनमें से एक शक्ति मान्यखेट के राष्ट्रकूट कुल की भी थी।

राष्ट्रकूटों का उत्कर्ष—दन्तिदुर्ग के अधीन राष्ट्रकूटों का उत्थान हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि दन्तिदुर्ग एक चालुक्य राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जो किसी राष्ट्रकूट सरदार के साथ ब्याही गई थी। सम्भवतः उसने उत्तर और दक्षिण के प्रदेशों को छोड़कर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य पर अधिकार जमा लिया। दन्तिदुर्ग (७४५-

७५६) ने ही राष्ट्रकूटों के विशाल राज्य की नींव डाली। उसने भड़ौच के गुर्जरों और गुजरात के चालुक्यों को परास्त किया। दन्तिदुर्ग ने ७३५ ई० में चालुक्य राजकुमार कीर्तिवर्मन द्वितीय को युद्ध में पराजित कर महाराष्ट्र का उत्तरी भाग अपने राज्य में मिला लिया। कांची, कोशल, कलिंग, मालवा, लाट (दक्षिण गुजरात) और श्रीशैल (कर्नूल जिले में) के राजाओं को उसने परास्त किया था। दन्तिदुर्ग की मृत्यु तीस वर्ष की थोड़ी अवस्था में हो गई।

दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र न था, अतएव उसके राज्य का कृष्ण प्रथम अधिकारी हुआ। कृष्ण प्रथम दन्तिदुर्ग के पिता का भाई था। कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राजशक्ति के विनाश-कार्य को पूरा किया। कोंकण को विजित करने के बाद वहाँ उसने शिलाहारों को अपने अधीनस्थ एक सामन्तवादी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसने ७६८ ई० में श्रीपुरुष को संग्राम में परास्त किया और उसको भी अपना सामन्त बनाया। कृष्ण का राजत्व-काल एलोरा के कैलाश-मन्दिर के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है।

गोविन्द द्वितीय—कृष्ण प्रथम के उपरान्त गोविन्द द्वितीय राष्ट्रकूट राज्य का अधिकारी हुआ। जब वह अपने पिता के शासन-काल में युवराज था तभी उसने वेंगी के विष्णुवर्धन चतुर्थ को पराजित किया था। गोविन्द द्वितीय ने पारिजात को भी युद्ध में हराया। परन्तु राज्य का अधिकारी होने के उपरान्त वह व्यभिचार और भोगविलास में लिप्त हो गया। परिणाम यह हुआ कि राज्य का लगभग सारा उत्तरदायित्व उसका अनुज ध्रुव वहन करने लगा और प्रलोभन के वशीभूत हो कर उसने राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। ७७९ ई० में अवसर प्राप्त होने पर ध्रुव ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और गद्दी पर अधिकार कर लिया।

ध्रुव—ध्रुव धारावर्ष राष्ट्रकूट-कुल का एक महान् विजेता था। उसने ७८० से लेकर ७९४ तक राज्य किया। ध्रुव ने मंग राज शिवमार द्वितीय को पराजित करके उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया और उस पर शासन करने के लिए अपना एक वाइसराय नियुक्त किया। वह पल्लव नरेश दन्तिवर्मन के विरुद्ध कांची तक अपनी एक वाहिनी ले गया। दन्तिवर्मन को राष्ट्र-कूट राजा के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके बाद ध्रुव ने इन्द्रायुध को परास्त कर अपने झंडे पर गंगा-यमुना का चिन्ह ग्रहण किया और गंगा-यमुना के दोआब में ही उसने बंगाल के राजा धर्मपाल को पराजित कर उसका राजछत्र छीन लिया। उसी के समय से राष्ट्रकूटों, पालों और प्रतिहारों के बीच गंगा और यमुना की घाटियों में राजनीतिक प्रभुत्व जमाने के लिए पारस्परिक संघर्ष छिड़ गया।

गोविन्द तृतीय—ध्रुव ने अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में अपने तृतीय पुत्र गोविन्द को युवराज नियुक्त किया और कुछ दिनों बाद उसके पक्ष में स्वयं राज्य त्याग दिया। यद्यपि ध्रुव उसे अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करने के बाद मरा था तथापि गोविन्द तृतीय के राज्याधिकार का उसके बड़े भाई स्तम्भ ने विरोध किया। उसने बारह राजाओं का एक संघ बनाया। गोविन्द अपने विरुद्ध बारह राजाओं की सम्मिलित शक्ति से तनिक भी भयभीत न हुआ अपितु उसने धैर्य और साहस के साथ अकेले ही उनका सामना करने का निश्चय किया। उसने इस संघ पर विजय प्राप्त की और विद्रोह का दमन करने में वह पूर्ण रूप से सफल रहा। इस प्रकार आन्तरिक उपद्रवों से छुटकारा प्राप्त कर लेने के उपरान्त गोविन्द अपनी रणवाहिनी उत्तर भारत में ले गया और मालवा-नरेश गुर्जर नागभट्ट द्वितीय और उसके सहयोगी

चन्द्र गुप्त को पराजित किया। कुछ दिनों तक मालवा लाट प्रदेश के शासक के अधीन रहा। अधिक उत्तर में पहुँच कर गोविन्द तृतीय ने कन्नौजाधिपति चक्रायुध को अपने आगे आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया और इस प्रकार चक्रायुध के संरक्षक धर्मपाल की भी अवहेलना की। स्पष्ट है कि तीन शक्तियों के बीच प्रभुता के इस संघर्ष में गोविन्द तृतीय ने राष्ट्रकूटों को सबसे अधिक शक्तिशाली प्रमाणित किया। गोविन्द ने ८०३ ई० के लगभग पल्लव राज्य पर आक्रमण करके दन्तिवर्मन को हराया। उत्तर के रण-अभियान से लौट आने के बाद पल्लवों के साथ उसने पुनः अपना युद्ध जारी कर दिया। दक्षिण की राजशक्तियों के विरुद्ध युद्ध में गोविन्द तृतीय को इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि उसकी चोलों, पाण्ड्यों, गंगुवाडी और कोरलों की सम्मिलित शक्ति के ऊपर विजय का यश लंका तक पहुँच गया और लंकाधिपति ने उसकी सेवा में अपनी एक मूर्ति भेजकर अपनी अधीनता प्रकट की। दक्षिण में अपने विद्रोहियों की शक्ति को कुचलने के बाद गोविन्द ने अपना जीवन राज्य के शासन को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया।

अमोघवर्ष प्रथम—अमोघवर्ष प्रथम ८१४ ई० में राष्ट्रकूट की राजगद्दी पर बैठा। राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी। अमोघवर्ष की अल्पावस्था से राष्ट्रकूट कुल के विरोधियों ने लाभ उठाना चाहा, अतएव विरोधी सामन्तों ने उसके विरुद्ध अपना सिर उठाया और पश्चिमी गंगों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा करके बाल-नृपति को सिंहासनच्युत कर दिया।

सिंहासन प्राप्त कर लेने के बाद भी राज्य की आन्तरिक गड़बड़ी के कारण अमोघवर्ष काफी समय तक सैन्य-दृष्टि से निष्क्रिय रहा। हो सकता है कि अपनी अल्पवायु के कारण भी उसने रण-अभियान प्रारम्भ करना उचित न समझा हो। ८६० ई० के लगभग अमोघवर्ष ने ेंगी के विजयादित्य तृतीय को पराजित किया।

अमोघवर्ष वेंगी ने विजयादित्य को पराजित करने के अतिरिक्त और कोई सैनिक सफलता नहीं प्राप्त की। उसके समय में राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार कम हो गया।

अमोघवर्ष की रुचि सैनिक-कार्यों की ओर नहीं थी। उसका स्वभाव शान्तिप्रिय था और धर्म तथा साहित्य के प्रति उसके हृदय में पर्याप्त अनुराग था। उसने सम्भवतः कविराज मार्ग' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। धर्म के क्षेत्र में उसकी रुचि जैन मत की ओर थी। आदि पुराण के प्रणेता जिनसेन का दावा है कि वह अमोघवर्ष का गुरु था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण के कन्धों पर राज्य-भार सौंपकर स्वयं वैराग्य ले लिया था।

कृष्ण द्वितीय—कृष्ण द्वितीय (८८०-९१२ ई०) को अभिलेखों में महान् विजेता कहा गया है। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन अंग, बंग, कलिंग, गंग और कोशल के शासक करते थे। यह निश्चित है कि अभिलेख का यह दावा अतिरंजन मात्र है। यह अवश्य है कि कृष्ण द्वितीय को अपने पड़ोसी राज्यों से बराबर संघर्ष करते रहना पड़ा। दक्षिण में उसने गंगा और नीलम्बों से, पूर्व में वेंगी के चालुक्यों से और उत्तर में गुर्जर-प्रतिहारों तथा गुजराज के राष्ट्रकूटों से युद्ध किया। कृष्ण-द्वितीय भी अपने पिता की तरह जैन सिद्धान्तों से प्रभावित था। गुणभद्र नामक जैनाचार्य उसके गुरु थे।

इन्द्र तृतीय—९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय का देहान्त हो जाने पर उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्य वर्ष राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठा। सिंहासनारूढ़ होने पर इन्द्र तृतीय की आयु पैंतीस वर्ष की थी और उसने केवल पाँच वर्ष तक शासन किया, किन्तु अपने अति संक्षिप्त काल में ही इन्द्र तृतीय ने अपने को पराक्रमी योद्धा प्रमाणित किया।

खम्भात पत्र लेखों से विदित होता है कि पहले उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। इसके बाद यमुना नदी को अवतीर्ण करके उसने कन्नौज जीत लिया। गुर्जर प्रतिहार सम्राट् महीपाल भाग खड़ा हुआ और इन्द्र तृतीय के सेनापति नरसिंह चालुक्य ने उसका पीछा किया।

इन्द्र तृतीय की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अमोघ वर्ष द्वितीय राष्ट्रकूट वंश का राजा हुआ। किंतु अमोघवर्ष का शासनकाल अपने प्रतापी पिता के शासन-काल को अपेक्षा कहीं संक्षिप्त था और एक वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् २५ वर्ष की अवस्था में अमोघवर्ष का देहान्त हो गया। इसके बाद गोविन्द चतुर्थ राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। उसका अधिकांश समय भोग-विलास में व्यतीत हुआ करता था। गोविन्द चतुर्थ की शासन-विमुखता तथा भोगलिप्तता से रुष्ट होकर उसके सामन्तों ने उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और अमोघवर्ष तृतीय से इस बात का निवेदन किया कि वह राष्ट्रकूट वंश की रक्षा करने के लिए स्वयं राज्य-भार ग्रहण करें।

अमोघवर्ष तृतीय—(९३५–९३९ ई०) वह धार्मिक अभिरुचि का नृपति था। उसने अपने पुत्र कृष्ण तृतीय के सुपुर्द शासन-भार सौंप दिया।

कृष्ण तृतीय—सन् ९३९ ई० के दिसम्बर मास में कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। कृष्ण तृतीय ने एक भयंकर युद्ध के उपरान्त चोलों को गहरी पराजय दी। परमार वंश के राजा सियुक द्वितीय को उसने पराजित किया लेकिन परमारों को शक्ति को रोकने में उसे कोई स्थायी सफलता न प्राप्त हो सकी। दक्कन में कृष्ण तृतीय ने अपने पौरुष से राष्ट्रकूटों का आधिपत्य फिर से स्थापित किया लेकिन उत्तरी भारत में उसे विशेष सफलता न प्राप्त हुई। ऐसा जान पड़ता है कि उसने अपने राज्याभिषेक के बाद मध्य भारत के कुछ प्रदेश जीते थे। सुदूर दक्षिण में उसने पाण्ड्य और केरल राज्यों के शासकों पर विजय प्राप्त की थी। लंका के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली जिसके उपलक्ष में कृष्ण तृतीय ने रामेश्वरम् में अपने विजय-स्तम्भ खड़े किये।

राष्ट्रकूट वंश का पतन—कृष्ण तृतीय अपने वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसकी मृत्यु (९६८ ई०) के पश्चात् राष्ट्रकूटों का गौरवसूर्य अन्तोन्मुख होने लगा। खोट्टिक, जो कृष्ण तृतीय का भ्राता और उत्तराधिकारी था, इतना शक्तिहीन प्रमाणित हुआ कि उसके आसन-काल में मालवा के परमार नरेश सीयक- हर्ष ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर अपना अधिकार जमा लिया। खोट्टिक का भतीजा और उत्तराधिकारी कर्क द्वितीय था, जिस से ९७३ ई० में तैल द्वितीय ने राजसिंहासन छीन लिया। तैल ने कल्याणी के चालुक्य राजवंश की नींव डाली। इस प्रकार राष्ट्रकूटों की शक्ति का पतन हो गया।

राष्ट्रकूटों के राज में धर्म, कला और साहित्य की अवस्था

राष्ट्रकूट राजाओं के समय तक दक्कन में पौराणिक हिन्दू धर्म अच्छी तरह से जड़ जमा चुका था। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साथ-साथ जैन तथा अन्य

सम्प्रदायों के प्रति भी राष्ट्रकूट नरेशों तथा उनके प्रजाजनों का व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। राष्ट्रकूटों के उदार शासन के अधीन दक्षिणापथ में पौराणिक हिन्दू-धर्म और जैन धर्म दोनों ही फूले-फले किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का निस्सन्देह ह्रास हुआ। दक्कन में इस सम्प्रदाय का केन्द्र कन्हेरी था।

कला—कला के क्षेत्र में राष्ट्रकूटों की कोई विशिष्ट तथा मौलिक देन नही है। फिर भी कृष्ण प्रथम के समय में एलौरा के कैलाश मन्दिर का निर्माण कराया गया।

शिक्षा और साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं के शासन काल में शिक्षा और साहित्य की उन्नति हुई। उनके राज्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। वे शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रचुर दान दिया करते थे। वलभी के बौद्ध बिहार की भाँति कन्हेरी बौद्ध बिहार में भी एक पुस्तकालय था। इस विद्यालय में दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे, जिनके निवास के लिए उसमें २७ छात्रावास बने हुए थे। लगभग ६० एकड़ भूमि का उपयोग विद्यालय के प्रधानाचार्य को वेतन के रूप में प्राप्त होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में शिक्षण-संस्थाओं को राज्य तथा धनी-मानी लोगों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुआ करती थी।

साहित्य—'राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन अभिलेखों के रचयिता काव्य-कला से भलीभाँति परिचित थे। राष्ट्रकूट राजाओं ने कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया। अमोघवर्ष स्वयं लेखक था और उसने कन्नड़ भाषा में काव्य शास्त्र पर 'कविराज मार्ग' नामक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकूट राजाओं ने जैन पंडितों का समादर किया और उन्हें अपनी राजसभा में स्थान दिया। जैन पंडितों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया। अमोघवर्ष प्रथम के गुरु जिनसेन ने 'हरि-वंश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन ७८३ ई० में समाप्त किया। उन्होंने 'आदि पुराण' लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु इसे समाप्त करने के पूर्व ही वे स्वर्ग-वासी हो गये। अपने 'पार्श्वभ्युदय' नामक ग्रन्थ में उन्होंने पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र लिखा। अमोघवर्ष प्रथम के ही शासन-काल में 'अमोघवृत्ति' की रचना शाक्तायन ने की और वीराचार्य 'गणितसार-संग्रह' का प्रणयन भी इसी समय हुआ। योन्ना नामक कवि कन्नड तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचना करता था, अतएव उसे 'उभय कवि चक्रवर्तिन्' की उपाधि दी गई थी। योन्ना की प्रमुख रचना 'शान्ति पुराण' है। पम्पा ने कृष्ण तृतीय के समय में 'भारत' लिखा। योन्ना और पम्पा कन्नड भाषा के तीन रत्नों में से हैं। तीसरे कवि का नाम रन्ना है। इन तीनों कवियों का आज भी बड़े आदर के साथ कन्नड भाषा-भाषी लोग स्मरण करते हैं। राष्ट्रकूट युग तक मराठी भाषा में साहित्य-रचना का कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ था।

कल्याण के पश्चिमी चालुक्य (९७३-११९०)

तैलप द्वितीय—हम पीछे पढ़ चुके हैं कि अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कर्क द्वितीय से तैलप द्वितीय ने सिंहासन छीन लिया और दक्षिण में चालुक्य वंश का राज्य पुनः स्थापित किया।

तैलप द्वितीय एक वीर योद्धा था। उसके राज्य में पहले महाराष्ट्र कर्णाटक के कुछ भाग और कोंकण तथा कुन्तल के प्रदेश सम्मिलित थे। गुजरात का एक पृथक राज्य था जिस पर मूलराज चालुक्य का शासन था। तैलप द्वितीय ने गुजरात पर भी

अपना अधिकार जमाना चाहा किन्तु वह असफल रहा। मालवा के परमार नरेश मुञ्ज के साथ उसका बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा।

सत्याश्रय—तैलप द्वितीय के पश्चात् पश्चिमी चालुक्यों के राजवंश का स्वामी सत्याश्रय हुआ। सत्याश्रय (९९७-१००८ ई०) चोल नरेश राज-राज का समकालीन था। उसके शासन-काल में चोलों की राजशक्ति का बहुत अधिक उत्थान हुआ। राज-राज प्रथम चोल की सेनाओं ने चालुक्य राज्य में मृत्यु का ताण्डव खड़ा कर दिया। फिर भी सत्याश्रय ने अपनी शक्ति को पुनः संगठित करने में सफलता प्राप्त की और दक्षिण में चोलों से कुछ प्रदेश जीते। सत्याश्रय १००८ ई० में मर गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके भतीजे विक्रमादित्य ने दस वर्ष तक शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में शासन किया।

सन् १०१८ ई० में जयसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने चोलों, अन्हिल-वाड़ के चालुक्यों अथवा सोलंकियों और मालवा के परमारों से युद्ध जारी रक्खा। यादव और कुन्तल सरदारों का जयसिंह द्वितीय ने सफलतापूर्वक दमन किया। जयसिंह द्वितीय ने परमार वंशीय नरेश भोज को परास्त करके 'मालवा संघ' नष्ट कर दिया और इस प्रकार भोज का साम्राज्य-निर्माण-स्वप्न टूट गया।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-१०६८)—जयसिंह द्वितीय जगदेक मल्ल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम नृपति हुआ। उसने अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों से ही चोलों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में चोल नृपति राज्याधिकारी प्रथम को वीरगति प्राप्त हुई किन्तु विजय-श्री चोलों के ही हाथ रही। १०६२ ई० में उसे पुनः चोलों से पराजय उठानी पड़ी।

चोलों के विरुद्ध सोमेश्वर प्रथम को सफलता न प्राप्त हो सकी किन्तु उसने मालवा के राजा भोज परमार के विरुद्ध राजाओं के संघ में भाग लिया और उसकी शक्ति को तहस-नहस कर दिया। उसकी शक्ति का लोहा कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों को भी मानना पड़ा।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवन मल्ल (१०७६-११२६) ई०—विक्रमादित्य षष्ट अपने कुल का सब से प्रसिद्ध शासक था। अपने शासन के शुरू में ही उसने चोलों से युद्ध किया। उसके होयसल सामन्तों ने १११७ ई० के लगभग चोलों से तलकाड का प्रदेश छीन लिया। किन्तु होयसल लोग काफी शक्तिशाली हो गये थे और वे विक्रमादित्य षण्ट की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। विक्रमादित्य षष्ट ने काश्मीर के प्रसिद्ध कवि बिल्हण को बुलाकर अपनी राजसभा में आदरपूर्ण स्थान दिया। बिल्हण ने अपने आश्रयदाता का जीवनचरित्र 'विक्रमांकचरित चर्चा' नामक ग्रन्थ में लिखा। उसके समय में विज्ञानेश्वर ने हिन्दुओं के लिए 'मिताक्षरा' नामक कानून की पुस्तक लिखी। विज्ञानेश्वर ने विक्रमादित्य षष्ट और उसकी राजधानी कल्याण के विषय में लिखा है: "इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर कल्याण और विक्रमादित्य की भाँति कोई नगर और नृपति न है, न कभी हुआ है और न होगा।"

विक्रमादित्य के बाद—विक्रमादित्य षष्ट की मृत्यु ११२७ ई० में हुई। उसके देहावसान के उपरान्त शीघ्र ही केन्द्रीय सरकार की शक्ति छिन्न-भिन्न होने लगी। उसके पुत्र सोमेश्वर तृतीय का शासन केवल नाम मात्र को ही था। सोमेश्वर तृतीय एक शक्तिशाली शासक भी नहीं था, अतएव कल्याण के चालुक्यों का साम्राज्य दिनों दिन ह्रासोन्मुख होने लगा, किन्तु सोमेश्वर विद्यानुरागी और विद्वान् था। उसने

'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें विविध विषयों का विवेचन किया गया है। सोमेश्वर तृतीय का पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय (११३६-११५१ ई०) था जिसने होयसलों को आगे बढ़ने से रोका और परमार वंश के राजा जयवर्मन पर आक्रमण करके उससे मालवा का एक भाग छीन लिया। जगदेकमल्ल द्वितीय के बाद तैलप तृतीय कल्याण के सिंहासन पर बैठा। तैलप तृतीय को काकतीय नरेश प्रोल ने पराजित कर दिया। इस पराजय से चालुक्य वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को प्रबल आघात पहुँचा जिससे लाभ उठाकर मन्त्री विज्जल ने जो सम्भवतः कलचुरी वंश का था, राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया (११५६ ई०) और तैलप तृतीय को कल्याण के बाहर खदेड़ दिया। इस प्रकार कल्याण में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। फिर भी तैलप तृतीय अपने राज्य के एक छोटे से भाग पर ११६३ ई० तक शासन करता रहा।

कल्याण में कलचुरी आन्तराधिपत्य और लिंगायत सम्प्रदाय—तैलप तृतीय के मन्त्री विज्जल कलचुरी ने ११५६ ई० में राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। सात वर्ष तक शासन करने के बाद उसने ११६३ ई० में सिंहासन त्याग दिया। विज्जल के उत्तराधिकारियों का अधिकार ११८३ ई० तक स्थापित रहा। कलचुरी अन्तराधिपत्य के समय में वीर शैवमत अथवा लिंगायत सम्प्रदाय का दक्षिणापथ में काफी प्रचार बढ़ा। विज्जल की मन्त्री बासव लिंगायत सम्प्रदाय का संस्थापक था। कन्नड़ तथा मैसूर देश में आज भी लिंगायतों की संख्या काफी अधिक है। 'ये लोग वेदों की अपौरुषेयता तथा सर्वमान्यता नहीं मानते और शिव के लिंग रूप तथा उनके वाहन नन्दी के परम उपासक होते हैं। उनके पुनीत ग्रन्थ अपने हैं जिनमें बासव-पुराण प्रख्यात है। वे वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते और परम्परागत हिन्दुत्व की सामाजिक तथा सैद्धांतिक व्यवस्था से भी उनका विरोध है।' लिंगायत सम्प्रदाय के लोग पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। ब्राह्मणों की जातीय श्रेष्ठता को वे स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत यों कहना चाहिए कि वे इसका प्रबल विरोध करते हैं; यद्यपि लिंगायत सम्प्रदाय के संस्थापक वास्प का जन्म ब्राह्मण परिवार में ही हुआ था। लिंगायत लोग विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं। इस मत के प्रचार से कन्नड़ देश में जैन धर्म को बहुत क्षति पहुँची। लिंगायतों ने कन्नड़ भाषा में साहित्य-सृजन किया।

देवगिरि के यादव

यादव लोग अपने को भगवान कृष्ण के वंशज, यदुवंश का बताते हैं। पहले वे राष्ट्रकूटों के सामन्त थे, बाद में पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति बढ़ने पर यादव लोग उनके सामन्त हो गये। उत्तरवर्ती चालुक्यों के समय में, विशेषतया विक्रमादित्य षष्ट के शासन-काल में, यादव वंश का प्रमुख सेन्तुचन्द्र चालुक्य राज्य के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया। विक्रमादित्य षष्ट ने यह अनुभव किया कि वह बिना स्थानीय सरदारों की सहायता के अपने साम्राज्य का शासन सम्यक् रूपेण नहीं चला सकता, अतएव उसने उन सरदारों की सहायता तथा भक्ति प्राप्त करने के लिए उनको स्थानीय शासन की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सेन्तुचन्द्र का शासन गोदावरी नदी के मैदानी भाग (खानदेश) पर था। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसने अपनी शक्ति को बढ़ाया। बाद में सेन्तुचन्द्र के पुत्र ने अपने पिता के कार्य को जारी रक्खा। कल्याण में कलचुरी अन्तराधिपत्य के कारण यादव लोग कुछ काल तक अपनी शक्ति का अधिक विकास कर सके। सोमेश्वर चतुर्थ के समय यादव लोग

स्वतन्त्र हो गये। यादवों की स्वतन्त्रता का प्रतिष्ठापक भिल्लम पञ्चम था जिसने सोमेश्वर चतुर्थ से कृष्णा नदी के उत्तरवर्ती प्रान्त छीन लिये। भिल्लम पञ्चम ने सम्राटों के विरुद धारण किये और अपनी राजधानी देवगिरि में बसाई। उसी के समय से देवगिरि के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

अपने विद्रोही सामन्तों को दबाने के प्रयत्न में भिल्लम पञ्चम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। भिल्लम पञ्चम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र और उत्तराधिकारी जैत्रपाल प्रथम अथवा जैतुगी देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। जैतुगी ने ११९१ ई० से लेकर १२१० ई० तक शासन किया। १२१० ई० में जैतुगी की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिंहण राजा हुआ, जो यादव वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था।

सिंहण—सिंहण के सैंतीसवर्षीय शासन-काल (१२१०-१३४७ ई०) में देवगिरि के यादवों का राज्य अपने विस्तार और गौरव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। १२३१-३२ ई० और १२३७-३८ ई० में सिंहण ने दो बार गुजरात पर आक्रमण किये और बल्लाल द्वितीय के विरुद्ध युद्ध छेड़ कर उसने उससे मालप्रभा तथा कृष्णा नदी के दक्षिण में काफी विस्तृत भूमि छीन ली।

सिंहण ने भास्कराचार्य के वंशजों का समादर करना जारी रक्खा। उसका राज्य-ज्योतिषज्ञ छांगदेव था, जो भास्कराचार्य का पौत्र तथा लक्ष्मीधर का पुत्र था। छांगदेव ने पातना में एक विद्यालय खोला था जहाँ पर भास्कराचार्य के 'सिद्धान्त शिरोमणि' तथा अन्य ग्रन्थ पढ़ाये जाते थ। सिंहण की राजसभा को सारंगधर सुशोभित करता था जिसका 'संगीत-रत्नाकर' तत्कालीन संगीत साहित्य में सचमुच एक रत्न है। इस ग्रन्थ के ऊपर एक टीका प्रस्तुत है और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह टीका स्वयं सिंहण ने लिखी थी। सिंहण एक नीतिकुशल शासक और महान् निर्माता भी था। उसने अपने राज्य में ८४ दुर्ग बनवाये और अपने सामन्तों को भी ऐसा करने की आज्ञा दी।

सिंहण के उपरान्त उसका पौत्र कृष्ण सिंहासन पर बैठा। कृष्ण ने १२४७ ई० से लेकर १२६० ई० तक शासन किया। कृष्ण का भाई और उत्तराधिकारी महादेव (१२६०-७१ ई०) एक सामर्थ्यशाली शासक था। महादेव का १२७१ ई० में देहान्त हो गया और यादवों का शासक रामराज अथवा रामचन्द्र हुआ।

यादव राजा रामचन्द्र के समय में दिल्ली के खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन ने देवगिरि पर आक्रमण किया। रामचन्द्र को मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। देवगिरि के यादव राज्य का उन्मूलन अलाउद्दीन खिल्जी के उत्तराधिकारी मुबारक खिलजी के समय में हुआ।

वारंगल के काकतीय

दक्कन के चालुक्य साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर जो नवीन राजवंश उठ खड़े हुए उनमें काकतीयों का राज्य भी एक था। काकतीयों के मूल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ अभिलेखों में काकतीयों को शूद्र बताया गया है किन्तु स्वयं काकतीयों की "गल्प भरी वंश-तालिका से" जिसमें रघुकुल के अनेक नाम मिलते हैं, विदित होता है कि काकतीय सम्भवतः सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे।

काकतीय वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति बेता था, जो कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ट का सामन्त था। प्रौल द्वितीय ने चालुक्यों की राजसत्ता

को विनाशोन्मुखी देखकर तथा कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के कारण वेंगी में उत्पन्न अराजकता से लाभ उठाकर कृष्णा तथा कावेरी नदियों के मध्यवर्ती भू भाग पर अपना अधिकार जमा लिया और अन्मकोंड़े (अथवा हनुमकोंड़े) में अपनी राजधानी बसाई। ऐसी अनुश्रुति है कि प्रौल द्वितीय ने कल्याणी के तैलप तृतीय को ११५५ ई० के लगभग पराजित किया और उसे बन्दी बना लिया; किन्तु बाद में उसे मुक्त भी कर दिया गया। प्रौल द्वितीय ने अपने राज्य में अनेक जलाशय खुदवाये और कृषि में सुधार करने की ओर ध्यान दिया।

प्रौल द्वितीय की मृत्यु ११६२ ई० में हुई और उसके पश्चात् रुद्र अथवा प्रतापरुद्र काकतीय वंश का नृपति हुआ। अपने पिता की भाँति प्रताप रुद्र को भी सिंहासन प्राप्त करते समय विद्रोही सामन्तों का दमन करना पड़ा था। डोम्म और मालिगिदेव नामक दो तिलगू सरदारों से प्रतापरुद्र ने उनकी जागीरें छीन लीं। भीम नामक एक शक्तिशाली सरदार ने अन्य सरदारों की जागीरें छीन कर अपने अधिकार में कर लीं और इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसने प्रतापरुद्र की राजधानी वारंगल की ओर प्रयाण किया और मार्ग में जितने भी छोटे-मोटे नगर पड़े उन सबको जीत लिया। किन्तु भीम से प्रतापरुद्र को पराजय खानी पड़ी और युद्ध भूमि में ही उसके प्राण गये। इसी प्रकार गुन्टूर के चोल सरदार को भी काकतीय नरेश प्रतापरुद्र प्रथम ने दबा दिया और उसकी राजधानी में आग लगवा दी। उसने अन्य सामन्तों के गढ़ों और नगरों को भी विध्वस्त करा दिया और अपनी राजधानी वारंगल की प्राचीरें सुदृढ़ कराई। उसने अपनी राजधानी में अनेक मन्दिरों का निर्माण भी कराया। प्रतापरुद्र प्रथम का राज्य दक्षिण में समुद्र तक उत्तर में गोदावरी तक और पश्चिम में वर्तमान हैदराबाद नगर तक फैला हुआ था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी शासन-नीति भी उदारता और प्रजावत्सलता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने स्वयं एक-एक नीतिसार का संस्कृत और तेलगू भाषाओं में प्रणयन किया। उसकी धार्मिक रुचि वीर शैव सम्प्रदाय की ओर थी जिससे प्रेरित होकर उसने सोमनाथ को राजाश्रय प्रदान किया। सोमनाथ संस्कृत, तेलगू और कन्नड़, इन तीन भाषाओं का पंडित था। उसने वीर शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर कई ग्रन्थ लिखे। नन्नेछोडु ने, जो कलहस्ति का सरदार था, 'कुमार सम्भव' लिखा। यह काव्य ग्रन्थ तेलगू-भाषा में लिखा गया है और इस पर महाकवि कालीदास के 'कुमारसम्भव' का प्रभाव सुस्पष्ट रूपेण दृष्टिगत होता है। प्रतापरुद्र प्रथम की मृत्यु (११९९ ई०) के पश्चात् उसका अनुज महादेव सिंहासनारूढ़ हुआ किन्तु उसे यादवराजा जैतुगि ने सिंहासन-च्युत कर दिया। जैतुगि ने काकतीय गणपति को वारंगल के सिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया।

गणपति—गणपति काकतीय वंश का एक शक्तिशाली और प्रसिद्ध शासक था। उसका समकालीन यादव नरेश सिंहण था, जिसके विषय में हम पीछे पढ़ चुके हैं। गणपति ने अपने सामन्तों के प्रति उदारता दिखाई और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर लेने के बाद गणपति ने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। एक अभिलेख से पता चलता है उसने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाक, लाट और पलान्दु के शासकों को पराजित किया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यादव नरेश सिंहण और गणपति के पारस्परिक युद्धों का कोई निर्णयात्मक परिणाम न निकला। आन्ध्र देश से ११८६

ई० के लगभग वेलनान्ति चोड़ों के निकल जाने के कारण वहाँ की राजनीतिक स्थिति अशान्तिमय हो गई। आँन्ध्र की इस राजनीतिक अशान्ति से लाभ उठाकर गणपति ने (१२०९-१० ई०) के लगभग वहाँ अपना अधिकार जमा लिया और वहाँ की उर्वरा भूमि तथा हीरे की खानों एवं वहाँ के बन्दरगाहों से अधिकतम लाभ प्राप्त किया। नेल्लौर के तेलगू-चोठों ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली। गणपति ने छूकपट्ट तथा कर्नूल के कायस्थ शासकों, गांगेय साहिनि तथा उसके भतीजों, त्रिपुरान्तक तथा अम्बदेव को अपने अधीन किया। इसके पश्चात् गणपति ने अपनी एक मात्र पुत्री रुद्राम्बा को अपने राज्य की उत्तराधिकारिणी नियुक्त किया और उसे 'रुद्रदेव महाराज' नाम से विभूषित किया। मोतपल्लि में जो विदेशी व्यापारी तिजारत करते थे उनको उसने 'अभयशासन' द्वारा व्यापार की छूट प्रदान की। कादव कोपरर्नुजिग ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

गणपति के सुदीर्घ शासन-काल में (११९१-१२६१ ई०) काकतीय वंश अपने राजनीतिक उत्कर्ष की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया। कामकतीय वंश की सीमायें काफी दूर तक फैल गयीं। गणपति के स्त्री जय ने अनेक प्राचीन मन्दिरों को दान दिये और कितने ही नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया। पन्डेश्वर, चिदेश्वर गणपतेश्वर, पुष्पागि, भीमेश्वर, मेलमैकेश्वर आदि देवताओं के मन्दिरों का निर्माण अथवा पुनर्निर्माण गणपति काकतीय के मंत्री जय ने ही कराया था। चोल सम्राट् कुलोत्तुंग प्रथम का अनुसरण करते हुए गणपति ने वस्तुओं के आयात और निर्यात से अनेक कर उठा लिये और सामुद्रिक व्यापारियों को सुविधायें प्रदान कीं। उसने 'पाकल' नामक एक झील का भी निर्माण कराया। गणपति शैव मतानुयायी था, अतएव उसने अपने राज्य में शैवों के प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित की। गणपति ने धार्मिक साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके समय में दक्षिणी भारत का विदेशी व्यापार काफी बढ़ गया और देश के धन तथा समृद्ध में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई।

गणपति के पश्चात्—१२६१ ई० में गणपति की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री रुद्राम्बा सिंहासन पर बैठी। रुद्राम्बा के शासनकाल में काकतीय राज्य में कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं हुई। केवल दो-एक सामन्तों ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया किन्तु उनका विद्रोह कुचल दिया गया। उसके समय में मार्कोपोलो नामक वेनिस के एक पर्यटक ने उसके राज्य का भ्रमण किया था। मार्कोपोलो ने अपने यात्रा-विवरण में रुद्राम्बा के शासन की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ और न्यायपूर्ण है तथा सामन्तों के सिद्धान्तों पर आधारित है। रुद्राम्बा को उसकी प्रजा बहुत चाहती थी। कृष्णा नदी के मुहाने पर योतुपल्ली का बन्दरगाह था जो राज्य का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था। राज्य के व्यापार की स्थिति समृद्धिपूर्ण थी। हीरे और भड़कीले वस्त्र बहुत बड़े परिमाण में विदेशों को भेजे जाते थे। लोग गिद्धों की सहायता द्वारा गुफाओं से हीरे प्राप्त करते थे। रुद्राम्बा के नाती प्रताप रुद्रदेव ने यादवों के विरुद्ध युद्ध कर के ख्याति अर्जित की और १२८० ई० में वह युवराज मनोनीत कर लिया गया। आठ वर्ष बाद रुद्राम्बा के मन्त्री अम्बदेव ने विद्रोह कर दिया परन्तु युवराज ने एक चाल चल कर उसके विद्रोह को विफल कर दिया। १२९५ ई० में रुद्राम्बा की मृत्यु के उपरान्त प्रतापरुद्रदेव राजा हुआ। प्रताप रुद्रदेव ने १३२६ ई० तक शासन किया। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में ही उसने अदोनी और रायचूर

के दुर्ग यादवों से छीन लिए और इन दुर्गों के निकटवर्ती भू-भागों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया। प्रताप रुद्रदेव ने शासन व्यवस्था में सुधार करने का प्रयत्न भी किया। उसने अपने राज्य को ७७ भागों में विभक्त किया और प्रत्येक का शासन एक नायक के अधीन कर दिया। प्रताप रुद्रदेव को "वैद्यनाथ ने प्रतापरुद्रीय नामक अलंकार ग्रन्थ समर्पित कर अमर कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय वंश का अन्तिम प्रभावशाली नरेश था और उसे मलिककाफूर की दक्षिण आक्रमण-यात्रा के समय मुसलमानों के प्रति आत्म-समर्पण करना पड़ा। तदन्तर काकतीयों का प्रभाव घटने लगा और अन्त में उसका राज्य दक्कन के बहमनी सुल्तानों के हाथ में चला गया।"

द्वारसमुद्र के होयसल

अनुश्रुति के अनुसार होयसल वंश का संस्थापक साल था। कहा जाता है कि साल ने जैन मतानुयायी किसी महात्मा को एक व्याघ्र के आक्रमण से बचाया था। इस घटना (पोयसल, अर्थात् मारना, साल) के परिणामस्वरूप इस राजकुल को पोयसल और होयसल संज्ञा मिली। होयसल वंश के एक व्यक्ति माञ्जिग को चोल सेनानायक अप्रेमेय्या ने १००४ ई० के लगभग मार डाला था। कुछ दिनों तक साल का वंश बिलकुल लुप्त सा रहा किन्तु १०२२ ई० में नृपकाम इस वंश का प्रमुख हुआ जिसने चोल सम्राट के प्रान्तीय गवर्नरों से युद्ध किया। नृपकाम ने अपने वंश के भावी गौरव की नींव डाली। सरदारों के विरुद्ध उसने जो युद्ध किये उनमें उसे सफलता प्राप्त हुई। नृपकाम का उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (१०४७-११०० ई०) था जिसने होयसल वंश की मानप्रतिष्ठा में प्रमुख अभिवृद्धि की। उसकी नीतिकुशलता और वीरता से प्रभावित होकर कल्याणी के चालुक्य सम्राट् ने उसे अपना अधीनस्थ सामन्त बना लिया और उसे प्रान्तीय शासक के पद पर अधिष्ठित कर दिया। चोलों और चालुक्यों के बीच निरन्तर जो युद्ध होते रहे, उनके कारण होयसलों को बड़ा लाभ हुआ। विनयादित्य द्वितीय ११०१ ई० में परलोकगामी हो गया और उसका पौत्र बल्लाल प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। बल्लाल प्रथम को अपने कई विरोधी सामन्तों का दमन करना पड़ा। ११०८ ई० में बल्लाल प्रथम का अनुज विहिगदेव होयसल वंश का राजा हुआ।

विहिगदेव (११०८-११४१ ई०)—इसे ही वास्तविक अर्थ में होयसल वंश की राजसत्ता का प्रतिष्ठापक कहा जा सकता है। विहिगदेव के अभिलेखों में उसकी विजयों और सैन्य सफलताओं का विवरण कुछ विस्तार के साथ मिलता है। उसने चोलों, मदुरा के पाड्यों, मलाबार के निवासियों, दक्षिण कन्नड़ के तुलुओं तथा गोआ के कदम्बों को परास्त किया और कृष्णा तथा काञ्ची तक धावे किए। तामिल देश पर आक्रमण करके वह रामेश्वरम तक पहुँच गया। "इस प्रकार विहिग ने एक विस्तृत भू-भाग पर जिसमें प्रायः सारा मैसूर और निकटवर्ती प्रदेश शामिल थे, अपना प्रभुत्व स्थापित किया।" इसके बहुत से सुवर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर कन्नड़ भाषा में 'तालकद-युगोन्द' विरुद उत्कीर्ण है। विहिग की राजधानी द्वारसमुद्र थी। विहिग पहले जैन मतानुयायी था किन्तु बाद में रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वह वैष्णव हो गया। वैष्णव मत में दीक्षित हो जाने पर उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रख लिया था। शैव मत को भी विहिग विष्णुवर्धन ने राजाश्रय प्रदान किया। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया जिनमें बेलूर का मन्दिर प्रसिद्ध है। मद्दूर और श्रीरंगपट्टम के विष्णु मन्दिर भी विष्णुवर्धन के समय में ही बनवाये गए थे।

विहिगदेव विष्णुवर्द्धन की मृत्यु के बाद सन् ११४१ ई० में नरसिंह प्रथम होयसलों का नृपति हुआ। अपने सिंहासनारोहण के समय नरसिंह प्रथम केवल आठ वर्ष का बालक ही था। उसके राज्य-काल में कोई विजयकार्य सम्पन्न नहीं किया गया किन्तु नरसिंह प्रथम के पुत्र वीर बल्लाल प्रथम (११७२-१२१५ ई०) ने अपने को योग्य और शक्तिशाली शासक प्रमाणित किया। उसने अपने ४३ वर्ष के शासनकाल में होयसल वंश की राजशक्ति को खूब बढ़ाया। वीर बल्लाह होयसल वंश का प्रथम शासक था जिसने सम्राटों के विरुद धारण किए। उसने बनवासी और नोलम्बवाडी के विजय-कार्य को पूर्णरूपेण सम्पन्न किया तथा पान्ड्यों का सफलतापूर्वक दमन किया। कल्याण पर यादवों तथा काकतीयों को आक्रमणकारी के रूप में आया हुआ जानकर वीर बल्लाल भी अपनी सेना लेकर उस ओर बढ़ा। मोदग नामक स्थान के निकट युद्ध हुआ जिसमें यादव नरेश भिल्लम पंचम को वीर बल्लाल के हाथों पराजय स्वीकार करनी पड़ी। ११९० ई० में लोक्कुन्दी के दुर्ग पर होयसलों का अधिकार हो गया। चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर चतुर्थ को पराजित करके वीर बल्लाल अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी और उत्तर में कृष्णा नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। उसने कृष्णा की एक सहायक नदी मालप्रभा को अपने राज्य की उत्तरी सीमा निर्धारित किया। होयसल राज्य की यही सीमा अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक मलिक काफूर के आक्रमण तक स्थित रही। ११९१-९२ ई० में ही वीर बल्लाह ने कई सम्राटोचित्त उपाधियाँ धारण कीं और इसी वर्ष से उसने एक नया सम्वत् चलाया। १२१५ ई० में उसकी मृत्यु के समय होयसलों का राज्य अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उसने वैष्णवों को राजाश्रय प्रदान करने की नीति जारी रक्खी।

वीर बल्लाल प्रथम की मृत्यु के पश्चात् नरसिंह द्वितीय द्वारसमुद्र के सिंहासन पर बैठा। इस समय तक (१२१६ ई०) कुलोत्तुंग तृतीय की मृत्यु हो गई थी जिससे चोलों की शक्ति बिलकुल तहस-नहस होने जा रही थी। लेकिन नरसिंह द्वितीय ने चोलों की सहायता प्रदान की और यादव-सेना कृष्णा के पार पहुँच गई। नरसिंह द्वितीय के बाद वाले होयसल राजाओं के विषय में कुछ विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। केवल इतना पता चलता है कि वे चोलों और पाण्ड्यों से लड़ते रहे। किन्तु वीर बल्लाल प्रथम ने होयसलों को उनके राजनीतिक उत्कर्ष की जिस सीमा तक पहुँचा दिया था, उसके कारण बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में दक्षिण भारत की राज नीतिक शक्तियों में उनका प्रमुख स्थान था। चौदहवीं शताब्दी में सुदूर दक्षिण में विजय नगर के हिन्दू राज्य की स्थापना में होयसलों का भी योगदान महत्वपूर्ण था।

होयसल शासकों ने कवियों को राजाश्रय प्रदान किया जिससे उनके राज्य में विद्या, साहित्य और कला की उन्नति हुई। वे विशाल मन्दिरों के निर्माता थे और उन्होंने अनेक इमारतें बनवाईं जो आज भी हलेविद तथा अन्य स्थानों में खड़ी हैं और उनकी कलाप्रियता तथा धर्मानुरागिता प्रगटित करती हैं। विष्णुवर्द्धन ने नागचन्द्र अथवा अभिनव पम्पा को अपनी राजसभा में स्थान दिया था। कान्ति नामक भिक्षुणी भी कन्नड़ भाषा की प्रसिद्ध कवियित्री थी, जो सम्भवतः विष्णुवर्द्धन की समकालीन थी। राजादित्य ने गणित के नियमों को छन्दोबद्ध किया। नयसेन एक आचारवादी व्यक्ति और अपने समय का प्रसिद्ध विद्वान तथा लेखक था। नेमिचन्द्र नामक विद्वान ने सुबन्धु की वासवदत्ता के मॉडल पर कन्नड़ भाषा में 'लीलावती' ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसे कुछ विद्वान् कन्नड़ भाषा का प्रथम उपन्यास मानते थे। पम्पा, कान्ति, राजादित्य और नयसेन, ये सभी जैन मतावलम्बी थे, जिससे यह सिद्ध होता है कि कन्नड़ भाषा

को साहित्यसृजन द्वारा समृद्ध बनाने में जैनियों का योग महत्वपूर्ण था। होयसल राजाओं के समय में हरीश्वर ने 'गिरिजा कल्याण' और राघवणक ने 'हरिश्चन्द्र' काव्य लिखा। ये दोनों साहित्यकार वीर शैव सम्प्रदाय से अनुयायी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कन्नड़ भाषा की उन्नति की दृष्टि से होयसलों का समय काफी महत्वपूर्ण था।

चोल राजकुल

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के लगभग कात्यायन ने चोलों का उल्लेख किया है। अशोक के द्वितीय शिलालेख में पाड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के साथ चोलों के स्वतन्त्र राज्य का उल्लेख मिलता है। इन राज्यों के साथ अशोक का मैत्री सम्बन्ध था। मौर्य साम्राज्य के पश्चात् ईसा की प्रारम्भिक दूसरी-तीसरी शताब्दियों में तामिल राज्यों की स्थिति का विवरण हमें 'संगम युग' के तामिल साहित्य तथा रोमन लेखकों, जनमें प्लनी और 'पेरिप्लस' के अज्ञात लेखक अधिक उल्लेखनीय हैं, द्वारा प्राप्त होता है।

तामिल साहित्य में चोल वंश के जिन राजाओं का उल्लेख मिलता है, उसमें करिकाल ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ता है। करिकाल इस युग में चोलवंश का एक शक्तिशाली और सुप्रसिद्ध शासक था। करिकाल एक महान् विजेता था। उसने अपने सैन्य विजयों द्वारा सुदूर दक्षिण के अन्य राजाओं पर चोलों की धाक जमा दी। करिकाल ने चोल राज्यों की सीमा का विस्तार किया। करिकाल की राजनीतिक सफलताओं का जितना अधिक महत्व है उतना ही महत्व उसकी शक्तिकालीन विजयों का है। उसने जंगलों को साफ कराया और उनमें लोगों को बसाया। सिचाई के लिए जलाशय खुदवाकर उसने अपने र ज्य की आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने का प्रयत्न किया। करिकाल वैदिक धर्म का अनुयायी था और उसने यज्ञों का अनुष्ठान किया था। पेरुनर किल्ली भी चोल वंश का एक शक्तिशाली शासक था, जिसने राजसूय यज्ञ किया था। तामिल राजाओं में केवल पेरुनर किल्ली को ही राजसूय यज्ञ करने का गौरव प्राप्त था। कोच्चन्न गणन नामक चोलनृपति ने भी करिकाल की भाँति पर्याप्त ख्याति अर्जित की। संगम-युग के चोल राजाओं से कलभ्रों ने राजनीतिक शक्ति छीन ली। पल्लवों के उत्कर्ष से भी चोल शक्ति को काफी धक्का पहुँचा, फिर भी चोलों का पूर्ण विनाश नहीं किया जा सकता। साहित्य ग्रन्थों तथा अभिलेखों में यदा-कदा उनका उल्लेख प्राप्त हो जाता है। संगम-युग के बाद से विजयालय के पूर्व तक की छः शताब्दियों में चोलों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, यद्यपि इतना सत्य है कि उनका प्रभाव अत्यन्त परिमित था।

संगम-युग में तामिल देश का समाज और वहाँ की संस्कृति

संगम युग की तामिल देशीय संस्कृति आर्य तथा द्रविड़ संस्कृतियों के तत्वों से मिश्रित हो कर बनी थी। तामिल देश की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ उत्तरापथ की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं से काफी मिलती-जुलती थीं। तामिल-नरेश अपनी राजधानी में राजभवनों पर ड्योढ़ीदारी कराने के लिये यवन-प्रहरियों को नियुक्त किया करते थे। समाज का आर्थिक ढाँचा कृषि कर्म पर अवलम्बित था किन्तु उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की स्थिति बहुत ही उत्तम थी। नौकाओं द्वारा जल-मा से व्यापार-सामग्रियाँ भेजी जाती थीं और स्थल मार्गों में

बोझ ढोने का कार्य पशुओं से लिया जाता था। अति प्राचीन काल से ही दक्षिण के महीन वस्त्र तथा मोतियों के प्रति उत्तर के लोग आकृष्ट थे। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने तामिल देश के मोतियों और सूती वस्त्र का उल्लेख किया है। तामिल देश के निवासी व्यापारकुशल थे और वे पश्चिमी देशों तथा रोमन साम्राज्य से व्यापार किया करते थे। रोम के व्यापारी प्रायः तामिल देश के बन्दरगाहों से आया करते थे और कुछ प्रमुख केन्द्र में उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। म्यूजिरिस (क्रन्गनोर) में पश्चिमी समुद्र-तट पर रोमन व्यापारियों ने अपने सम्राट आगस्टस का एक मन्दिर बनाया था। दक्षिण में रोमन साम्राज्य की सुवर्ण तथा रजत मुद्राएँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार से तामिल लोगों को अधिक लाभ होता था। संगमयुग तक तामिल देश का विदेशी व्यापार अत्यन्त समृद्ध रहा किन्तु बाद में इसका ह्रास होने लगा। 'पेरिप्लस' में दक्षिण भारत के अनेक बन्दरगाहों तथा उनकी प्रसिद्ध व्यापार सामग्रियों का व र्न विस्तारपूर्वक किया गया है। भूगोलकार तालेमी लगभग १४० ई०) को दक्षिण भारत के अनेक आन्तरिक नगरों का ज्ञान था और उसने उनके बाजारों तथा व्यापार सामग्रियों का काफी विस्तृत वर्णन किया है। पूर्वीय देशों के साथ भी तामिल लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध था और वे जहाजों में अपनी व्यापार सामग्रियाँ—गरम मसाले, मिर्च, अदरक, मोती, रत्न, सुगंधित द्रव्य आदि—लादकर सुदूर पूर्व तथा मलाया द्वीपों की यात्रा किया करते थे।

धनाढय व्यक्तियों के घर बड़े कलापूर्ण होते थे। ये चूने तथा ईटों के बनाए जाते थे और भीतरी दीवारों पर देवताओं तथा पशुओं के चित्र टँगे रहते थे। घर को चारों ओर से एक प्रमोद-उद्यान घेरे रहा करता था। जन-साधारण का जीवन भी प्रमोदमय था। वे मल्ल युद्धों के बड़े शौकीन होते थे। झोपड़ों में रहते थे। और मछली पकड़ने में बड़े कुशल होते थे। लोगों को धार्मिक जीवन पर आर्यों की धार्मिक विचार धारा का गहरा प्रभाव पड़ा था। संगम युद्ध से तामिल कवि वैदिक तथा संस्कृत महाकाव्यों की दन्त-कथाओं से पूर्णतया परिचित थे और उन्होंने धर्मशास्त्रों की आचार सम्बन्धी मान्यताओं का यथास्थान निरूपण किया है। 'मणिमेकलाई' तथा 'सिलप्पद्दिकारम्' नामक तामिल महाकाव्यों में, जिनका प्रणयन सम्भवतः संगम युग के आस-पास किया गया था, आर्यों की पौराणिक कथाओं का उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। आर्यों के कर्मकाण्डों तथा धार्मिक अनुष्ठानों का प्रचार इस समय तक दक्षिण में भली प्रकार हो चुका था। संगम युग के चोल शासकों द्वारा वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का परिचय प्राप्त होता है। आर्यों की वैदिक विवाह रीति भी तामिल-समाज द्वारा अंगीकृत की जा रही थी। शिव, बलराम और कृष्ण तथा मुरुगण तामिलों के प्रसिद्ध उपास्य देव थे। वैदिक देवता इन्द्र की पूजा भी समय-समय पर की जाती थी। भजन-पूजन-विधि में संगीत को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। तामिल देश के निवासियों की विचारधारा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव भी पर्याप्त रूप से पड़ा।

संगम युग से विजयालय तक—यह कहा जा चुका है कि कलभ्र लोगों ने चोलों की राजनीतिक शक्ति को काफी क्षति पहुँचाई। उत्तर भारत के पल्लवों ने तामिल देश में अपना राज्य स्थापित कर लिया, जिससे चोल राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्राप्त न हो सका। 'उरैपुर' नामक भाग के निकटवर्ती चोलों की स्थिति सामन्तों के समतुल्य थी कन्तु कुदप्पा तथा करनूल जिलों के चोलों की शक्ति कुछ अधिक थी। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने रेनान्दु चोलों की राजनीतिक

शक्ति का उल्लेख किया है। वह लिखता है "चु-लि-ये-(चूल्य अथवा चोल) देश प्राय: २४०० या २५०० ली (मील) में फैला हुआ है और उसकी राजधानी का घेरा लगभग १० ली है। देश अधिकतर उजाड़ है और उसमें दलदली और बनों का प्रभूत विस्तार है। देश की जनसंख्या बहुत थोड़ी है और सैनिक तथा डाकू खुले तौर पर देश को लूटते हैं। जलवायु उष्ण है, प्रजा का स्वभाव बनैला और क्रूर है। लोग स्वाभाविक रूप से निर्दय हैं और उनका विश्वास सद्धर्म के विरुद्ध है। संघाराम उजाड़ और बन्द हैं और इसी प्रकार उनमें रहने वाले भिक्षु भी अपावन हैं। वहाँ दर्जनों देव मन्दिर तथा अनेक निर्ग्रन्थ भिक्षु हैं। जिस समय ह्वेनसाँग ने दक्षिण का पर्यटन किया था, वहाँ पर उस समय पल्लवों की राजसत्ता जमी हुई थी। सम्भवतः इस समय चोल वंशीय राजकुमार पल्लवों के अधीनस्थ सामन्त थे। चोलों का राजनीतिक सम्बन्ध दक्षिणापथ तथा सुदूर दक्षिण की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों चालुक्यों तथा पल्लवों के साथ बहुत गहरा था। चालुक्यों तथा पल्लवों के पारस्परिक संघर्षों से लाभ उठाकर चोलों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली।

विजयालय तथा आदित्य—नवीं शताब्दी के मध्य में विजयालय ने तंजौर पर अपना अधिकार जमाकर चोलों की राजनीतिक शक्ति को प्रतिष्ठापित किया। विजयालय पल्लवों का सामन्त था। उसने पाण्ड्यों के सामन्तों मुत्तरैयर लोगों से तंजौर छीन लिया, जिसके फलस्वरूप पल्लवों और पाण्ड्यों में संघर्ष छिड़ गया। श्रीपुरम्बियम के युद्ध में विजयालय के पुत्र आदित्य ने अपने स्वामी पल्लव राज अपराजितवर्मन का साथ दिया। अपराजित वर्मन को युद्ध में सफलता प्राप्त हुई, जिसके उपलक्ष्य में उसने आदित्य को तंजौर का निकटवर्ती प्रदेश दे दिया। इधर पल्लवों की शक्ति भी ह्रासोन्मुखी थी, अतएव ८८३ ई० के लगभग आदित्य ने अपराजित वर्मन को पराजित कर दिया और काञ्ची को अपने अधिकार में कर लिया। सम्पूर्ण पल्लव राज्य को अपने अधिकार में कर लेने पर आदित्य प्रथम चोल की राज्यसीमा उत्तर में राष्ट्रकूट राज्य सीमा का संस्पर्श करने लगी। गंग पृथ्वीपति द्वितीय ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। आदित्य ने विवा सम्बन्धों द्वारा भी अपनी स्थिति सुदृढ करने का प्रयत्न किया। उसने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की राजकन्या से अपना विवाह किया और उसके द्वारा एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम कन्नरदेव था। स्थाणु रवि ने अपनी पुत्री का विवाह आदित्य के परान्तक के साथ कर दिया। चेर-नरेश स्थाणु रवि की सहायता से आदित्य ने पाज्ड्यों से कोयम्डटूर तथा सलेश के प्रदेश छीन लिए। इस प्रकार आदित्य चोल कलहस्ति से लेकर युदुकोट्ट तथा कोयम्बटूर तक के प्रदेश का स्वामी हो गया। विजयालय और आदित्य दोनों ही शैव थे। आदित्य प्रथम ने शिव के कई मन्दिर बनवाये थे। उसकी मृत्यु कलहस्ति के निकट तोण्डैमानाद में हुई।

परान्तक—आदित्य प्रथम के पुत्र परान्तक (९०७-९५३ ई०) ने अपने शासन-काल के प्रारम्भ से ही माड्यों से निवटने की ओर ध्यान दिया। उसने मदुरा पर आक्रम करके मदुरैकोण्ड की उपाध धारण की। ९१५ ई० के लगभग वेल्लूर के युद्ध में परान्तक ने पाण्ड्यों तथा सिंहलों को पराजित कर दिया। अपने तृतीय रण-अभियान में ९२० ई० के लगभग परान्तक ने पाण्ड्य नरेश राजसिंह द्वितीय का राज्य से निकाल बाहर कर दिया और तीन वर्ष बाद उसने 'मदुरैयम्' इलमुमकोन्द' (मदुरा तथा लंका का विजेता' की उपाधि धारण की। परान्तक ने पल्लव राजसत्ता के अवशेष को भी समूल नष्ट कर दिया और उत्तर में नेल्लूर तक के भूभाग को अपने अधिकार में कर लिया। पश्चिमी गंग राजा पृथ्वीपति द्वितीय परान्तक का अधीनस्थ सामन्त

था। इस प्रकार परान्तक का राज्य उत्तरी पेन्नर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैल गया।

परान्तक प्रथम ने चालीस वर्षों तक शासन किया और अपने इस सुदीर्घ शासन-काल में उसे प्रायः सफलता ही प्राप्त हुई, पराभव नहीं। किन्तु उसके जीवन के अन्तिम दिन सुखपूर्वक व्यतीत न हो सके।

परान्तक प्रथम के उत्तर मेरु अभिलेखों में उसकी शासन-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। उसके शासन-काल में साहित्य की उन्नति हुई और कावेरी के तट वेंकट माधव ने ऋग्वेद पर एक भाष्य लिखा। ऋग्वेद पर वेंकट माधव प्रणीत भाष्य ही सम्भवतः सबसे प्राचीन भाष्य है। परान्तक प्रथम शिव का प्रथम परम भक्त था। चिदाम्बरम् के शिव मन्दिर पर उसने सोने की छत डलवाई थी। प्रोफेसर नीलकान्त का कथन है कि "वस्तुतः परान्तक का शासन-काल दक्षिण भारतीय-मन्दिर-वास्तु के इतिहास में एक महान् युग था और मन्दिर निर्माण का कार्य जिसे आदित्य प्रथम ने प्रारम्भ किया था, उसके शासन-काल के सर्वोत्तम भाग में सशक्त रूप में जारी रहा।"

परान्तक के पश्चात् और राजराज प्रथम के पूर्व—९५३ ई० में परान्तक की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद चोलों की शक्ति नाम मात्र को ही रही। ९८५ ई० में राजराज प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने चोलों की राजनीतिक शक्ति को न केवल पुनरुज्जीवित ही किया बल्कि उन्हें (चोलों को) उनके गौरव के उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। परन्तु ९५३ से ९८५ तक बत्तीस वर्ष का समय चोल इतिहास का तिमिरावृत्त युग है। उस युग में चोल राजाओं की वंशावली कुछ अनिश्चित है और इसी प्रकार से उनका कालक्रम भी निश्चित नहीं किया जा सकता। इस संक्षिप्त काल का इतिहास जानने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों के विरोधी मत हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि परान्तक के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र गण्डारदित्य चोल वंश का राज हुआ।

गण्डारदित्य की ख्याति राजनीति में न होकर धर्म के क्षेत्र में है। उसकी रानी सेम्बियन महादेवी बड़ी ही धर्मात्मा और दयालु स्वभाव की थी। गण्डारदित्य के भतीजे परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल ने अपने वंश की शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयत्न में वह पर्याप्त अंशों तक सफल ही रहा। उसने अपने पुत्र आदित्य द्वितीय की सहायता से पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया और वीर पाण्ड्य को युद्ध में मार डाला। परन्तु इस युद्ध का परिणाम अनिर्णयात्मक ही रहा। उत्तर में सुन्दर चोल को अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसने राष्ट्रकूटों के आधार से तोण्डमण्डलम् या कांची का प्रदेश छीन लिया। गण्डारदित्य के पुत्र उत्तम चोल ने, जो स्वयं चोल राज्य का स्वामी होना चाहता था, आदित्य को मार डाला। अपने सुयोग्य पुत्र तथा युवराज की हत्या से व्यथित हो कर सुन्दर चोल स्वर्ग सिधार गया। सुन्दर चोल के बाद उत्तम चोल ने ९७३ से लेकर ९८५ ई० तक शासन किया। उत्तम चोल ने सुवर्ण के सिक्के चलाये, जो चोल वंश के सबसे प्राचीन सिक्के हैं। उत्तम चोल के उपरान्त राजराज प्रथम को सिंहासन प्राप्त हुआ।

राजराज प्रथम—राजराज प्रथम परान्तक द्वितीय का पुत्र था। उसकी प्रथम उल्लेखनीय सफलता यह थी कि उसने कन्दलूर में चेरों के एक जहाजी बेड़े को विनष्ट कर दिया। दक्षिण में राजराज प्रथम ने केवल चेर-नरेश भास्कर रविवर्मन को ही नहीं

परास्त किया, अपितु उसे पाण्ड्यनरेश तथा लंकाधिपति के विरुद्ध भी सफलता प्राप्त हुई। उसने पाण्ड्य राज्य में चोलों का अधिकार जमा दिया और उत्तरी लंका को भी अपने राज्य में मिला लिया। लंका में अपनी विजय-स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए राजराज प्रथम ने वहाँ भगवान शिव का एक मन्दिर बनवाया। उत्तरी लंका का भू-भाग मुम्मडि-चोल-मण्डलम् के नाम से चोल प्रान्त बन गया। पाण्ड्यों और चेरों की शक्ति को दबाये रखने के उद्देश्य से राजराज प्रथम कुर्ग तक अपनी विजय-वाहिनी ले गया। सन् ९९१ से १००४ ई० के बीच में उसने गंगवाडी तथा मैसूर के अन्य प्रान्तों को विजित कर लिया। पश्चिमी चालुक्य नरेश सत्याश्रय को राजराज प्रथम के द्वारा गहरी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इस युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के बाद राजराज ने रट्टपाड़ी पर अधिकार कर लिया और चालुक्य देश को रौंद डाला। तुंगभद्रा नदी चोल साम्राज्य की सीमा बन गई। राजराज प्रथम ने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने उनकी पारस्परिक कलहों का अन्त करके उनके साथ मैत्री स्थापित कर ली। इस मैत्री के स्मारक में राजराज प्रथम ने अपनी कन्या कुन्दव्वै का विवाह विमलादित्य (वेंगी नरेश) के साथ कर दिया। अपने राजत्वकाल के अन्तिम दिनों में राजराज प्रथम ने लक्कदीव और मालदीव के द्वीप समूहों को विजित किया। इन द्वीप समूहों की विजय से यह स्पष्ट तथा प्रमाणित है कि राजराज प्रथम ने चोलों का एक जहाजी बेड़ा संगठित किया था। सुमात्रा के श्री विजय साम्राज्य के सम्राट् मार विजयोत्तुंगवर्मन के साथ राजराज प्रथम का मैत्री सम्बन्ध था और उसने मार विजयोत्तुंगवर्मन को नागपट्टम में एक बौद्ध विहार बनवाने की आज्ञा दे दी।

अपनी विजयों के फलस्वरूप राजराज प्रथम सम्पूर्ण वर्त्तमान मद्रास प्रान्त; कुर्ग, मैसूर और सिंहल के अनेक द्वीपों का स्वामी बन गया। इस सैन्य सफलताओं को ध्यान में रखने पर राजराज प्रथम को प्राचीन भारत के अग्रणी योद्धाओं, महान् विजेताओं और साम्राज्य निर्माताओं की पंक्ति में गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए।

राजराज प्रथम केवल वीर विजेता ही नहीं था वरन् एक सुयोग्य शासक भी था। उसने अपने विभिन्न शासन-सम्बन्धी कार्यों द्वारा अपने साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर दी।

राजराज स्वयं शिव का परम भक्त था किन्तु प्राचीन भारत के सभी महान् शासकों की भाँति वह धर्म के मामले में सहिष्णु था। उसने अपने राज्य में वैष्णव सम्प्रदाय को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया और यह हम पीछे पढ़ चुके हैं कि उसने श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन को बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति दे दी थी। स्वयं राजराज ने इस विहार को एक गाँव दान में दिया था। वह मन्दिर का निर्माता भी था। उसने तंजौर में अपने उपास्य देव शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर का नाम उसी के नाम के आधार पर 'राज-राजेश्वर' पड़ा। "यह मन्दिर अपने अंगानुपात, सादी रूपरेखा, सजीव मूर्तियों तथा असाधारण अलंकरणों की सुचारुता के लिए प्रसिद्ध है। मन्दिर की भित्ति पर राजराज प्रथम की विजयों का वृत्तान्त खुदा है और यदि यह प्रस्तुत न होता तो उस महान् नृपति के चरित का अधिकांश लुप्त हो जाता।'

राजेन्द्र प्रथम—राजराज प्रथम का सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र उसके पश्चात् नृपति हुआ। राजराज प्रथम ने पाण्ड्य नरेश के विरुद्ध जो युद्ध किया उसके परिणाम-स्वरूप वह केवल उत्तरी लंका का ही स्वामी हो सका किन्तु राजेन्द्र प्रथम ने १०१८ ई० में

सिंहल के नरेश से उसका राजदण्ड छीन लिया और उसके देश को विजित कर लिया। राजेन्द्र प्रथम ने उत्तरी भारत के राज्यों को जीतने का निश्चय किया। वह स्वयं अपनी सेना के साथ गोदावरी तक आया और आगे के देशों को जीतने के लिए उसने अपने सेनाध्यक्षों के साथ सेना भेज दी। गोदावरी नदी को पार कर राजेन्द्र प्रथम की सेनाएँ बस्तर और उड़ीसा होती हुई पश्चिमी बंगाल तक जा पहुँचीं। मार्ग में दो राजाओं को चोल सेना ने पराजित किया। इसके पश्चात् सेना ने गंगा नदी को पार किया और पाल नरेश महिपाल प्रथम को हराया।

राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड की महत्वाकांक्षा उसकी इन उपर्युक्त विजयों से शान्त न हो सकी। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में वही अकेला एक ऐसा शासक था जिसने भारत की सीमा के बाहर जलमार्गों द्वारा बंगाल की खाड़ी में अपने जहाजी बेड़े का प्रयोग किया। सन् १०२५ ई० के लगभग राजेन्द्र प्रथम ने केदारम् और श्री विजय के राज्यों के विरुद्ध अपना जहाजी बेड़ा तैयार किया। वृहत्तर भारत के इन राज्यों की विजय का वास्तविक उद्देश्य क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। डा० रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार, "सम्भवतः यह आक्रमण केवल राजेन्द्र प्रथम की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए नहीं किया गया था, वरन् इसका उद्देश्य मलय प्रायद्वीप और दक्षिण भारत के बीच व्यापार सम्बन्ध स्थापित करना भी था।"

राजेन्द्र प्रथम को अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में आन्तरिक विप्लवों का सामना करना पड़ा था। राजेन्द्र प्रथम के वृहत्तर भारत रण-अभियान के पश्चात् लंका ने अपनी स्वतंत्रता का बिगुल बजाया। पाण्ड्य और केरल राज्यों ने भी बगावत कर दी किन्तु राजेन्द्र प्रथम के पुत्र राजाधिराज प्रथम ने इस विद्रोह का सफलतापूर्वग दमन कर दिया। पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम को सफलता प्राप्त हुई। इस आक्रमण में चोल सेना ने कल्याणी को खूब लूटा-खसोटा। मैसूर आदि स्थानों में भी कुछ छोटे-मोटे आक्रमण किए गए। राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु १०४४ ई० में हुई।

राजाधिराज प्रथम—राज सिंहासन पर बैठते ही उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु उसने वीरता तथा धैर्यपूर्वक उन कठिनाइयों का सामना किया। राजाधिराज का शासन-काल अधिकतर युद्धादि कार्यों में ही व्यतीत हुआ। उसने सिंहल राज के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त करने पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

राजेन्द्र (देव) द्वितीय (ला० १०५२-६२ ई०)—राजेन्द्र द्वितीय राजाधिराज प्रथम का अनुज था। चालुक्य-नरेश सोमेश्वर प्रथम को राजेन्द्र द्वितीय ने कुडूगल संगमम् नामक स्थान पर १०६२ ई० में पराजित किया था। राजेन्द्र द्वितीय के समय में चोल साम्राज्य की सीमाएँ संकुचित नहीं होने पायीं।

वीर राजेन्द्र प्रथम (ला १०६३-७०)—राजेन्द्र द्वितीय का अनुज वीर राजेन्द्र उसका उत्तराधिकारी हुआ। चालुक्यों से उसने संघर्ष जारी रक्खा। कहते हैं कि सोमेश्वर प्रथम की चुनौती स्वीकार करके वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य पर आक्रमण किया। सोमेश्वर प्रथम रोगग्रस्त था, इसीलिए वह रणभूमि में उपस्थित न हो सका। इसके बाद चोल सम्राट् वेंगी तक पहुँच गया और वेजवादा के निकट पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया। वीर राजेन्द्र ने अपनी राजधानी में एक सुविशाल प्रासाद तथा अपने लिए एक राजसिंहासन बनवाया। वीर राजेन्द्र के समय में बुद्धमित्र ने "वीर सोलियम" नामक ग्रन्थ तामिल व्याकरण पर लिखा।

अधिराजेन्द्र—अधिराजेन्द्र ने अपने पिता वीर राजेन्द्र के साथ मिलकर दस वर्षों तक शासन किया। वीर राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् अधिराजेन्द्र चोल वंश का

नृपति हुआ किन्तु कुछ ही महीनों तक वह एक स्वतन्त्र नरेश की हैसियत से शासन कर सका। उसकी मृत्यु अल्पावस्था में ही हुई। अधिराजेन्द्र के समय में चोल राजसत्ता का प्रभाव और आतंक कम हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् चोल साम्राज्य का स्वामी कुलोत्तुंग हुआ।

कुलोत्तुंग प्रथम (१०७०-११२२ ई०)—कुलोत्तुंग प्रथम का वास्तविक नाम राजेन्द्र था। चोल साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को पुनरुज्जीवित करने के लिए एक शक्तिशाली तथा साहसी व्यक्ति की आवश्यकता थी और कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने को इस कार्य के लिए योग्य प्रमाणित किया। यद्यपि कुलोत्तुंग प्रथम वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश का था तथापि वह अपने को चोल समझा करता था। सिंहासन प्राप्त कर लेने के बाद उसे वाह्य विपत्तियों का सामना करना पड़ा। १०७३ ई० के लगभग यशः कर्ण कलचुरि ने वेंगी पर आक्रमण किया। दो वर्ष बाद लंका-नरेश ने अपने को चोलों की अधीनता से मुक्त करके स्वतंत्र घोषित कर दिया। १०७६ ई० के लगभग कुलोत्तुंग प्रथम को कल्याणी के प्रथम चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ट से युद्ध करना पड़ा। पूर्वी चालुक्य नरेश विजयादित्य सप्तम् को पराजित करने (१०७६ ई०) के बाद कुलोत्तुंग प्रथम ने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया और इसे सुदृढ़ बनाने के लिए परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित किये गये। पाण्ड्यों तथा चेरों पर कुलोत्तुंग प्रथम ने पुनः विजय प्राप्त की और उनको दबाये रखने के लिये उनके देशों में सैन्य उपनिवेश स्थापित कर दिए किन्तु उनके आन्तरिक मामलों में उन्हें पूरी स्वाधीनता प्रदान की गई।

कुलोत्तुंग प्रथम ने कलिंग राज्य को विजित करने की ओर ध्यान दिया। कलिंग के विरुद्ध उसने दो-रण अभियान भेजे। उत्तरी कलिंग का राज्य चोल साम्राज्य में मिलाया नहीं गया।

सन् १११७ ई० में कुलोत्तुंग प्रथम को होयसल नरेश विष्णु वर्द्धन के आक्रमण का सामना करना पड़ा। विष्णु वर्द्धन ने चोल नरेश से गंगवाडी का प्रदेश छीन लिया। उसने तलकाड के प्रदेश को भी जीत लिया और 'तलकदुगोन्द' उपाधि धारण की। १११८ ई० के लगभग विक्रमादित्य षष्ट ने जो कल्याणी का चालुक्य वंशीय राजा था, वेंगी पर अधिकार जमा लिया। लंका का राजा विजयबाहु स्वतंत्र हो गया। समुद्र पार के द्वीपों पर, जो राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड के समय में चोलों के अधीन थे, कुलोत्तुंग प्रथम के अधीन नहीं रह गये थे।

कुलोत्तुंग प्रथम चोल वंश का एक सुयोग्य शासक था। उसके अनेक अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि उसने शासन-व्यवस्था को सुसंगठित किया। उसने अपने शासन काल के सोलहवें तथा चालिसवें वर्ष में अपने राज्य भर में भमि का माप कराया था। उसने अनेक स्थानों पर कृषि-उपनिवेश स्थापित किए थे, जिससे यह सूचित होता है कि वह अपनी ग्रामीण प्रजा की आर्थिक समृद्धि का ध्यान रखता था। सैन्य-उपनिवेश स्थापित करके उसने राज्य सीमाओं की सुरक्षा पर ध्यान दिया।

कुलोत्तुंग प्रथम के शासन-काल का कुछ धार्मिक और साहित्यिक महत्व भी है। उसने सभी चोल शासकों की भाँति शैव मत को राजाश्रय प्रदान किया। उसने बौद्धों में प्रति सहिष्णुता दिखलाई और नागपट्टिनम के बौद्ध चैत्यों को अनेक दान दिये। महान् वैष्णव आचार्य रामानुज उसके समकालीन थे किन्तु उनके प्रति उसका व्यवहार असहिष्णु था। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य की प्रचार-पद्धति उस समय के परि-

पाटीग्रस्त समाज को अप्रीतिकर प्रतीत हुई जिससे कुलोत्तुंग प्रथम उनके प्रति असहिष्णुता दिखलाने के लिये बाध्य हो गया। रामानुज उसके अत्याचारों से तंग आकर मैसूर चले गऐ, जहाँ विडिगदेव ने उनका प्रभूत सम्मान और आदर सत्कार किया। 'पेरिया पुराणम' के प्रणेता सोक्कलार को कुलोत्तुग ने अपनी राज-सभा में स्थान दिया था। कलिगत्तुप्परनी के रचयिता जगोंदन और 'शिलपट्टिकारम्' पर भाष्य लिखने वाले आदि-यक्कुं नल्लर कुलोत्तुग प्रथम के समय के विख्यात सहित्यकार थे।

कुलोत्तुंग प्रथम के पश्चात् विक्रम चोल—कुलोत्तुंग प्रथम के प्राय: अर्ध शताब्दी के सुदीर्घ शासन काल में चोल साम्राज्य की स्थिति उसन्तोषप्रद रही किन्तु उसकी मृत्यु के बाद चोल वंश की शक्ति घटने लगी। परन्तु जहाँ तक सांस्कृतिक कार्यों का प्रश्न है, उनमें कमी नहीं आने पाई। कुलोत्तुंग प्रथम का उत्तराधिकारी विक्रम चोल ११२० ई० में चोल साम्राज्य का अधिपति हुआ।

कुलोत्तुंग द्वितीय—कुलोत्तुंग द्वितीय ने ११३५ ई० में अपने पिता विक्रम चोल की मृत्यु के पश्चात् शासन-सूत्र अपने हाथों में ग्रहण किया। चिदाम्बरम् के नट-राज मन्दिर की सेवा में उसने भी प्रभूत उपहार भेंट किये। तामिल साहित्य के इति-हास में कुलोत्तुंग द्वितीय का शासन-काल उल्लेखनीय है क्योंकि उसने और उसके सामन्तों ने ओट्टकुत्तम्, सेक्किलर तथा कम्बन आदि कवियों को राज्याश्रय प्रदान किया था।

कुलोत्तुंग द्वितीय के पश्चात् राजराज द्वितीय (११५०-७३) राजा हुआ। राज-राज द्वितीय राजाधिराज द्वितीय दुर्बल शासक था जिनके समय में चोल शक्ति का दिनोंदिन पतन होता गया। उत्तर में काकतीय वंश के शासकों ने चोलों पर वार करना आरम्भ कर दिया। गणपति और रूद्राम्बा के समय में काकतीय वंश की शक्ति प्रबल हो उठी और उन्होंने चोल साम्राज्य की उत्तरी सीमा के कुछ भूभाग पर अपना अधिकार जमा लिया। दक्षिण में पाण्डयों ने मारवर्मन सुन्दर पाण्डयो तथा जटावर्मन सुन्दर पाण्डयों के अधीन अपनी शक्ति का विकास करके चोल साम्राज्य के अधीनस्थ भागों को अपने अधिकार में कर लिया। पश्चिम में यही कार्य होयसलों ने किया। लंका के राजा पराक्रम बाहु ने चोलों से संघर्ष किया। कुलोत्तुंग तृतीय इस काल में चोल वंश का एक पराक्रमी शासक हुआ और उसने कुछ अंश तक अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक सामना किया। उसने अपने सैन्य-गुणों के द्वारा चोल साम्राज्य की रक्षा की और उसे नष्ट होने से बचाया। किन्तु कुलोत्तुंग तृतीय के उत्तराधिकारी राजराज तृतीय ने अपने को दुर्बल प्रमाणित किया। राजराज तृतीय अपने सामन्तों को भी वश में न रख सका। उसके समय में पल्लव जाति के सरदार कोपेरुजिंग ने विद्रोह करके उसे बन्दी बना लिया। ऐसी संकटापन्न स्थिति में चोल नरेश राजराज तृतीय की उसके श्वसुर नरसिंह (होयसल नरेश) ने अपनी एक सेना भेज कर की। इस सेना ने राजराज तृतीय को मुक्त किया। इसके पूर्व १२१५ ई० में होयसल राजा नरसिंह ने राजराज तृतीय को मारवर्मन सुन्दर पाण्डय के आक्रमण से बचाया था, जो तंजौर तक बढ़ आया था। पेरुन्चिङ्गन ने चोल साम्राज्य के कुछ भागों जैसे सेन्दमंगलम् (दक्षिणी अरकाट जिला) में अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता प्रतिष्ठित कर दी। अगले होय-सल राजा सोमेश्वर को भी जटावर्मन सुन्दर पाण्डय के विरुद्ध चोल नृपति की रक्षा करनी पड़ी। किन्तु चोल साम्राज्य के उत्कर्ष के दिन अब समाप्त हो चले थे। पाण्डयों की शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। राजेन्द्र तृतीय को जटावर्मन सुन्दर पाण्डय ने पराजित कर दिया और कांची पर, जहाँ चोल-शक्ति का प्रमुख केन्द्र था, अधिकार जमा लिया।

जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के उत्तराधिकारी मारवर्मन कुलशेखर ने चोल राज्य को रौंद डाला। चोल साम्राज्य के उत्तरी जिले तेलग सरदारों के नेतृत्व में स्वतन्त्र हो गए। ये तेलगू सरदार अपने को करिकाल चोल का वंशज बताते थे। कावेरी नदी के मैदान में रहने वाले चोलों का अस्तित्व स्थानीय सरदारों के रूप में कुछ और समय तक बना रहा। चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर के राजाओं ने चोलों के अवशेष को भी पूर्ण रूपेण नष्ट कर दिया।

चोल सभ्यता एवं संस्कृति

शासन

चोल राजाओं के अनेक अभिलेख उनकी शासन व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। चोलों की शासन व्यवस्था सुसंगठित तथा कतिपय विशिष्ट तत्वों से युक्त थी।

केन्द्रीय सरकार—चोल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था प्रमुखतः राजतन्त्रात्मक थी। चोल राज्य के एक विशाल साम्राज्य में परिणत हो जाने पर राजा का प्रभुत्व, ठाट-बाट तथा सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया। सम्राट् विविध प्रकार से अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयत्न किया करता था। उसकी एक से अधिक राजधानी होती थी और उसकी राजसभा ऐश्वर्यमयी तथा तड़क-भड़क से परिपूर्ण हुआ करती थी। वह अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान करता था और इन अवसरों पर ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा दान दिया करता था। इतना ही नहीं विशेष मन्दिरों के नाम सम्राटों के नाम पर रख दिये जाते थे। राजराजेश्वर मन्दिर और मन्दिरों में उसकी प्रतिमाएँ रक्खी जाती थीं।

चोल साम्राज्य में उत्तराधिकार की व्यवस्था बड़ी ही उत्तम और सुस्पष्ट थी। सम्राट् अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी चुन लेता था जिसे 'युवराज' कहते थे। 'युवराज' अपने पिता को शासनकार्य में सहायता प्रदान किया करता था। सम्राट् को शासन-कार्यों में सहायता देने के लिए कई कर्मचारी होते थे जिनको नकद वेतन नहीं वरन् भू-भाग के रूप में पारितोषिक दिया जाता था। यह एक उल्लेखनीय बात है कि चोल-शासन पद्धति में मन्त्रि-मण्डल नहीं था, किन्तु इस अभाव की पूर्ति एक योग्य कर्मचारी वर्ग के द्वारा हो जाती थी।

सेना और जहाजी बेड़ा—चोल सम्राटों के अधीन एक सुविशाल सेना हुआ करती थी। सेना में हाथी, अश्वारोही और पैदल होते थे। अभिलेखों में सेना के सत्तर सैन्य दलों का उल्लेख किया गया है।

चोलों का जहाजी बेड़ा अत्यन्त सुसंगठित था। इसी जहाजी बेड़े की सहायता से कदारम और श्री विजय के राज्य विजित किये गए थे।

भूमिकर और आय के साधन—चोल साम्राज्य की आय का प्रमुख भाग भूमिकर द्वारा प्राप्त होता था। भूमि कर ग्राम सभायें एकत्र किया करती थीं और किसानों को इस बात की सुविधा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी इच्छानुसार कर नकद सिक्के अथवा उपज के अंश चुकता करें। दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आने के कारण फसल नष्ट होने पर भूमिकर माफ कर दिया जाता था।

भूमिकर के अतिरिक्त विविध प्रकार के करों से भी राज्य को आमदनी हुआ करती थी। विभिन्न व्यवसायों यथा, सुनारों, व्यापारियों, बुनकरों पर भी कर लगाया

जाता था। खानों, वनों, नदियों, बाजारों और तालावों पर भी जो कर लगाये जाते थे, उनसे साम्राज्य को पर्याप्त आय होती थी।

प्रादेशिक विभाजन—राजराज प्रथम के अभिलेखों से यह सूचित होता है कि उसका साम्राज्य आठ 'मण्डलों' या प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक मण्डल 'वलान्दु' और 'नादु' में विभाजित किया जाता था। 'कुर्रम' तथा 'कोट्टम' शासन की छोटी इकाइयाँ थीं। 'मण्डल' का शासन करने के लिए राजवंश का कोई राजकुमार या कोई उच्च सरदार वहाँ का वाइसराय नियुक्त किया जाता था। 'वलान्दु' नामक शासन-इकाई में कई जिले होते थे। 'नादु' सम्भवतः आधुनिक जिले के समतुल्य था। कई ग्रामों के समूह से 'कुर्रम' की रचना होती थी।

चोल शासन की सबसे प्रमुख विशेषता थी इसकी स्व-शासन-व्यवस्था। दक्षिण भारत में लोगों का धार्मिक तथा आर्थिक जीवन पारस्परिक सहयोग और सहकारिता के सिद्धान्तों पर आधारित था तथा 'नादु' और 'नगरम' से लेकर सभी शासन इकाइयों में 'मण्डलम' तक स्व-शासन की संस्थाएँ हुआ करती थीं।

न्याय शासन—चोल सम्राटों के अधीन न्याय-शासन की उत्तम व्यवस्था थी। वर्तमान जूरी-प्रथा से मिलती-जुलती एक न्याय-व्यवस्था उस समय भी विद्यमान थी। साधारण मुकदमों का फैसला स्थानीय संस्थाएँ करती थीं। अभिलेखों से सूचित होता है कि विविध प्रकार की हत्याओं के अन्तर को अच्छी तरह से समझा गया था और इस अन्तर के अनुसार ही दण्ड की व्यवस्था भी की गई थी। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा द्वेषभाव-रहित कोई हत्या की जाती थी तो उसे केवल सोलह गायें दण्ड-करके रूप में देनी पड़ती थीं। जिस व्यक्ति की हत्या की जाती थी, उसकी आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए राज्य की ओर से मन्दिर में निरन्तर प्रदीप जलाने की व्यवस्था कर दी जाती थी। चोलों की दण्डनीति कठोर नहीं थी, अपितु इसे मृदु कहा जाय तो अनुचित नहीं। दण्डनीति प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति पर आधारित नहीं थी। उत्तर मेसर अभिलेखों से पता चलता है कि व्यभिचार, चोरी, धोखेबाजी इत्यादि को गम्भीर अपराध समझा जाता था और गम्भीर अपराध करने वाले व्यक्ति को गधे पर बैठाकर राज्य में घुमाया जाता था। किसी व्यक्ति ने अपराध किया है अथवा नहीं, इसका फैसला स्थानीय जन सत्ताक संस्थाएं किया करती थीं, किन्तु अपराधियों को दण्डित करने का अधिकार राजकर्मचारियों को प्राप्त होता था।

सामाजिक अवस्था

चोल युग के दक्षिण-भारत का सामाजिक संगठन जाति-व्यवस्था पर आधारित था किन्तु विभिन्न जातियों में पारस्परिक सहयोग रहा करता था। उद्योग-व्यवसाय करने वाली जातियों का विभाजन वलंगाई तथा इदंगाई नामक वर्गों में हो गया था।

चोल युग में सामाजिक अधिकारों का वितरण समान नहीं था। कुछ वर्गों को विशेष अधिकार प्रदान कर दिये जाते थे, जबकि इसके ठीक विपरीत अन्य वर्गों के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते थे। ब्राह्मणों ने अन्य जातियों के प्रति अपनी परिवर्जन-प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी बस्तियाँ अलग बसानी शुरू कर दीं। किन्तु इन बातों के बावजूद भी सामाजिक जीवन सहयोग और सद्भावनापूर्ण था।

तामिल समाज में सती प्रथा का प्रचार तो अवश्य था किन्तु अभिलेखों में इसके उल्लेख इतने कम मिलते हैं कि इसके व्यापक रूप में प्रचलित होने का आभास नहीं किया जा सकता। प्राचीन यूनान की भाँति दक्षिण भारतीय समाज में भी

नर्तकियों (देवदासियों) का एक वर्ग था। ये देवदासियाँ नृत्यादि सकल कलाओं में निपुण होती थीं। मन्दिरों में भी देवदासियाँ रहा करती थीं जो विशेष अवसरों पर नृत्य द्वारा देवता को प्रसन्न किया करती थीं।

चोलयुगीय दक्षिण भारतीय समाज में दास-प्रथा प्रचलित थी। इस युग के साहित्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कृषि करने वाले श्रमजीवियों का जीवन दासता के ही बराबर था। दासों की विभिन्न कोटियाँ हुआ करती थीं। अन्न तथा जीवन की अन्य वस्तुओं के अभाव में विपन्नताग्रस्त हो जाने के कारण स्वतन्त्र व्यक्ति स्वयं ही सम्पन्न व्यक्तियों का दास हो जाना अपने लिए अधिक लाभ कर समझते थे।

आर्थिक जीवन

दक्षिण भारत में आन्तरिक और बाह्य व्यापार की अवस्था उन्नत एवं समृद्ध थी फिर भी आर्थिक जीवन का आधार कृषि-कार्य था, जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता था और कृषि-कार्य ही उसका मुख्य उद्यम था। कृषक भूमि का स्वामी होता था और भूमि का स्वामित्व समाज में सम्मान का कारण समझा जाता था। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सचेष्ट रहता था। कावेरी नदी से अनेकों नहरे निकलवायी गई थीं। ग्राम-महासभाओं के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक कर्त्तव्य ग्राम के तालाबों तथा सिंचाई के अन्य साधनों की देख-रेख करना भी था, जिससे सिद्ध होता है कि खेत की उन्नति के लए राजा तथा प्रजा दोनों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे। राज्य की ओर से समय-समय पर भूमि का माप वर्गीकरण किया जाता था। यद्यपि दुर्भिक्ष को रोकने के लिए राज्य सचेष्ट रहता था तथा अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ने के कई उल्लेख मिले हैं।

विभिन्न उद्योग-धन्धों में दक्षिण भारत के निवासियों ने काफी उन्नति कर ली थी। सुवर्णकार भाँति-भाँति के बढ़िया आभूषण बनाते थे और मूर्त्तियों की माँग के कारण धातुकारियों की कला उन्नति पर पहुँच गई थी। काञ्ची में वस्त्र-व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था। कुमारी अन्तरीप, मरकनाम (दक्षिणी अरकाट) तथा समुद्र तट के निकटवर्ती अन्य स्थानों में नमक तैयार करने का व्यवसाय होता था।

चोल शासक अपने साम्राज्य में राजमार्गों का निर्माण कराते थे जिससे आन्तरिक व्यापार काफी सुविधापूर्ण हुआ करता था। 'पेरुवलि' या राजमार्गों द्वारा आन्ध्र, पश्चिमी चालुक्य और कोन्गु देश एक दूसरे से मिले रहते थे। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थीं जो व्यापार का निरीक्षण करते थे। चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह तथा फारस की खाड़ी इत्यादि देशों से दक्षिण भारत के निवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध था। आन्तरिक व्यापार में वस्तु-विनिमय का बहुधा प्रयोग किया जाता था। चोल शासकों ने १०१५ ई०, : १०३३ ई० और १०७७ ई० में चीन में अपने शिष्ट-मण्डल भेजे थे।

धार्मिक जीवन

संगम-युगीन दक्षिण भारत में ही शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध मतों का प्रचार हो चुका था। पल्लव-युग में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा ने दक्षिण में अपनी जड़ जमा ली थी। इस युग में दक्षिण में वैष्णव और शैव मतों की जो उन्नति हुई, उसका क्रम चोल शासकों के समय में सवेग जारी रहा। विजयालयवंशीय चोल शासकों का शासनकाल दक्षिण में एक महान् धार्मिक उत्साह का युग था। उसकी

सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति के कारण चोल साम्राज्य में शैव और वैष्णव मतों को समान रूप से फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। विजयालय के वंशज चोल शासकों के समय में ही दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव मतों का 'रजत युग' प्रारम्भ हुआ। नायन्मार और आल्वार सन्तों के पवित्र गीतों का एक निश्चित-नियमानुसार संकलन ग्यारहवीं शताब्दी में ही किया गया था।

चोल-युगीन दक्षिण भारत के धार्मिक जीवन में मन्दिरों का स्थान काफी महत्वपूर्ण था। इस काल के मन्दिर लोगों के धार्मिक और सामाजिक कार्यों के प्रमुख केन्द्र थे। मन्दिरों और उसमें प्रतिष्ठापित की जाने वाली प्रतिमाओं के निर्माण से कितने ही लोगों को जीविका प्राप्त होती थी और कलाकारों को अपनी निपुणता दिखलाने का अवसर मिलता था। धातुकारों और सुवर्णकारों को मन्दिरों से बहुत लाभ होता था।

साहित्य

चोल सम्राटों का शासन-काल (८५०-१२०० ई०) तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग था। साहित्य के क्षेत्र में काव्य के प्रवन्ध रूप को प्रधानता रही और शैव-सिद्धान्त दर्शन का शास्त्रीय निरूपण प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' की रचना दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई। 'जीवक चिन्तामणि' के प्रणेता तिरुत्क्तकदेवर नामक जैन पण्डित थे और जैन मत के सिद्धान्त ही इस मनोरम काव्य की भाव भूमि का निर्माण करते हैं। तोलामोक्ति नामक जैन लेखक ने 'शूल-मणि' नामक ग्रन्थ लिखा जिसकी गणना तामिल के पाँच लघुकाव्यों में की जाती थी। चोल राजसभा के कवि जयन्गोन्दार ने 'कलिंगत्तुप्पर्णि' नामक युद्ध काव्य में कुलोत्तुंग प्रथम के कलिंग युद्ध का वर्णन किया है। कुलोत्तुंग तृतीय के समय में कम्बन हुए जिनका सुप्रसिद्ध काव्य 'रामावतारम्' है। दसवीं शताब्दी में ही किसी बौद्ध कवि ने 'कुण्डलकेशि' नामक काव्य तथा कल्लदनर नामक कवि ने अपना ग्रन्थ 'कल्लदम' लिखा। अमृतसागर नामक जैन विद्वान् ने काव्य-रचना पद्धति पर एक पुस्तक का प्रणयन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में विख्यात बौद्ध विद्वान बुद्धमित्र हुए जिन्होंने 'वीरसोलियम्' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा। काव्य के क्षेत्र में पुलगेन्दि का नाम भुलाया नहीं जा सकता जिनका 'नवबेम्ब' एक महान् काव्य है। सेक्किलर-प्रणीत 'वेरियापुराणम' में शैव सिद्धान्तों का निरूपण है। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक दण्डिन की पुस्तक 'काव्यादर्श' के आधार पर तमिल में 'दण्डिवलंगारम' नामक ग्रन्थ की रचना की गई। इस पुस्तक के लेखक का नाम अज्ञात है। कुलोत्तुंग तृतीय के शासन-काल में जैन विद्वान् पवनान्दि ने 'नन्नूल' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा। यद्यपि चोल शासकों ने अपने साम्राज्य में संस्कृत भाषा और साहित्य के पठनपाठनार्थ विद्यालय स्थापित कराये थे, तथापि संस्कृत-साहित्य-सम्वर्द्धन में उनका योगदान अत्यन्त ही स्वल्प है। परान्तक प्रथम के शासन-काल में वेंकटमाधव ने ऋगवेद पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। राजराज द्वितीय की आज्ञा से केशवस्वामिन् ने संस्कृत में 'नानार्थार्णव संक्षेप' नामक कोष का सम्पादन किया।

निर्माण-कार्य और कला

चोल सम्राटों ने लोकहित के लिए अनेक निर्माण-कार्य किए। सिंचाई के लिए उन्होंने कुएँ और तालाब खुदवाये। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी 'गंगैकोण्ड-लपुरम' के निकट एक विशाल झील खुदवाई जिसमें कोलेरुन और वेल्लर नदियों

का जल भरवाया गया। इस झील पर जो बाँध बँधवाया गया था उसकी लम्बाई सोलह मील थी और इसमें प्रस्तर-प्रणालिकाएँ तथा नहरें काटकर निकाली गई थीं। चोल शासकों ने पल्लवों की मन्दिर-निर्माण-परम्परा को जारी रक्खा। परान्तक प्रथम द्वारा निर्मित कोरंगनाथ और परान्तक द्वितीय का मूतरकोविरल मन्दिर प्रारम्भिक चोल-शैली के अनुपम उदाहरण हैं।

राजराज प्रथम द्वारा निर्मित तंजौर के 'राजेश्वर' मन्दिर का उल्लेख किया जा चुका है। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गंगैकोण्डचोलपुरम् में तंजौर के 'राजराजेश्वर' मन्दिर की भाँति एक अत्यन्त सुविशाल मन्दिर बनवाया। राजराज द्वितीय के समय के 'ऐरावतेश्वर' मन्दिर तथा कुलोत्तुंग तृतीय के शासन-काल में 'कम्पहरेश्वर' मन्दिर द्वारा चोलों की मन्दिर-निर्माण-शैली जारी रही।

दक्षिण भारत में चोल युग सुन्दर कांस्य-प्रतिमाओं के निर्माण के लिए प्रमुख तथा उल्लेखनीय है। भगवान् नटराज (नृत्य करते हुए शिव) की विशाल प्रतिमाओं का कलात्मक सौन्दर्य निस्सन्देह अनुपमेय है। शंकर भगवान के अन्य रूपों की मूर्त्तियाँ भी कलाकारों ने गढ़ीं। ब्रह्मा, सप्तमाताएँ, भूदेवी तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु भगवान अपने अनुचरों के साथ राम और सीता तथा शैव सन्तों की साधु-मूर्तियाँ भी बनवाई गयीं। कालिय-दमन प्रदर्शित करने वाली मूर्तियाँ बड़ी लोकप्रिय थीं।

प्रश्न

1. Write a brief note on Chola administration and Chola Art. (1942, 1949, 1955.)

चोल शासन तथा चोल कला का संक्षिप्त वर्णन दीजिये।

2. Write a brief note on civilization and culture of the Ghalukyas.

चालुक्य सभ्यता एवं संस्कृति का संक्षित वर्णन दीजिये।

3. Who were the Rashtrakntas ? Write a brief note on any of their important Ruler.

राष्ट्रकूट कौन थे ? उनके किसी प्रमुख शासक का वर्णन दीजिये।

अध्याय २४

पूर्व मध्यकालीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति

भारतीय इतिहास के अध्ययन को सरल बनाने के लिए विद्वानों ने इसे कई कालों में बाँट रक्खा है। उनमें सातवीं शताब्दी ई० से बारहवीं शताब्दी ई० तक के काल को पूर्वमध्यकाल कहते हैं। इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों का विवरण तो हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है उस काल का सांस्कृतिक इतिहास। इस काल में साहित्य, कला आदि संबंधी जो प्रगति हुई वह भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अतः हम इस काल की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, शिक्षा तथा कला सम्बन्धी प्रगतियों का उल्लेख अब करेंगे।

आर्थिक अवस्था

कृषि—ग्रामीण जनता कृषि-कार्य में लगी हुई थी। गेहूँ, जौ, चना, सन, गन्ना आदि फसलें उगाई जाती थीं। कृषकों को अपनी अधिकृत भूमि की मालगुजारी देनी पड़ती थी। यह मालगुजारी ११वीं शताब्दी तक भागभोग के रूप में उपज का छठाँ राज्य को दे दी जाती थी किन्तु बारहवीं शताब्दी में सिक्कों के प्रचलन से नकद मालगुजारी दी जाने लगी। तत्कालीन राजाओं ने कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया। राज्य की ओर से सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया गया। नहरें भी निकाली गईं जिससे सिंचाई सरल हो गई। कुएँ तथा तालावों का निर्माण कराया गया। परमार-नरेश ने एक विशाल जलाशय का जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था, निर्माण कराया था। राजेन्द्रचोल (१०१८-३५) ने भी अपनी राजधानी के सन्निकट बहुत बड़ा जलाशय बनवाया था। सुराष्ट्र की सुदर्शन झील इसी काल में बढ़ाई गई। झेलम नदी पर बाँध बँधवा कर सिंचाई की जाती थी। चन्देल राजाओं के झील-निर्माण का ज्ञान लेखों से प्राप्त होता है। कृषक को सिंचाई–कर अलग से देना पड़ता था। कृषि-कार्य में विशेष राजाश्रय प्राप्त था।

वाणिज्य-व्यापार एवं उद्योग—मध्यकालीन लेख से ज्ञात होता है कि इस युग में व्यापार की सुविधा के लिये व्यवसायिक श्रेणियाँ स्थापित की गई थीं। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिए पृथक-पृथक श्रेणियाँ थीं जिनका प्रधान अपने व्यवसाय की उन्नति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता था। मथुरा और बनारस में सूती कपड़े तैयार होते थे। बंगाल मलमल के लिए प्रसिद्ध था जिसकी प्रशंसा अरब यात्री सुलेमान और इब्नखुर्दाजवा ने की है। कपड़े के अतिरिक्त नमक भी तैयार किया जाता था। खाद्य पदार्थ का भी व्यापार होता था, गन्ने की उत्पत्ति होती थी। कांस्य मूर्तियाँ ढालने और बहुमूल्य प्रस्तरों से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाने का काम होता था। सोने-चाँदी के पात्र बनाये जाते थे। अरब यात्री ने लक्ष्मण सेन के सोने-चाँदी के बने बर्तनों का वर्णन किया है।

अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों व्यापार उन्नतावस्था में थे। देश में नदियों और राजमार्गों से नावों तथा बैलगाड़ियों पर सामान आया-जाया करता था। पता

चलता है कि बैलगाड़ियाँ सड़कों पर चला करती थीं जिन पर सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता था। ह्वेनसाँग ने भी इसी प्रकार की सड़कों का उल्लेख किया है। उज्जैन और कन्नौज भारत के प्रसिद्ध नगर थे। इनके अतिरिक्त पाटिलपुत्र, अयोध्या, मथुरा, काशी भी व्यापारिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण थे। भारत से एशिया के अन्य देशों को अनेक मार्ग जाते थे। मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, अरब आदि देशों से भारतवासियों ने बहुत पहले से ही व्यापार करना आरम्भ कर दिया था। उपनिवेश स्थापन से भारतीय व्यापारियों को बहुत सहायता मिली। बाहरी देशों से व्यापार करने के दो मार्ग थे—थल मार्ग और समुद्री मार्ग। ताम्रलिप्ति भारत का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। ह्वेनसाँग ने इसके विषय में लिखा है कि व्यापार की सुन्दर वस्तुएँ ताम्रलिप्ति में एकत्रित रहती हैं। यहाँ से लंका और चीन आदि को जहाज जाते थे। दक्षिण में कोरकाई, कावेरी, पड्डिनम् और पश्चिम में भविष्य बन्दरगाह थे। थल मार्गों से भारतीय व्यापारी अरब पारकर योरप तक पहुँच जाया करते थे। अरब तथा ईराक भेजी जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख इब्नखुर्दा जबा ने किया है। उसमें चन्दन, लौंग, कपूर, जायफल, नारियल, कबाबचीनी, कपड़े, मखमल, हाथीदाँत, मोती, बहुमूल्य पत्थर आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त नारियल, आम, पल्ल का डली भी बाहर भेजी जाती थी। बाहर से भारत में पन्ने की अँगूठी, मूंगा, शराब, रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन, गुलाबजल, खजूर तथा घोड़े मँगाये जाते थे।

पूर्वमध्य काल में विनिमय के साधन सिक्के थे। ये सोने-चाँदी अथवा ताँबे के बने होते थे। जिसमें चाँदी और ताँबे के सिक्कों का विशेष प्रचलन था। डा० चक्रवर्ती के मतानुसार बंगाल में गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् कौड़ी ही विनिमय का साधन बनी किन्तु कालान्तर में पाल नरेशों ने द्रम अर्थात् धातु के सिक्के चलाये। मुसलमान यात्रियों ने भी बंगाल में कौड़ियों का प्रचलन पाया था।

सामाजिक अवस्था

वर्गीकरण—पूर्वमध्य कालीन समाज और भारतीय समाज में इतना निकट सम्बन्ध है कि वर्त्तमान समाज को पूर्णतया समझ लेने से ही पूर्वमध्य कालीन समाज की कल्पित रूप-रेखा खींची जा सकती है। वर्त्तमान हिन्दू समाज स्मृतियों द्वारा अनुशासित है और इनकी रचना इसी युग में हुई थी। विचाराधीन काल में चारों वर्णों का अस्तित्व पूर्ववत् बना ही रहा साथ ही प्रत्येक वर्ण अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया। वर्णाश्रम धर्म का पालन एवं उसकी रक्षा राजा का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। बहुधा लोग विभिन्न प्रकार के कुटीर-उद्योगों में लगते जा रहे थे। लोहे का काम करने वाला लोहार, सोने का काम करने वाला सुनार, चमड़े का काम करने वाला चर्मकार कहा जाने लगा। अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों का भी उपजातियों की उत्पत्ति में काफी हाथ है। किन्तु परिवर्तन यहीं तक सीमित नहीं रह सका। उपजातियों में भी विभाग हुए। इन विभागों को 'कुटी' गोत्र का प्रवर कहा जाता है। लोहार, सुनार चर्मकार आदि सबसे अनेक विभाग हो गए।

ब्राह्मण का स्थान प्राचीन भारत में काफी ऊँचा था। वे धर्म-कर्म में, शिक्षा-दीक्षा में, शासन आदि में समाज का पथ-प्रदर्शन करते थे। पूर्वमध्य-कालीन समाज में भी उनको वही महत्व प्रदान किया गया था पर स्वयं ब्राह्मणों ने ही अपना गौरव खोना आरम्भ कर दिया था। पालवंशी नरेशों की सेना में ब्राह्मण सेनापति का काम करने लगे थे। दानपत्रों में ब्राह्मणों को खेत दान का उल्लेख मिलता है, अतः ब्राह्मणों

का कृषि कार्यों में लगे रहना भी ज्ञात होता है। ये वाणिज्य व्यवसाय में भी भाग लेने लगे थे।

गोत्र एवं प्रवरों के निर्माण के पश्चात् रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी सीमित हो गया। यह निश्चित हो गया कि अमुक गोत्र के ब्राह्मण की कन्या का व्याह अमुक गोत्र के ब्राह्मण से ही हो सकता है।

क्षत्रियों को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था और ब्राह्मणों की समता में खड़ा होने का दावा करते थे। छात्र-धर्म था युद्ध करना और प्रजा एवं अनाथों की रक्षा। इस समय के क्षत्रियों (राजपूतों) की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए टाड महोदय ने लिखा है कि अदम्य उत्साह, राजभक्ति, देश-प्रेम, वैमनस्य आदि गुण इनमें विद्यमान थे। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि सामान्य ब्राह्मण और सामन्य क्षत्रियों में ब्राह्मणों का स्थान ही ऊँचा था, केवल राजकाज के अधिकारी क्षत्रिय (राजपूत) ही ब्राह्मणों से ऊँचे समझे जाते थे। ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी अनेक उपजातियों में बँट गए थे। इस समय तक लगभग ३६ उपजातियाँ बन गई थीं। राज-काज के अतिरिक्त कृषि-कार्य में भी क्षत्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या लगी हुई थी। बारहवीं शताब्दी के एक लेख में दानग्राही क्षत्रिय सामन्त का उल्लेख किया गया है।

वैश्यों ने कृषि-कार्य तथा तत्सम्बन्धी अन्य उद्योगों से अपना हाथ खींच लिया था और अब ये पूर्णतया वाणिज्य व्यवसाय में लग गए थे। पूर्व मध्यकालीन लेखों में संस्था एवं श्रेणियों का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रेणियों का महत्व अब काफी बढ़ चुका था। दैनिक आवश्यकताओं की अभिवृद्धि के कारण ही व्यवसायियों का स्थान अधिक सम्मिलित हो सका था क्योंकि वाणिज्य व्यवसाय पर इनका एकाधिकार था।

पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज में एक सर्वथा नवीन जाति का अभ्युदय होता है। वह जाति है कायस्थ। कायस्थों के कथनानुसार तो यह जाति अन्य जातियों के समान ही बहुत प्राचीन है और इसकी उत्पत्ति भी राजपूतों की भाँति पौराणिक है किन्तु इसका कोई ऐतिसहासिक प्रमाण नहीं है। वास्तविकता जो भी हो हमें काणे-महोदय के इस मत से सहमत होने में कोई हिचक नहीं है कि छठीं शताब्दी से पूर्व धर्मशास्त्रों में कायस्थों का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। हाँ पिछली स्मृतियों में इनका नाम मिलता है। कायस्थ शब्द का प्रयोग विशेष व्यवसाय लेखन कार्य करने वालों के लिए अनेक स्रोतों में किया गया है। पूर्वमध्यकालीन लेखों में लिपिक के पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति को कायस्थ कहा गया है। इसी प्रकार साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में भी लिपिक को कायस्थ घोषित किया गया है। बारहवीं शताब्दी में कायस्थों ने जाति रूप धारण किया। उश्नस तथा वेद व्यास स्मृति में कायस्थों की एक पृथक जाति बताई गई है। कयस्थों का द्विज से कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः वेद व्यास ने इन्हें शूद्र घोषित किया। किन्तु ये शूद्रों में नहीं खप सके और कायस्थों की एक पृथक जाति ही बन गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों से भी इनका मेल न खा सका। कायस्थों में भी निवासस्थान के आधार पर उपजातियाँ बन गई। मथुरा में निवास करने वाले माथुर तथा गौड़ (बंगाल) के निवासी गौड़ कहलाए।

शूद्रों में दो प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं। एक वह वर्ग जिसे अस्पृश्य समझा जाता है तथा दूसरा अस्पृश्य है। चाण्डाल अस्पृश्य शूद्रों में विशेष उल्लेखनीय है। व्यास ने ब्राह्मण और वैश्य में अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को चण्डाल घोषित

किया है। कुछ घृणित कार्य करने वालों की गणना भी अस्पृश्य में होने लगी और वे पंचमवर्ग कहलाने लगे।

अल्बरूनी ने भी पंचमवर्ग का उल्लेख करते हुए बताया है कि इस वर्ग के लोग गाँव के बाहर रहते थे। इनमें डोम, चमार, नट आदि सम्मिलित थे। चाहुमान लेख में भाट, अभोटी, बंजारा तथा भट्टारक के नाम उल्लिखत हैं जो शूद्रों की उप-जातियों की स्वर्णकारों को जोधपुर लेख में शूद्र घोषित किया गया है किन्तु वर्तमान समाज में वैश्य माने जाते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति और उनका व्यवसाय ही, जिसमें उन्हें उच्च वर्गों के निकट सम्पर्क में आना पड़ता है, इसके मूल में है।

सती प्रथा अथवा जौहर—सती प्रथा का श्रीगणेश प्राचीन काल से ही हो गया था। हर्ष की माता तो पति को मृतासन्न जानकर ही सती हो गई थी। हर्ष की बहन राज्यश्री भी पति के देहान्त के पश्चात् सती होने जा रही थी। विचाराधीन काल में इस प्रथा ने और जोर पकड़ लिया था। पति के देहान्त के पश्चात् विधवाओं का जीना पाप समझा जाने लगा। स्मृति ग्रन्थों में भी सती होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। चेदिलेख में गांगेय देव की सौ पत्नियों के सती होने का उल्लेख किया गया है। डा० ईश्वरी प्रसाद ने सती प्रथा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि राजपरि-वारों में काफी संख्या में समय-समय पर सती होती थीं। यह प्रथा इतनी प्रचलित थी कि साधारण घरों की स्त्रियाँ भी विधवा होने पर सती हो जाती थीं। कभी-कभी वे स्वेच्छा से इस व्रत का पालन करती थीं और कभी उन्हें समाज सती होने के लिये बाध्य करता था। डा० ईश्वरी प्रसाद ने बाल-हत्या का भी करुण चित्रण किया है जो उस समय समाज में प्रचलित था। किन्तु यह अवस्था राजपूत वंश में ही अधिक थी। शेष समाज इसका पालन इतनी कठोरता से नहीं करता था।

भोजन-वस्त्र तथा आभूषण—पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों में गोधूम, चावल तथा फल के नाम बार-बार आते हैं जिससे यह परिलक्षित होता है कि ये भोजन के प्रमुख अंग थे। माँस-मछली एवं मदिरा का उल्लेख अभिलेखों में किया गया है। बंगाल में शाक्य मत का प्राबल्य और मत्रायन के प्रचार के फलस्वरूप वहाँ माँस-भक्षण एवं मदिरा-पान पर काफी जोर दिया जाता था। अल्हण देवी के एक लेख से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण भी माँस-भक्षण करते थे। किन्तु सभी ब्राह्मणों के लिए ऐसा सोचना उचित नहीं ज्ञात होता। प्रतिहार बाडक के लेख से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तो मदिरा पान नहीं करते थे पर क्षत्रियों में सुरापान प्रचलित था। सुरा बेचने वाली स्त्रियों का भी बोध हमें कुछ स्रोतों से होता है।

तत्कालीन मूर्त्तियों के आधार पर वेश-भूषा का अनुमान करना अधिक तर्कसंगत नहीं जान पड़ता और इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि स्त्रियाँ अपने सम्पूर्ण शरीर को ढँके रहना नहीं चाहती थीं अर्थात् चादर का प्रयोग कम हो चला था। वास्तव में मूर्तिकार तो सौन्दर्य के प्रदर्शन के निमित्त मूर्तियों को नग्न अथवा अर्ध नग्न दिखलाते रहे, समाज में इस प्रकार की कोई वेष-भूषा प्रचलित नहीं थी। स्त्रियाँ श्रृंगार-प्रिय अवश्य थीं किन्तु श्रृंगारिकता का माप-दंड आधुनिक युग की भाँति नग्न न था। वे अपने शरीर को वस्त्रों तथा आभूषणों को पूर्णतया ढँके रहती थीं। नारी मूर्तियों को भी मूर्तिकार आभूषणों से केवल इसलिए लाद देते थे कि उनकी वस्त्र विहीनता अथवा नग्नता पर एक आवरण पड़ जाय। अधिकांश वर्तमान आभूषणों का प्रचार विचाराधीन काल में भी था।

मनोरंजन के साधन—आमोद-प्रमोद के प्राचीन साधन अब भी विद्यमान थे। शतरंज (आधुनिक शतरंज) का खेल काफी प्रिय था। संगीत एवं नृत्य का आयोजन विशेष अवसरों पर हुआ करता था। धार्मिक अवसरों पर हुआ करता था। धार्मिक अवसरों पर रथ-यात्रा की व्यवस्था की जाती थी। इनके अतिरिक्त द्यूत-क्रीड़ा भी समाज में प्रचलित थी जिसपर कर लगता था। परमार चामुण्डराय की प्रशस्ति से इसका प्रमाण मिलता है। विभिन्न खेल-कूदों में भी लोग भाग लिया करते थे। आखेट भी कुछ लोगों के लिए मनोरंजन का एक साधन था।

धार्मिक अवस्था

ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान शुंगों के समय से ही आरम्भ हो चुका था। पूर्व मध्यकाल तक तो इसे पूर्णता प्राप्त हो चुकी थी। जैसा कि अल्तेकर महोदय ने बताया है केवल कुछ ही स्थानों पर बौद्ध धर्म का अस्तित्व रह गया था। चचनामा के अनुसार इस युग के आरम्भ तक सिन्ध में बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव बना रहा। इसी प्रकार बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक बंगाल में इस धर्म का बोल-बाला रहा। जैन धर्म भी कुछ प्रान्तों में जोर पर था। गुजरात में इस धर्म का अधिक बोल-बाला था, पर हिन्दू धर्म का प्राबल्य लगभग सम्पूर्ण भारत में था।

हिन्दू धर्म—अल्तेकर महोदय ने आगे बताया है कि यद्यपि कुछ प्रान्तों में जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव स्थापित था तथापि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विचाराधीन काल में संशोधित हिन्दू धर्म का काफी प्रचार बढ़ रहा था। माना कि गुप्त-काल में हिन्दू धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होते हुए भी बौद्ध धर्म का बोल-बाला स्थापित था पर परिस्थिति में शीघ्र ही परिवर्तन आया और ह्वेनसाँग ने देखा कि पंजाब तथा उत्तरी संयुक्त प्रदेश जो फाह्यान के समय में बौद्ध धर्म के मानने वाले थे पुनः ब्राह्मण-धर्मावलम्बियों के केन्द्र बन गए। कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर तथा वैशाली आदि प्रमुख बौद्ध स्थान या तो प्राचीन खंडहर रह गए थे अथवा यहाँ हिन्दुओं का प्राबल्य स्थापित हो चुका था।

शैव मत—विचाराधीन काल में शिव और विष्णु की पूजा साथ-साथ चलती रही। अल्तेकर महोदय ने इस युग की धार्मिक सहिष्णुता तथा पारस्परिक धार्मिक समन्वय पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि हिन्दू धर्म के भी विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक समन्वय एवं सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थी। यही कारण है कि हमें एक ही घर में शैव तथा विष्णु सम्प्रदाय के मानने वाले के उदाहरण की सूचना मिलती है। उत्तरी भारत के बंगाल, मध्य भारत, मालवा तथा पूर्वी पंजाब से प्राप्त लेखों के आधार पर ही यह ज्ञात हो सका है। पाल, चेदि, चंदेल आदि राजाओं के लेखों में "ओम् नमः शिवाय" अथवा "ओम् नमो ब्राह्मणो निर्गुणं व्यापकं नित्य-शिवम्" उत्कीर्ण हैं। बंगाल के लेखों में भी शिव उपासना का उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं बौद्ध मतावलम्बी राजाओं के लेखों में भी पशुपत मत की प्रशंसा मिलती है। इस प्रकार के साक्ष्यों से तो यह ज्ञात होता है कि विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों में शैव मत का प्राबल्य-सा था। कलचुरि लेख में राजाओं को 'परम माहेश्वर' की उपाधि दी गई है जो पशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी बताये गए हैं। इसी प्रकार का एक अन्य प्रमाण प्रतिहार लेख है जो अर्धनारीश्वर की प्रार्थना से प्रारम्भ किया गया है। मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख पीछे किया गया था। इस समय के निर्मित समस्त मन्दिरों में से लगभग ७० प्रतिशत या इससे भी कुछ अधिक मन्दिर शिवालय अर्थात् शिव मन्दिर थे।

अनेक राजाओं ने शिव-मन्दिर-निर्माण में सक्रिय योग दिया। चंदेल, चेदि, परमार तथा सेन नरेशों द्वारा शिव-मन्दिर निर्माण का विवरण हमें लेखों से प्राप्त होता है। इन मन्दिरों में शिव की मूर्तियाँ स्थापित की गईं।

वैष्णव मत—वैष्णव मत का प्रचार बंगाल से लेकर मध्य प्रान्त तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में काफी था। हमें ज्ञात है कि भागवत धर्म का प्रचार उत्तरी भारत में प्रथम शताब्दी ई० में ही हो चुका था और गुप्त वंशीय शासकों ने इसे राज-धर्म घोषित किया था जिसके फलस्वरूप उन्हें "परम भागवत" का विरुद दिया गया था। तत्कालीन मुद्राओं पर विष्णु, लक्ष्मी तथा विष्णु-वाहन गरुण की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उदयगिरि में शेषशायी विष्णु की प्रतिमा प्राप्त हुई है। लगभग सातवीं शताब्दी में विष्णु मत में कृष्ण का आविर्भाव हुआ जो बंगाल में कृष्ण सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। यहाँ इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार हुआ। कृष्ण लीला का प्रदर्शन इस प्रदेश में किस शृंगारिक ढंग से होता था इसका प्रमाण हमें आठवीं शताब्दी की पहाड़पुर की खुदाई से प्राप्त होता है जहाँ प्रस्तर पर कृष्ण लीला के चित्र उत्कीर्ण हैं। वैष्णव मत को राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ था। सेन वंशीय राजाओं के लेखों से हमें यह ज्ञात होता है कि उनकी अभिरुचि वैष्णव मत की ओर अधिकथी। उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों में प्राप्त दानपत्रों से भी भगवान वासुदेव अर्थात् विष्णु की उपासना के प्रचार का बोध होता है। उत्तर-भारत तथा बंगाल में पर्याप्त संख्या में विष्णु प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। बंगाल में चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमाएँ बहुतायत से प्राप्त हुई हैं। विचाराधीन काल की स्वर्ण मुद्राओं पर लक्ष्मी की आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं। इन सारे साक्ष्यों से यह परलक्षित होता था कि वैष्णव-मत काफी जोर पकड़ चुका था।

कुछ अन्य सम्प्रदाय—हिन्दू धर्म की दो प्रमुख शाखाओं पर ऊपर प्रकाश डाला गया है, किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य सम्प्रदायों का उदय हो चुका था। इन सम्प्रदायों में शक्ति सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय आदि तथा सूर्योपासक, गणेश-पूजक आदि भी अपना कुछ पृथक् अस्तित्व रखते थे। ये ब्राह्मण धर्म के अन्यान्य सिद्धान्तों को कुछ अंशों तक मानते हुए भी अपना एक पृथक् मत रखते थे। इनके पृथक् इष्ट देव थे जिनकी आराधना पर ये अधिक बल देते थे।

शक्ति पूजा के पीछे नारी को महत्व प्रदान करने की प्रेरणा का ही हाथ ज्ञात होता है। नारी की शक्ति मान कर नारी-देवताओं की सृष्टि की गई थी। इनमें भगवती, दुर्गा, अम्बा, कंचनदेवी, सर्वमंगला, लक्ष्मी आदि देवियों को पूर्व मध्ययुग में काफी महत्व प्रदान किया गया था। कला और साहित्य को भी शाक्त सम्प्रदाय ने अधिक प्रभावित किया और कुछ समय में तो ऐसी स्थिति उपस्थिति हो गई थी कि अन्य सम्प्रदायों के विलुप्त अथवा श्रीहीन-से हो जाने की आशंका होने लगी। दुर्गा-मन्दिर तथा भगवती-पूजा का उल्लेख अनेक लेखों में मिलता है। नारियों ने इन देवियों की पूजा में विशेष रुचि दिखलाई और तत्कालीन साहित्य से यह ज्ञात होता है कि नारियों की मनोकामना-सिद्धि का एक मात्र साधन इन्हीं देवियों की उपासना और पूजन था। बंगाल में तो शक्ति-पूजा ने और भी अधिक जोर पकड़ा। वैष्णव सम्प्रदाय में कृष्ण-पूजा का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया था, यहाँ "राधा-कृष्ण" के रूप में इस पूजा का प्रचार होने लगा। शीतला, षष्ठी, कालिका तथा मनसा देवियों की आराधना पर भी काफी जोर किया जाने लगा। मध्य प्रदेश में भी देवियों की पूजा का प्राबल्य स्थापित हुआ और वहाँ का चौंसठ योगिनी का मन्दिर इसका प्रमाण-स्वरूप है:

शाक्त सम्प्रदाय का प्रभाव केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित न रहा। इसने बौद्ध तथा जैनधर्मों को भी पर्याप्त अंशों में प्रभावित किया था।

शक्ति सम्प्रदाय की भाँति विचाराधीन काल में नाथ सम्प्रदाय भी काफी जोर पर था। इसकी उत्पत्ति तथा उत्पत्ति-काल के सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही कुछ वर्ग में योगाभ्यास तथा यौगिक क्रियाओं के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो चुकी थी। योगाभ्यास का शुद्ध रूप तो हमें प्राचीन तपों में ही प्राप्त होता है। ईसा पूर्व से ही योग विद्या का प्रादुर्भाव होना पाया जाता है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि शिव को आदि योगी माना जाता है। योगशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक शिव ही हैं। इसीलिए इनका दूसरा नाम योगेश्वर भी है। गुरु गोरखनाथ सम्प्रदाय के इतिहास में प्रथम गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होंने विभिन्न यौगिक क्रियाओं का प्रचार किया। इनके शिष्यों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और शीघ्र ही नाथ-सम्प्रदाय का प्रभुत्व भारत के अनेक भागों में स्थापित हो गया। विद्वानों का इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा मत है कि इस पर बौद्ध धर्म तथा शैव-सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गुरु गोरखनाथ ने जिस हठयोग को प्रधानता प्रदान की उसका उल्लेख आठवीं शताब्दी के कुछ स्रोतों में मिलता है। हठयोग द्वारा सिद्धि तथा मोक्ष प्राप्त की कामना नाथ सम्प्रदाय वाले करते थे। नाथ सम्प्रदाय के कनफटे योगियों का भी बहुत बड़ा महत्व है। इनका मुख्य उद्देश्य जो भी हो, ये घूम-घूम कर भिक्षाटन करते हैं। कापालिक मार्गी साधु भी नाथ-सम्प्रदाय में ही सम्मिलित हैं।

शैव सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया था कि भारत में शिवोपासना का प्रचार अधिक था, पर साथ ही सूर्य तथा गणेश की पूजा भी कम प्रचलित न थी। गणेश तो शिव के पुत्र ही माने जाते हैं, अतः इनकी पूजा करने की शिवोपासकों को भी प्रेरणा मिली। पंचायत पूजा में गणेश का भी नाम आता है। मंगल कामना के लिए ही गणेश की पूजा प्रचलित हुई।

सूर्योपासना हमारे देश में प्राचीन काल से ही प्रचलित है। सातवीं शताब्दी के पश्चात् के लेखों से विकसित सूर्योपासना का आभास मिलता है। गुप्त काल में सूर्योपासना का काफी प्रचार था। प्रभाकर वर्द्धन भी सूर्योपासक था। विचाराधीन काल में अनेक सूर्य मन्दिरों का निर्माण हुआ था जिनके प्रतिष्ठान का उल्लेख गहड़वाल, प्रतिहार तथा चहमान लेखों में मिलता है। बंगाल में सेन शासक विश्वरूप सेन तथा केशव सेन सूर्य के परम उपासक थे और इसीलिए उन्हें "परमासौर" का विरुद प्राप्त था। विचाराधीन काल में सूर्य की मूर्त्तियों का भी अधिक संख्या में निर्माण हुआ था। वे मूर्तियाँ बहुधा पाल शैली में काले पत्थर पर बनतीं रहीं। दोनों हाथों में कमल का पुष्प लिये हुए सूर्य देवता की खड़ी मूर्त्ति प्राप्त होती है। निचले भाग में सूर्य के सात अश्ववाले रथ का चित्र रहता है जिसके दोनों ओर ऊषा तथा संध्या देवियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण रहती हैं। पाल तथा सेन वंश के शासन-काल में इस प्रकार की सूर्य-मूर्त्तियाँ काफी संख्या में निर्मित हुई थीं। मुल्तान का सूर्य-मन्दिर इस समय के सर्वप्रसिद्ध मन्दिरों में से था।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के पतनोन्मुख होने का उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। उस स्थान पर अल्तेकर महोदय के विचारों पर प्रकाश डाला गया है। आगे उक्त विद्वान ने बताया है कि कन्नौज में बौद्ध धर्म को कुछ प्रश्रय प्राप्त हुआ था और वहाँ विहारों की संख्या सौ तक पहुँच गई थी। किन्तु यह हर्ष के स्थायी श्रम का प्रतिफल

था, इसके पीछे जनता की कोई अभिरुचि न थी। ह्वेनसाँग तथा इत्सिंग के भ्रमण-काल में ही बौद्ध धर्म को अपनी अल्पायु का आभास प्राप्त हो चुका था। उक्त यात्रियों ने स्वयं बौद्ध मतावलम्बियों में ही अपने धर्म के भारत से विलुप्त हो जाने के विश्वास का उल्लेख किया है। बोधगया के बौद्धों का यह विश्वास था कि जब वहाँ की अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ बालू में पूर्णतया धँस जायेंगी तो उनका धर्म (बौद्ध धर्म) विलुप्त हो जायगा। सातवीं शताब्दी में उनमें से कुछ मूर्तियों पर छाती तक बालू चढ़ चुकी थीं। पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) मे ह्वेनसाँग को एक जीर्ण-शीर्ण माला दिखलाई गई थी जिसक सम्बन्ध में कहा जाता था कि बुद्ध भगवान् इसे धारण कर चुके थे। भिक्षुओं का यह विश्वास था कि माला के अन्त के साथ ही साथ उनके धर्म का अन्त हो जायगा। अल्तेकर महोदय ने आगे यह लिखा है कि इत्सिंग को भी बौद्ध धर्म की हीनावस्था एवं उसके भावी विनाश की आशंका हो चुकी थी और इसलिए यात्री ने भावी पतन से बौद्ध धर्म को रक्षा के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के समन्वय की बात कही थी।

इन विवरणों से यह परिलक्षित होता है कि बौद्ध-धर्म अपनी प्राचीन महत्ता खोता जा रहा था। भारत में इस धर्म का पतनोन्मुख होने का प्रमुख कारण विभिन्न सम्प्रदायों का प्रभाव है जिसने बौद्ध-धर्म की मौलिकता को क्षतिग्रस्त कर दिया। वैसे तो प्रथम शताब्दी ई० से ही भागवत धर्म के प्रभाव में आकर बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का उदय हुआ था, पर कालान्तर में इस धर्म में इतने महान् एवं आश्चर्यजनक परिवर्तन आए कि छठीं शताब्दी ई० पू० और ११वीं, १२वीं शताब्दी के बौद्ध-धर्म में समता ढूँढ़ने में काफी कठिनाई पड़ सकती थी। पाँचवीं शताब्दी में ही आचार्य असंग के ग्रन्थों में तान्त्रिक विचारधारा का समावेश प्रभावशाली ढंग से किया गया जिसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म में तंत्र का प्राबल्य स्थापित हुआ। महायान सम्प्रदाय का प्राचीन स्वरूप लगभग सातवीं शताब्दी तक बना रहा किन्तु पूर्व मध्य युग में इस सम्प्रदाय में तन्त्रयान ने घर कर लिया। साधारण लोगों में देवी-देवताओं में पूर्ण आस्था थी। मंत्र को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे। ऐसा विश्वास था कि मंत्र (धारणी) से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। इस सारी विचार-धाराओं के फलस्वरूप बौद्ध-धर्म में विभिन्न प्रकार के आडम्बरों ने घर कर लिया और भूत-प्रेत इन्द्रजाल, मोहन, वशीकरण, आदि की भावनाओं से समस्त बौद्ध सम्प्रदाय पूरित हो गया। हठयोग की माया में फँस जाने के पश्चात् तो स्थिति और भी विकृत हो गई। शीघ्र ही तांत्रिक बौद्ध-धर्म ने अपनी युवावस्था को प्राप्त कर लिया और इसे वज्रयान सम्प्रदाय कहा गया। वज्रयान सम्प्रदाय वालों ने यौगिक क्रियाओं में मंत्र के साथ-साथ मुद्रा को भी स्थान दिया। तान्त्रिक भाषा में "मुद्रा" उसे कहते हैं जहाँ साधक किसी युवती को अपनी संगिनी बनाता है। इस साधना में सहज (मोक्ष) सुख पाने के लिये यौगिक गुप्त रीति का पालन किया जाता है। इसमें विविध धार्मिक कृत्य तथा देवी-देवताओं की पूजा को स्थान देकर पौराणिक देवों को वज्रयान में अपनाया गया। किन्तु विकार यहीं तक सीमित न रह सका। वज्रयान के साधकों ने अपनी साधना में हठयोग और मैथुन को प्रधानता दी। ८४ सिद्धों को ही इसके प्रचार का श्रेय दिया जा सकता है। इसमें सरहपा, तिलोपा, नरोपाद, कान्हपाद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। वज्रयान सम्प्रदाय के आचार्यों ने हठयोग के जिन साधनों का उल्लेख किया था, आने वाली पीढ़ी ने उसका दुरुपयोग किया। बंगाल तथा बिहार वज्रयान सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र थे और नालन्दा तान्त्रिक मत का केन्द्र था। शक्ति की उपासना का बौद्ध-धर्म में भी प्रचार हुआ और देवी को बौद्ध शक्तियों में प्रमुख स्थान प्रदात किया गया।

सिद्धों ने चर्यागान में शक्ति का बार-बार उल्लेख किया है। वहाँ सामान्य स्त्रियों को कोई स्थान न देकर शाश्वत शक्ति की साधना पर बल दिया गया है। दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच में सिद्धों ने इस मत के प्रचार में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। कालान्तर में इस मत के नए रूपों को सहजयान तथा कालचक्रयान की संज्ञा दी गई।

जैन धर्म—यद्यपि जैन धर्म की भी प्राचीन महत्ता श्रीहीन होती जा रही थी तथापि अभी उसकी स्थिति बौद्ध-धर्म की अपेक्षा अच्छी थी। उत्तर भारत में इसका दबदबा अवश्य कम हो गया था किन्तु दक्षिण भारत में इस धर्म को राजाश्रय प्राप्त करने का गौरव मिला और अल्तेकर महोदय के शब्दों में 'विचाराधीन काल (राष्ट्र-कूट-युग) जैन धर्म के इतिहास में दक्षिण में सर्वोच्च विकासोन्मुख काल था।' उत्तर भारत में इसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम हो गई थी, जिसके मूल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो रहा। उत्तर भारत में विभिन्न राजाओं ने जैन मठों तथा विहारों को दान दिये थे जिसका प्रमाण तत्कालीन लेखों तथा दानपत्रों से प्राप्त होता है। पाल लेख में शैव राजा की पत्नी द्वारा जैन विहार को दान देने का उल्लेख किया गया है। बंगाल के पुण्ड्रवर्द्धन क्षेत्र में अनेक जैन विहार थे जिनको प्रायः हिन्दू राजाओं से दान मिल जाया करता था। मारवाड़ चहमान लेख में तीर्थंकर शान्ति नाथ की देव-यात्रा के लिए अग्रहार दान का विवरण प्राप्त होता है। दान का एक अन्य उदाहरण नासिक के निकट प्राप्त एक प्रशस्ति से मिलता है। जिसमें सूर्यग्रहण के अवसर पर दान देने तथा दान की आय से जिन पूजा और जैन साधुओं के भोजन की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।

पूर्व मध्यकालीन साहित्य एवं कला

साहित्य और वास्तुकला के क्षेत्र में जो उन्नति इस युग में हुई वह सराहनीय है। उस समय की कलाकृतियाँ आज हमारे गौरव की वस्तु बनी हुई हैं। साहित्यिक कृतियाँ वर्तमान साहित्यकारों एवं साहित्य-विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखती हैं। इस युग में वास्तुकलाविशारदों एवं साहित्यकारों की बाढ़-सी आ गई थी। राज्याश्रय पाकर कलाकारों को उत्साह मिला। साहित्य के विभिन्न अंगों पर जितनी रचनाएँ इस युग में हुईं वह संस्कृत साहित्य के काव्य में अपना अधिक महत्व तो रखती ही हैं साथ ही वे संख्या में भी अधिक हैं।

ललित साहित्य—स्थानाभाव के कारण समस्त साहित्यकारों का न तो उल्लेख ही किया जा सकता है और न महत्वपूर्ण साहित्यकारों की तिथियों एवं उनकी रचनाओं पर ही विचार किया जा सकता है। अतः केवल नामांकन करके ही संतोष करना पड़ेगा। दक्षिण भारत के महाकवि भारवि सातवीं शताब्दी में आते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'किरातार्जुनीय' है। भारवि की कविता संस्कृत साहित्य में अर्थ गौरव के लिये प्रसिद्ध है। भारवि अलंकृत काव्य शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। बल्लभी के राजा श्रीधर सेन के दरबार में महाकवि भट्ट सभापण्डित थे जिन्होंने 'रावण-बध' अथवा 'भट्टिकाव्य' की रचना की। संस्कृत साहित्य के महारथी गुजरात निवासी माघ का आविर्भाव भी इसी युग में हुआ था। इनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल-बध' संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। यदि कालिदास अपनी उपमाओं, भारवि अर्थ गौरव, तथा दण्डिन् पदलालित्य के लिए विख्यात है तो माघ में ये तीनों गुण विद्यमान हैं। माघ के बाद काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये ग्यारहवीं

शताब्दी में हुए थे। उन्होंने अधिक वृहत् ग्रंथों की रचना की थी जिनमें 'बृहत्कथा मंजरी', 'दशावतार चरित' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

काश्मीर में ही बारहवीं शताब्दी में एक दूसरे सुप्रसिद्ध साहित्यकार हुए जिनका नाम मंखक था। ये काश्मीर नरेश जयसिंह के सभा-पंडित थे। मंखक का 'श्री कण्ट चरित' सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। संस्कृत साहित्य के जगमगाते रत्न श्री हर्ष का उदय बारहवीं शताब्दी में हुआ था। ये न केवल सफल कवि ही थे वरन् साथ ही साथ ये दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान भी थे। इनका सर्वश्रेष्ठ तथा संस्कृत साहित्य का उच्चकोटि का महाकाव्य 'नैषध चरित' है। 'खण्डन खण्ड खाद्य' इनका सुप्रसिद्ध दर्शनिक ग्रन्थ है। ये कन्नौज नरेश जयचन्द के सभा-पण्डित थे। पद्मगुप्त का नाम भी संस्कृत-साहित्य में गर्व के साथ लिया जा सकता है। इनका 'नवसाहसांक चरित' ग्यारहवीं शताब्दी की उत्कृष्ट रचनाओं में गिना जाता है। काश्मीर में दो और प्रमुख कवि हुए विल्हण और कल्हण। विल्हण ने 'विक्रम देव चरित' लिखकर न केवल संस्कृत साहित्य के कोष में अभिवृद्धि की प्रत्युत इन्होंने इतिहास के विद्यार्थियों के लिये भी कुछ सामग्री प्रस्तुत की है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के लिये भी यही वाक्य कहे जा सकते हैं। दोनों ही बारहवीं शताब्दी में हुए थे। सुप्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने तो 'कुमारपाल चरित' लिखकर दो भाषाओं पर अपना पूर्ण अधिकार रखने का परिचय दिया।

इस युग में कुछ सुप्रसिद्ध नाटककार भी हुए। इन नाटककारों ने संस्कृत साहित्य की वहुत बड़ी सेवायें कीं। कालिदास के बाद भवभूति को ही सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इनका 'उत्तर रामचरित' संस्कृत-साहित्य का उत्कृष्ट ग्रंथ है। इन्होंने दो अन्य नाटक 'महावीर चरित' तथा 'मालती माधव' लिखे। ये विदर्भ निवासी और कन्नौज नरेश यशोवर्मा के सभा-पण्डित थे। दूसरे प्रसिद्ध नाटककार भटनारायण थे। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेणी संहार' है। अन्य नाटककारों में मुरारि, जयदेव और राजशेषर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मुरारि का एकमात्र ग्रन्थ 'अनर्घ राघव' है। जयदेवने 'प्रसन्न राघव' की रचना की। राजशेखर ने छः ग्रन्थों की रचना की जिसमें 'वाल रामायण',' 'वाल-भारत', 'विद्वशाल भयञ्जिका' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राकृत में 'कर्पूर मंजरी' की रचना की।

महाकाव्य एवं नाटक के अतिरिक्त कथा-साहित्य की भी इस युग में विशेष प्रगति हुई। कथा साहित्य की परम्परा तो बहुत पहले से ही चली आ रही थी। पंच-तंत्र के आधार पर ही 'हितोपदेश' की रचना हुई। नारायण पण्डित ने इसकी रचना की थी। संस्कृत-कथा-साहित्य में 'वृहत्कथा' का भी ऊँचा स्थान है। गुणाढच इसका रचयिता था। इसके तीन संस्कृत अनुवाद प्राप्य हैं। पहला वुद्धस्वामी का 'वृहत्कथा श्लोक संग्रह' दूसरा क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथा मंजरी' तथा तीसरा सोमदेव का 'कथा सरित्सागर'।

इस युग में साहित्य के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में। इसी युग में काव्य-शास्त्र को पूर्णता प्राप्त हुई।

दर्शन-साहित्य—किन्तु केवल ललित-साहित्य के क्षेत्र तक ही इस युग की साहित्यिक प्रगति सीमित नहीं रही, दार्शनिक-साहित्य की भी इस समय काफी उन्नति हुई। दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य हुआ। यद्यपि इस युग के अधिकांश दर्शनग्रन्थ टीकाएँ हैं तथापि उनके रचयिताओं की मौलिक प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्म के दार्शनिकों ने अपने-अपने ज्ञान का प्रकाशन विद्वतापूर्ण ढंग से किया। विचाराधीन काल के प्रमुख नैयायिक हैं 'न्यायवर्तिक' के

रचयिता उद्योतकर (सातवीं शताब्दी के कुछ पूर्व), न्यायवर्त्तिक के सुप्रसिद्ध टीकाकार 'तात्पर्यटीका' के तथा 'न्याय सूची निबन्ध' के प्रणेता विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के महापण्डित वाचस्पति मिश्र (नवीं शताब्दी), चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त मतों के सुप्रसिद्ध खण्डनकर्ता एवं 'न्याय मंजरी' के रचयिता जयन्त भट्ट (नवीं शताब्दी), नैयायिक नरेश महापण्डित उदयनाचार्य (दसवीं शताब्दी) जिन्हें यह दावा था कि "जिस प्रकार जिस दिशा में सूर्य उदय होता है वही पूर्व दिशा कहलाती है उसी प्रकार उदयनाचार्य जो कुछ कहें वही सत्य है।" इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें 'तात्पर्य परिशुद्धि', 'लक्षणावली', 'बौद्धधिक्कार', 'न्याय कुसुमाञ्जलि' आदि प्रसिद्ध हैं। न्याय शाखा के दो अन्य आचार्यों का उल्लेख आवश्यक है । वे हैं 'न्याय सार' के प्रणेता भासर्वज्ञ (नवीं शताब्दी का अंतिम भाग) तथा बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होने वाले सुप्रसिद्ध दर्शन-ग्रन्थ 'तत्व-चिन्तामणि' के रचयिता गंगेश उपाध्याय।

कणाद् द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक दर्शन को आगे बढ़ाने के लिये इस युग में अनेक विद्वानों एवं दर्शन महारथियों ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया। इनमें 'व्योमवती' के रचयिता व्योम शिवाचार्य (दसवीं शताब्दी), पूर्व उल्लिखित उदयनाचार्य जिन्होंने वैशेषिक दर्शन का प्रसिद्ध टीका-ग्रन्थ 'किरणावली' की रचना की। श्रीधराचार्य (दसवीं शताब्दी) जिनका 'न्याय कन्दली' सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वैशेषिक सिद्धान्तों का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्याय लीलावती' के रचयिता वल्लभाचार्य (बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) तथा 'सप्तपदार्थी' के प्रणेता शिवादित्य मिश्र (बारहवीं शताब्दी) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की भाँति सांख्य एवं योग के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई। वास्चपति मिश्र ने भी सांख्य शास्त्र पर 'सांख्य तत्व कौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। दूसरे विद्वान् दार्शनिक थे गौड़पाद (सातवीं शताब्दी) जिन्होंने सांख्य-कारिका पर एक महत्वपूर्ण भाष्य 'गौड़ पाद भाष्य' की रचना की। योगदर्शन के क्षेत्र में कुछ आचार्यों ने कार्य किया। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न महापंडित वाचस्पति मिश्र ने इस क्षेत्र में भी कार्य किया है और उनका ग्रन्थ 'तत्ववैशारदी' प्राचीनतम योगसूत्र ग्रन्थ 'व्यासभाष्य' की सुन्दर टीका है। अन्य आचार्यों में 'योगवर्त्तिक' तथा 'योगसार-संग्रह' के रचयिता विज्ञान भिक्षु 'पातञ्जल रहस्य' के रचयिता राघवानन्द सरस्वती, 'राजमार्तण्ड' के रचयिता भोज, 'वृत्ति' के रचयिता भावा-गणेश, 'मणिप्रभा' के प्रणेता रामानन्द पति, 'योगचन्द्रिका' के लेखक अनन्त पंडित, 'त्याग-सुधाकर' के रचयिता सदाशिव सरस्वती, नागोजी भट्ट आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि इस युग में टीकाओं का ही बाहुल्य रहा। दर्शन साहित्य के इतिहास में इसे टीका काल कहें तो अनुचित न होगा।

इस युग में मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य हुआ। कुमारिल भट्ट को ही इस युग का स्तम्भ मानना चाहिये। ये शंकराचार्य जी के पूर्ववर्ती थे। इन्होंने बौद्ध धर्म को दबाकर हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में बड़ा योग दिया। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'श्लोक वार्त्तिक', 'तंत्र वार्त्तिक' 'टुप्टिका' आदि। इनके शिष्यों में मण्डन मिश्र (आठवीं शताब्दी) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'विधि विवेक', 'भावना-विवेक', 'विभ्रम-विवेक' आदि की रचना की। उम्बेक दूसरे महत्वपूर्ण शिष्य थे। इन्होंने कई सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की टीकाएँ कीं जिनमें 'श्लोक वार्त्तिक' की 'तात्पर्य टीका' अधिक प्रसिद्ध

है। भट्ट सिद्धान्त के पोषकों एवं उनके टीकाकारों में पार्थ सारथि मिश्र, माधवाचार्य तथा खण्डदेव अधिक विख्यात हैं। मीमांसा दर्शन में नवप्राण फूकने वालों में श्री प्रभाकर मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि ये कुमारिल भट्ट को अपना गुरु मानते थे। इनकी अद्वितीय प्रतिभा से प्रभावित होकर ही कुमारिल भट्ट ने इन्हें 'गुरु' की उपाधि प्रदान की थी और तब से इनका मत 'गुरुमत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कुछ लोग इन्हें कुमारिल का पूर्ववर्ती मानते हैं। सातवीं शताब्दी इनका समय माना जाता है। गुरुमत के आचार्यों में शालिकनाथ, भवनाथ, मुरारि मिश्र, नन्दीश्वर आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

भारतीय दर्शन को विश्व में गौरव प्रदान करने का श्रेय वेदान्त दर्शन को ही दिया जा सकता है। वेदान्त दर्शन का सूत्रपात बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था और महर्षि वादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना करके इसकी प्रतिष्ठा की थी। विचाराधीन काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया। निम्नलिखित आचार्य प्रमुख थे :—

	नाम	भाष्य	मत
१.	शंकराचार्य (७८८-८२० ई०	शारीरिक भाष्य	अद्वैत
२.	भास्कर (१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३.	रामानुज (११४० ई०)	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४.	आनन्दतीर्थ (१३३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैत
५.	निम्बार्क (१२५० ई०)	वेदान्त पारिंजात	द्वैताद्वैत

उपयोगी साहित्य

कोश—ललित-साहित्य के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में पूर्व मध्यकाल में पर्याप्त कार्य हुआ था। संस्कृत-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाला लगभग आठवीं शताब्दी में विक्रम की सभा के नवरत्न अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोश सम्भवतः अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है। तत्पश्चात् पुरुषोत्तम देव ने 'त्रिकाण्ड शेष' और 'हरावली' नामक शब्द कोषों की रचना की। इनके अतिरिक्त कोसकारों में 'अनेकार्थ समुच्चय' रचयिता शाश्वत, 'अभियान रत्नमाला' के प्रणे ता हलयुध, 'वैजयन्ती' के रचयिता यादव प्रकाश तथा 'अभियान चिन्तामणि और 'देवी नाममाला' के लेखक हेमचन्द्र अधिक विख्यात हैं।

व्याकरण—विचाराधीन काल में कुछ वैयाकरणों ने मौलिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना की। जयादित्य और वाणन ने ६६२ ई० के निकट पाणिनि की अष्टाध्यायी की टीका 'काशिका वृक्ष' लिखी और उक्त टीका की बौद्ध पण्डित जितेन्द्र बुद्धि ने 'न्याय' के नाम से टीका लिखी। एक अन्य बौद्ध विद्वान शरण देव ने ११७२ ई० में 'दुर्घटवृत्ति' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। बौद्ध भिक्षु काश्यप ने 'बालावतोधन' नाम से १२०० ई० में एक ग्रन्थ लिखा। इस ओर बौद्धों के अतिरिक्त जैनियों ने भी उत्साह प्रदर्शित किया। जिनेन्द्र ने 'जिनेन्द्र व्याकरण', शाकटायन ने 'शाकटायन व्याकरण' ११५० ई० में क्रमदीश्वर ने 'संक्षिप्त सार' और १२५० ई० में बोपदेव ने 'मुग्धबोध' व्याकरण लिखा। संस्कृत व्याकरणों के अतिरिक्त प्राकृतिक भाषा

के भी व्याकरण विचाराधीन युग में लिखे गए जिनमें चण्ड का 'प्राकृतिक लक्षण', जैनाचार्य हेमचन्द्र का 'उणादि सूत्र वृत्ति' और लक्ष्मणधर का 'शम्भुवहस्य' आदि उल्लेखनीय हैं।

आयुर्वेद—चरक की 'चरक संहिता' इस विद्या का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसकी टीका विचाराधीन युग में लगभग ८०० ई० में अरबी भाषा में हुई। सुश्रुत द्वारा विरचित 'सुश्रुत संहिता' की प्रसिद्धि नवीं शताब्दी में कम्बोडिया से लेकर अरब तक फैली थी। चक्रपाणि दत्त ने उक्त ग्रंथ की ११वीं शताब्दी में टीका लिखी। वृद्ध सग्भट्ट ने 'अष्टांग हृदय' और 'अष्टाग हृदय संहिता' दो ग्रन्थों की रचना की। माधवकर ने आठवीं तथा नवीं शताब्दी में 'रुग्विनिश्चय' का प्रणयन किया जो 'माधवनिदान' के नाम से विख्यात है। 'सिद्धियोग' या 'वृन्दमाधव' के प्रणेता वृन्द का भी उदय इसी काल में हुआ था जो निदान का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। सन् १०६० ई० में चक्रपाणिदत्त ने 'चरक' और 'सुश्रुत' पर टीका लिखी और 'चिकित्सासार संग्रह' नामक एक मौलिक रचना भी की। १२०० ई० के निकट 'शारंगधर संहिता' और १२२४ ई० में मिल्हण ने 'चिकित्सामृत' की रचना की। वोपदेव ने इस ग्रन्थ की टीका लिखी। ७ वीं या ८ वीं शताब्दी में नागार्जुन ने 'रस रत्नाकर' लिखा। इसी काल में लगभग १२०० ई० में 'रसार्णव' रचा गया। नित्यनाथ ने 'रस रत्नाकर', राम चन्द्र ने 'रसेन्द्र चिन्तामणि' १०७५ ई० में, सुरेश्वर ने 'शब्द प्रलपि' की रचना की। मदनपाल ने 'मदन निवण्टु' लिखा।

इन शास्त्रों के अतिरिक्त रत्नशास्त्र, चौर्य शास्त्र, धातु विज्ञान, भवन-निर्माण-शास्त्र, शिल्प शास्त्र आदि में भी ग्रन्थ विचाराधीन युग में लिखे गये। विमान बनाने की कला पर राजा भोज का 'समरांगण सूत्रधार' नामक ग्रन्थ पाया जाता है। 'विमान विद्या' और 'विमान लक्षण' नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी उपलब्धि होती है। मूर्ति-निर्माण-कला में भी कई ग्रन्थ पाये गये हैं जिनमें तत्सम्बन्धी कला पर प्रकाश डाला गया है। नौ शास्त्र नौ-निर्माण-कला को स्पष्ट करता है।

गणित—गणित शास्त्र में भी भारत बढ़ा हुआ था और इसी ने पाश्चात्य देशों को गणित सम्बन्धी विशेष बातें बताईं। अंक क्रम का विकास जिसे दशमलव पद्धति कहते हैं हमारे आचार्यों के मस्तिष्क की वस्तु है। सर्व प्रथम यह पद्धति हमारे यहाँ से उत्पन्न हुई। गणित शास्त्र के अनेक विभागों—अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, चलनगणित, स्थिति शास्त्र (स्टैटिस्टिक्स) तथा गणित शास्त्र (डायनिमिक्स) में हमारे विद्वान पारंगत थे।

ज्योतिषशास्त्र—प्राचीन युग में ज्योतिष शास्त्र में भी खूब प्रगति हुई थी। आर्य भट्ट ने विचाराधीन काल के पहले दो ज्योतिष ग्रन्थों की रचना की थी। उनके बाद वराहमिहिर का नाम आता है जिसने 'पंचसिद्धान्तिका', 'वृहत्संहिता' और 'वृहज्जातक' तीन ग्रन्थों की रचना कर ज्योतिष शास्त्र में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० के लगभग 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' तथा ६६५ ई० में 'खण्डखाधक' का प्रणयन किया। उसने पृथ्वी के घूमने का सिद्धान्त निकाला जिसे योरप के विद्वानों ने बहुत समय पश्चात् मालूम किया। १०५० ई० में भोज ने 'राजमृगांग', शलानन्द ने 'भारवती' और ब्रह्मदेव ने 'करण प्रकाश' लिखा। भास्कराचार्य का उदय इस काल के अन्तिम दिनों में हुआ। आपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की जो ज्योतिष शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

फलित ज्योतिष—वराह मिहिर ने 'वृहसंहिता' और वृहज्जातक' नामक दो ग्रन्थों की रचना की।

धर्म साहित्य—प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि तथा टीकाकार विज्ञानेश्वर ने 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्य स्मृति' की टीका इसी युग में की। विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' तथा जीमूतवाहन का 'दायभाग' इसी युग की देन है। इनके अतिरिक्त असहाय, विश्वरूप, धारेश्वर, भावदेवभट्ट, देवनभट्ट, आदि प्रकाण्ड विद्वानों का आविर्भाव इसी युग में हुआ जिन्होंने अपनी टीकाओं और भाष्यों द्वारा धर्म-साहित्य के कोष को बढ़ाया।

शिक्षा—विचाराधीन युग में शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया गया था। वैदिक काल का शिक्षा प्रबन्ध आगे चलकर परिवर्तित हो गया। बौद्ध काल में विहारों और मठों में ही शिक्षा का प्रबन्ध था। धीरे-धीरे इन मठों ने शिक्षा संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। इन संस्थाओं में प्राकृत भाषा के बदले संस्कृत का पूर्ण प्रचलन हुआ। प्रारम्भिक पाठशालाओं में हिन्दी को स्थान मिल गया परन्तु संस्कृत की प्रधानता पूर्ववत् बनी रही। साहित्य में संस्कृत को स्थान मिल ही चुका था। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों की प्रधानता इसी युग में हुई थी। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी जहाँ ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, दर्शन आदि विषय पढ़ाये जाते थे। इन विश्वविद्यालयों में चीन, पूर्वी द्वीप समूह, लंका, तिब्बत आदि दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी अध्ययन के हेतु आते थे। इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के रहने, भोजन, कपड़ा आदि की व्यवस्था होती थी जिसका खर्च राजाओं और धनिकों के विद्यालयों को दिये दानों से चलता था। इन विद्यालयों से निकलने पर विद्यार्थियों की सर्व साधारण में बड़ी प्रतिष्ठा की जाती थी। उदत्तपुरी का विश्वविद्यालय भी इसी युग में स्थापित था।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षाएँ भी दी जाती थीं। आयुर्वेद के अन्यान्य विषयों का अध्ययन प्रायोगिक ढंग से किया जाता था। अनेकानेक चिकित्साओं का अन्वेषण प्रयोग कर के लिया जाता था। अध्यापक विद्यार्थियों को इन चिकित्साओं का ज्ञान प्रायोगिक ढंग पर ही सिखलाया करते थे। चीर-फाड़ की शिक्षा भी इस युग में उन्नति पर थी। अरब वालों ने यह विद्या हमारे यहाँ से सीखी। युद्ध-शिक्षा, व्यायाम शिक्षा आदि का भी अध्ययन प्रायोगिक ढंग पर किया जाता था। इस प्रकार शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में स्थिति सन्तोषजनक थी। शिक्षा का प्रबन्ध उत्तम था।

पूर्व मध्यकालीन कला

भारतीय कला के इतिहास में गुप्तकालीन कला महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके पश्चात् पूर्व मध्य कालीन कला का आविर्भाव होता है। यह कला भी भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

गुफा कला—गुफा-निर्माण की जो नई शैली इस युग में प्रचलित हुई वह पहाड़ियों को काटकर मठ अथवा चैत्य का निर्माण था। इस ढंग में इमारतों में ही बड़ी-बड़ी मूर्तियों की स्थापना की जाती थीं। अलग इसका कोई प्रबन्ध नहीं होता था। यह कला इसी काल में उत्तरोत्तर प्रगति करती गई जिसकी तीन श्रेणियाँ हो सकती हैं। (१) एलौरा विधि, (२) एलीफेंटा विधि और (३) पल्लव विधि। एलौरा विधि में खोदकर एक कमरा निर्माण किया जाता था और उसमें ब्राह्मण तथा जैन मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इस गुफा में एक बरामदा बना होता था जिसके अन्त में

एक कोठरी निर्मित होती थी। एलीफेंटा-गुफा में शिव की प्रतिमाएँ चट्टान को काटकर गुफा के साथ ही बनाई जाती हैं।

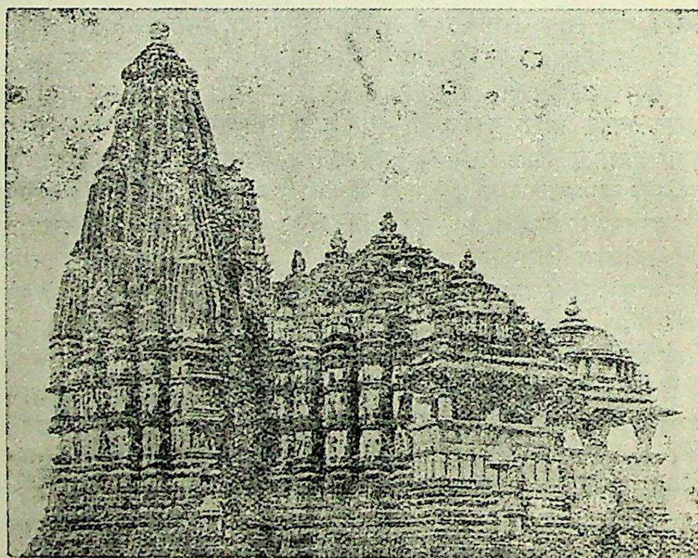
दक्षिण भारत की वास्तुकला उत्तरी भारत की वास्तुकला से भिन्न है। इस भिन्नता के आधार पर दक्षिण की वास्तुकला को द्रविड़ शैली और उत्तरी भारत की शैली को आर्य शैली के नाम से पुकारा गया।

द्रविड़ शैली—इस शैली में बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर एक ही पत्थर से गुफा तैयार की जाती थी। इसके उदाहरण अजन्ता, एलौरा और एलीफेंटा में देखने को मिलते हैं। इन गुफाओं के उन्नत रूप को मन्दिर कहा जाता है। यद्यपि मन्दिरों के परिवर्तन से तत्कालीन गुफा निर्माण का कोई तादात्म्य स्पष्ट रूप से नहीं देख पड़ता किन्तु पल्लव शैली द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है और उक्त वस्तु की प्रविष्टि हो जाती है।

आर्य शैली—उत्तरी भारत में गुफाओं का प्रारम्भ से ही अभाव-सा रहा। इसी कारण वहाँ की वास्तुकला की प्रगति में गुफा-निर्माण कला को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। यहाँ स्तूप और मठों तथा विहारों की ही प्रधानता रही। आर्य शैली के मन्दिरों की विशेषता यह थी कि यहाँ के मन्दिरों के शिखर विकसित रूप में होते थे। इस शैली का उद्भव स्तूपों से हुआ। ये स्तूप एक ऊँचे चबूतरे पर अवशिष्ट किये जाते थे और उनका आकार गुम्बज की भाँति होता था। गुम्बज के सिरे पर एक वर्गाकार प्रस्तर लगा होता था जिसे हरमिका कहते थे। उसका ऊपरी भाग छत्र कहलाता था। स्तूपों का यही रूप इस युग में मन्दिर के आकार में आ गया। ये मन्दिर दक्षिण भारत की भाँति प्रस्तरों से निर्मित नहीं होते थे। अपितु ईंट तथा प्रस्तर के टुकड़ों से बनते थे जिसके उदाहरण भितरगाँव तथा नालन्दा के मन्दिर हैं। तत्कालीन मन्दिरों को मुसलमान आक्रमणों ने विनष्ट कर उन्हीं ईंटों द्वारा मस्जिदों का निर्माण करा दिया जिससे वे अधिक संख्या में आज प्राप्त नहीं होते। पहाड़पुर में दसवीं शताब्दी तक ईंटों के बने स्तूप प्राप्त हुये हैं। इस काल में स्तूपों की रचना ईंटों के अतिरिक्त काँसे और पक्की मिट्टी द्वारा भी होती थी। मूर्ति पूजा का प्रचलन इस काल में अधिक था। इसी कारण मन्दिरों का निर्माण खूब हुआ। इन मन्दिरों को नगर या आर्य शैली के कहते हैं। इन मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर होते थे जो ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते थे। इसके उदाहरण खजुराहो का मन्दिर, उड़ीसा का मन्दिर, काँगड़ा का बैजनाथ मन्दिर, कुल्लू का विश्वेश्वर मन्दिर, राजपूताना का वैष्णव मन्दिर तथा बंगाल के अनेक मन्दिर हैं। पूर्व मध्यकाल में प्रारम्भ में जिस प्रकार मन्दिरों का निर्माण हुआ, उसकी प्रगति धीरे-धीरे होती रही, इससे शैली में बारीकी आती गई।

उड़ीसा शैली—इसको आर्य तथा द्राविड़ शैली की मिली-जुली शैली कहना उचित होगा। यह शैली भुवनेश्वर के नाम से प्रख्यात है। उड़ीसा की राजधानी होने के कारण भुवनेश्वर पूर्व मध्यकाल में उतना ही प्रसिद्ध हो गया जितना प्राचीन काल में काशी था। भुवनेश्वर में यात्रियों ने बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया जिन्हें आज भी देखा जा सकता है। इन मन्दिरों की विशेषता शिखर-निर्माण में थी। शिखर के अन्तिम सिरे पर शेर की आकृति बनी होती है और उसके बाद आमलक का बड़ी सा पत्थर चक्र की भाँति बना रहता है। इन मन्दिरों में अलंकारिता का विशेष ध्यान दिया जाता है। यहाँ के मन्दिर विशाल होते हैं। इनमें लिंगराज नामक मन्दिर प्रधान माना जाता है।

खजुराहो शैली—चन्देल राजाओं की राजधानी होने के कारण खजुराहो का महत्व कला के क्षेत्र में काफी बढ़ गया। उड़ीसा के बाद इसी शैली की प्रधानता रही। यहाँ पर शैव, वैष्णव और जैन लोगों ने मन्दिर निर्माण में काफी उत्साह दिखलाया। कण्डरिया महादेव का हिन्दू मन्दिर गहरा खोदकर बनाया गया था। इसमें तीन स्तम्भ-युक्त कमरे हैं। सभी कमरों पर वृत्ताकार गुम्बज निर्मित हैं जिनके भीतरी भाग में कमल बना है। शिखर सबसे ऊपरी भाग में है जो कलश के स्थान पर सुन्दर प्रस्तरों से विभूषित है। गर्भगृह के ऊपर चौकोन शिखर का निर्माण है जो आर्य शैली के आधार पर बना है। इसमें मध्य शिखर के नीचे शिखराकार गुम्बज प्रधान शिखर के चारों ओर बने हैं। ये शिखर पच्चीकारी द्वारा विशेष अलंकृत बना दिये गये हैं। इस शैली के उदाहरण चतुर्भुज वैष्णव तथा आदिनाथ के जैन मन्दिर हैं। ये मन्दिर बहुत ऊँचे नहीं हैं। इन मन्दिरों में हवा तथा रोशनी का समुचित प्रबन्ध किया गया है। दीवालों में ताख निर्मित होते थे जिनमें मूर्तियाँ स्थिर की जाती थीं।



चित्र १६—खचुराहो का मन्दिर

भवन निर्माण—पूर्व मध्यकाल में धर्म के पुनीत क्षेत्र के अतिरिक्त लोगों का ध्यान भवन-निर्माण की ओर भी कम न रहा। मठ, शिक्षालय भवन आदि का निर्माण कला के दृष्टिकोण से बहुत उत्तम कोटि का था। मकान कई मंजिल के बनते थे। तत्कालीन एलौरा का मठ आज भी उस काल की कला को प्रदर्शित कर रहा है। नालन्दा का विश्वविद्यालय इसी काल की वस्तु है। आधुनिक खुदाइयों से नालन्दा के भवनों का भान होता है। ये भवन कई मंजिल के होते थे और इनकी संख्या तथा आकार भी बहुत बड़ा था। यहाँ विद्यार्थियों के पढ़ने, रहने तथा सोने कि सुन्दर भवन का निर्माण हुआ था।

तक्षण कला—इस कला का प्रादुर्भाव-काल बहुत प्राचीन है। गुप्तकाल में यह कला अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गई थी। इसी काल में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर पूर्व मध्यकाल में इसका विकास हुआ। इस काल में तान्त्रिक मतों का काफी प्रचार हुआ जिससे उसका प्रभाव तत्कालीन कला पर पड़ा। बौद्ध तथा हिन्दू प्रतिमाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा। छठीं शताब्दी में प्रतिमाओं का जो रूप था उसमें इस काल तक आते-आते गोलापन का आकार प्रवेश कर गया। इनमें कोमलता के साथ-साथ महापुरुषों का लक्षण भी आने लगा।

इस काल में स्थान और समय के अनुसार कई शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। बिहार, बंगाल, राजपूताना, गुजरात, उड़ीसा आदि स्थानों पर भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न शैलियों का जन्म हुआ। पश्चिमी भारत में पश्चिमी शैली का उद्‌भव हुआ जिनमें गुजराती और राजपूत दो स्कूल आते हैं। गुजराती स्कूल में प्रतिमाओं का स्वरूप नवीन हो गया। शरीर तथा अंग को धनुषाकार में निर्मित करना इसी स्कूल की विशेषता है। राजपूत स्कूल में प्राचीनता लिये हुये प्रतिमाओं का सृजन हुआ जिनमें यौवन का प्रस्फुटन रहता था। इसके अतिरिक्त चन्देल तथा हैहय स्कूलों का समावेश होता है जिनमें मनोविज्ञान का प्राधान्य है। इसमें आकृतियों का स्वाभाविक गुण समाविष्ट होता है। मनुष्य की मूर्ति के साथ-साथ पशुओं की भी आकृतियाँ इस स्कूल में बनीं। उत्तरी भारत में सारनाथ शैली की प्रतिमाएँ आती हैं जिनमें चुनार प्रस्तर प्रयुक्त होते थे। बिहार और बंगाल में राष्ट्रीय भावना की संकीर्णता ने एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसे पूर्व भारतीय शैली या पाल स्कूल कहते हैं।

मूर्ति-निर्माण—मूर्ति-निर्माण-कला की प्रगति इस युग में खूब हुई। शाक्त मत के प्रचार से शक्तियों का रूप मूर्तियों में ले लिया गया और इस प्रकार मूर्ति के निर्माण की एक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ। लोगों ने चित्त एकाग्रता का एकमात्र साधन मूर्त्तियों को ही माना तथा इन शक्तियों जैसे सूर्य, विष्णु, शिव, बुद्ध आदि को विभिन्नावस्था की मुद्रायें अनेक मुख अथवा अनेक हाथों के साथ सुसज्जित किया। विचाराधीन काल में मूर्तियों की कुछ अपनी विशेषतायें थीं जिनसे विभूषित होना उनके लिये वांछनीय था। प्रथम तो उनको मन्दिरों की दीवालों में निर्मित ताखों में नियमित रूप से रखा जाता था और दूसरे प्रतिमाओं के कई हाथ और मुँह बनाये जाते थे। कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी होतीं थीं जिनके कई हाथ न दिखला कर कुछ विशेष चिन्हों (शंख, चक्र, गदा, पद्म) की आकृतियाँ बना दी जाती थीं।

सूर्य की प्रतिमा यद्यपि गुप्त काल से ही बननी प्रारम्भ ही गई थी किन्तु इस युग में इसकी बनावट में परिवर्तन आ गया। इस मूर्ति में उंडी यथा पिंगल दो मूर्तियों के साथ ऊषा तथा प्रत्यूषा नामक देवियाँ भी जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार का उदाहरण मध्य भारत में प्राप्त हुआ है। ऐसा ही कोणार्क का विशाल सूर्य-मन्दिर उड़ीसा में तैयार किया गया था। विष्णु प्रतिमा इस काल में बहुत संख्या में प्राप्त होती हैं। विष्णु के चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ मिलती हैं जो खड़ी तथा कमलासन पर बैठी दोनों अवस्थाओं में हैं। बलराम, वराह, वामन, मत्स्य, नरसिंह आदि की मूर्तियाँ अलग अलग तथा एक साथ मिलती हैं। ११वीं शताब्दी के हैहय शासन-काल की बनी स्तम्भ पर विष्णु की अनेक अवतारों की प्रतिमाएँ मिली हैं, जिससे मत्स्य, बुद्ध, वामन, कल्कि की प्रतिमाएँ एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। एक अन्य स्तम्भ पर कूर्म, बाराह और नरसिंह की मूर्तियाँ हैं। बंगाल में विष्णु की मूर्त्ति ललितासन में गरुड़ के साथ निर्मित मिली हैं। विष्णु मूर्त्ति में आयुधों (शंख, चक्र, गदा और पद्म) का भी अंकन पाया

जाता है। कहीं-कहीं विष्णु और ब्रह्मा की सम्मिलित प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। विष्णु मूर्ति में चतुर्भुजी रूप ही प्रायः प्रदर्शित किया गया है।

विष्णु के साथ शाक्त मतानुसार शिव की लिंग-पूजा का भी विचाराधीन युग में अधिक प्रचार रहा। अस्तु एक मुख अथवा चतुर्भुज लिंग की मूर्तियाँ शिव के आकार को प्रकट करने के लिए निर्मित हुई। शिव की नृत्यमूर्ति, सदाशिव, उमा महेश्वर, कल्याण सुन्दर तथा अघोर रुद्र की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। पाल शैली में अर्धनारीश्वर की शिव-मूर्ति को सौन्दर्य में स्थान दिया गया है। इस कारण शिव पार्वती की सम्मिलित प्रतिमा का प्रचार इस युग में खूब रहा। दसवीं शताब्दी के हैहय मन्दिर में एक ऐसी ही प्रतिमा मिली है। शिव के अतिरिक्त गणेश और कार्त्तिकेय की भी पूजा इस युग में होती थी। इस कारण इनकी भी मूर्तियाँ अधिक संख्या में निर्मित हुई।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिली हैं जिनके साथ यक्ष तथा यक्षिणी समाविष्ट किए गए हैं। प्रधान मूर्त्ति को २३ मूर्त्तियों के बीच में बनाया गया है। चेदि राज्य में इस धर्म की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जो उनकी आराध्य शक्तियाँ हैं। बौद्ध धर्म में महायान तथा वज्रयान शाखाओं में तारा, अवलोकितेश्वर, बोधिसत्व,लोकेश्वर, जम्भल, हेव्रज आदि शक्ति प्रतिमाएँ मिलती हैं। कारण यह था कि बौद्ध-धर्म पर हिन्दू मूर्त्ति-पूजा का इतना पर्याप्त प्रभाव पड़ा कि बौद्धों की शक्तियाँ देवी-देवताओं के नाम से पुकारी जाने लगीं और फिर उन्हें प्रतिमा के रूप में सृजित कर दिया गया। इन प्रतिमाओं का सृजन प्रस्तरों के अतिरिक्त काँस्य, ताम्र आदि धातुओं से भी हुआ जिसके प्रमाण में कई मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं। मिट्टी की मूर्त्तियों का भी बाहुल्य है।

संगीत तथा चित्रकला—तत्कालीन प्रतिमाओं के दिग्दर्शन से उस काल की संगीत कला का स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक हो जाता है। पाल शैली में पालयुग की निर्मित शिव की धातु प्रतिमा मिली है। जिसमें शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। पहाड़पुर की खुदाई में नाचती हुई स्त्री की मिट्टी की प्रतिमा मिली है जिससे नृत्य कला का ज्ञान होता है। मूर्त्तियों के साथ बने मृदंग, एकतारा, झाल, बाँसुरी आदि वादनों द्वारा वादन कला का ज्ञान होता है। सामाजिक उत्सवों पर संगीत का भी आयोजन होता था। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में नृत्य, वादन और गायन तीनों का प्रचार रहा।

चित्रकला का क्षेत्र भी विचाराधीन युग में उन्नतावस्था में था। गुप्त कालीन अजन्ता की चित्रकारी इस युग में भी चलती रही। जिसके अनुसार मन्दिरों की दीवालों को भित्ति चित्रों से सजाया जाता है। आठवीं शताब्दी में इन भित्ति चित्रों के स्थान पर छोटी आकृतियाँ निर्मित हुई जिनका प्रयोग हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन में होता था। इनका चलन पाल शैली में खूब हुआ। ताड़ के पत्तों पर भी इस युग में चित्र बने। इनमें 'प्रज्ञापारमिता' मुख्य माना जाता है। तत्कालीन चित्रों का निर्माण देवताओं की आकृतियों पर हुआ। पहले काले रंग से इन चित्रों का आकार खींच लिया जाता था, तत्पश्चात् लाल, नीले, हरे, पीले आदि रंगों से भर दिया जाता था। खाली स्थान को पत्र-पुष्पों से चित्रित कर दिया जाता था। चित्रों के मध्य में प्रधान देवता की रचना होती थी और चारों ओर अन्य आकृतियाँ बनाई जाती थीं।

इस प्रकार इस युग में चित्रों की खूब अभिवृद्धि हुई। हस्तलिखित पुस्तकों के बीच-बीच में कलाकार चित्रकला का भी निर्देशन कर अपनी कलात्मकता का परिचय दे देता था।

लेकिन वस्तुतः इस काल में कलाओं का ह्रास हो रहा था। देश युद्धों से आक्रान्त होने के कारण, शान्तिकालीन रुचियों की ओर से विमुख होता जा रहा था। गुप्तकाल की सर्वोच्च प्रतिभा की झलक का सर्वतोमुखी ह्रास हो रहा था। न तो भारत अब गुप्तकाल जैसी केन्द्रीयकरण की छाया में पल रहा था और न ही गुप्त सम्राटों जैसी योग्यता का इनमें प्राबल्य था। स्वार्थ और स्थानीय हित का चारों ओर बोलबाला था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का कथन सर्वतः दृष्टिगोचर हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में कभी भी कला का विकास सम्भव नहीं होता। देश के अधोमुख की ओर अग्रसर होने का यही एकमात्र कारण था। इन्हीं अवस्थाओं ने ही विदेशियों को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। देश की निर्बलता का विदेशी सदैव लाभ उठाते हैं। मुसलमानों का आक्रमण इसी काल में होना अनिवार्य हो गया था। इन लोगों ने धनधान्य-सम्पन्न भारतमाता को अपने भयानक आक्रमणों से रौंद डाला था। देश की भव्य इमारतों को तोड़-फोड़ कर उन्हें भग्नावशेषों के रूप में उपस्थित करने वाले यही विदेशी आक्रान्ता थे। न जाने कितनी हमारी प्राचीन भारतीय कलाएँ अपना गौरव पृथ्वी के गर्भ में विलीन कर गईं। देश को सबसे बड़ी शिक्षा दी है इन आक्रमणकारियों ने। आधुनिक भारत का इतिहास इस बात से सदैव प्रेरणा लेता रहेगा। इन विदेशी आक्रान्ताओं का इतिहास हम अगले खंड में अध्ययन करेंगे।

प्रश्न

१. पूर्व मध्यकाल से आप क्या अर्थ समझते हैं? भारतीय इतिहास में इस युग का क्या महत्व है?

२. पूर्व मध्यकालीन भारत के राजनीतिक संगठन पर प्रकाश डालिये।

३. राजपूतकालीन समाज का चित्रण कीजिये।

४. राजपूतकालीन सभ्यता एवं संस्कृति पर प्रकाश डालिये।

